भारत

आदिम साम्यवाद से दासप्रथा तक का इतिहास

श्रीपाद अमृत डांगे

श्रीपाद अमृत डांगे

भारत

आदिम साम्यवाद से दास-प्रथा तक का इतिहास

प्राचीन इतिहास की मार्क्सवादी रूपरेखा

★

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
आसफअली रोड, नई दिल्ली – १

ताई को

जो सुख-दुख की सभी घड़ियों में
हमेशा मेरे साथ रही है

विषय-सूची

तीसरे संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का पहला हिन्दी संस्करण सन १९५२ में प्रकाशित हुआ था। तब से इस रचना की अनेक मान्यताओं के विषय में बहुत से प्रश्न किये गये हैं। यहां पर हम उन सभी प्रश्नों का उत्तर तो नहीं दे सकते, क्योंकि उसके लिए एक विस्तृत विवाद की आवश्यकता है। लेकिन उनमें से कुछ प्रश्नों का उल्लेख किया जा सकता है और उनके उत्तर अत्यंत संक्षिप्त रूप में दिये जा सकते हैं।

कुछ लोगों ने यह प्रश्न किया है कि जिन लोगों का वर्णन हमें वेद साहित्य में मिलता है, क्या वे किसी खास नस्ल के थे जिसको आर्य नस्ल कहा जाता है; और क्या उन लोगों ने किन्हीं दूसरे लोगों के द्वारा अधिकृत प्रदेश पर आक्रमण किया था ? यदि ऐसा हुआ था, तो वे दूसरे लोग कौन थे ?

हमारे समय के इतिहास साहित्य में सामान्य रूप से उन लोगों का आर्य कहकर ही वर्णन किया जाता है, जिनका उल्लेख हम वेद साहित्य में पाते हैं, यानी जो उस साहित्य के निर्माता हैं। एंगेल्स ने उनका उल्लेख हिन्द-योरोपीय और आर्य दोनों नामों से किया है। नाम के विषय में कोई भी मतांधता नहीं होनी चाहिए। मुख्य प्रश्न उनके उन सामाजिक रूप निर्माणों एवं उनके विकास-क्रमों के विषय में है, जिन्हें हम वैदिक तथा अन्य प्रलेखों के द्वारा जान सकते हैं।

वेद साहित्य में हमें दो तरह के युद्धों का उल्लेख मिलता है। उनमें से कुछ युद्ध एक ही जाति के कबीलों और **गणों** के बीच हुए थे और कुछ हिन्द-योरोपीय अथवा आर्य कबीलों तथा उनसे बिलकुल भिन्न जाति के कबीलों, जैसे निषादों एवं नागों के बीच हुए थे। कुछ युद्धप्रिय कबीलों में समान रूप से **यज्ञ** की संस्था थी जब कि कुछ कबीलों में यह संस्था नहीं थी और वे एक-दूसरे से पृथक भाव से रहते थे।

इसलिए सभी युद्धों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे दूसरों के द्वारा अधिकृत प्रदेश पर "बाह्य आक्रमण" थे।

"बाह्य आक्रमण" का प्रश्न योरप के अनेक इतिहासकारों की इस उक्ति से सम्बंधित है कि आर्य "भारत के बाहर" से आये थे और उन्होंने पूरे भारत में बसे हुए द्रविड़ों को आक्रमण द्वारा पराजित कर दक्षिण की ओर भगा दिया था।

मेरे खयाल से समस्या इतनी सरल नहीं है। अभी तक इस बात को हम स्पष्ट रूप से नहीं जान सके हैं कि "बाह्य (विदेशी) आर्यों" के आने से पहले भारत पर द्रविड़ों का अधिकार था। अभी तक हम यह भी नहीं जान सके हैं कि क्या मोहेंजोदाड़ो एवं हड़प्पा की सभ्यताएं द्रविड़ों का प्रतिनिधित्व करती थीं और क्या आर्यों ने उस पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया था ?

ब्रिटेन के इतिहासकारों ने हमें अनेक समस्याओं के विषय में गुमराह किया है, इसलिए इस समस्या के समाधान के लिए हमें सावधानी से खोज करना चाहिए।

उदाहरण के तौर यह भी कहा जाता है कि द्रविड़ों के पहले भारत में मुंडा मोंखमेर लोग रहते थे जिनको द्रविड़ों ने पूर्व की ओर भगा दिया था।

इन मतों के विषय में मैं कोई अन्तिम रूप से निश्चित राय नहीं रखता। इस समय मैं इन लोगों के सामाजिक रूपों के विकास की ओर अधिक ध्यान देना चाहता हूं—चाहे वे आर्य, द्रविड़ या मुंडा मोंखमेर रहे हों। यह तो निश्चित है कि सामाजिक रूपों के इस विकास में युद्धों और वाह्य आक्रमणों की मुख्य भूमिका थी।

यह प्रश्न भी किया गया है कि जिस समय आर्यों के साथ द्रविड़ युद्ध कर रहे थे, क्या उस समय उनकी सभ्यता आर्यों से श्रेष्ठ थी या हीन थी ? क्या वे आदिम साम्यवादी युग से निकलकर दास व्यवस्था की उन्नत अवस्था तक पहुंच गये थे ?

कुछ उपादेय सामग्री इस बात की सूचक है कि द्रविड़ मूलजाति (यदि हम इस शब्द-समूह का प्रयोग सामान्य रूप से समझे जानेवाले अर्थ में करें) दास व्यवस्था के सामाजिक विकास-क्रम तक आ गयी थी। लेकिन इस विषय में निश्चित रूप से निर्णय देने में वर्तमान द्रविड़ साहित्य अपर्याप्त है।

सामाजिक विकास के क्रमों और भारतीय इतिहास में उनकी अवधि के विषय में भी प्रश्न किये गये हैं।

काल-अवधि के बारे में जो आलोचना पूंजीवादी इतिहासकारों ने की है, उसके विषय में मैं ध्यान देने नहीं जा रहा हूं क्योंकि वे मार्क्स द्वारा आविष्कृत इतिहास के नियमों को अस्वीकार करते हैं। इसलिए इस विषय में मैं केवल मार्क्सवादी पाठकों द्वारा उठाये गये प्रश्नों पर ही विचार करना चाहता हूं।

किस समय आदिम साम्यवादी व्यवस्था का अन्त हुआ और दासता की व्यवस्था का आरम्भ हुआ ? यदि इस अवधि को वर्षों में व्यक्त करना असंभव है, तो क्या यह संभव है कि इसे धार्मिक साहित्य की साक्ष्य सामग्री अथवा घटनाओं से इंगित किया जा सके ?

इस समय जिस रूप में हमें वेद साहित्य मिलता है, उसमें जांगल, वर्बर और सभ्य तीन युगों के चिन्ह प्राप्त होते हैं। इस साहित्य में इसके लिए लिखित प्रमाण हैं कि (पितृसत्तात्मक अथवा अन्य रूपों की) दासता का उदय यहां पर हुआ था और राजसत्ता एवं वर्गों के प्रारम्भिक रूपों का अस्तित्व यहां पर था।

यह कहा जा सकता है कि आदिम साम्यवाद का युग वैदिक संस्थानों के आरम्भ काल में ही व्यतीत हो चुका था और दास व्यवस्था एवं सभ्यता का आरम्भ वैदिक काल के अन्तिम समय के संस्थानों एवं प्रारम्भिक **स्मृति** साहित्य तथा महाकाव्यों के रचना काल में हुआ था।

महाभारत युद्ध और उसके बाद की अवस्था सम्बंधी मेरी मान्यताओं के विषय में भी प्रश्न किये गये हैं।

इस विषय की मैंने जो व्याख्या की है, उसका स्पष्टीकरण या उसमें संशोधन करना आवश्यक है। महाभारत युद्ध के परिणामों की विवेचना करते हुए मैंने कहा था कि उसके "फलस्वरूप दास प्रथा दुर्बल हो गयी थी।" और उसी पैराग्राफ में मैंने आगे यह लिखा था : "निस्सन्देह, दास प्रथा चलती रही और दास स्वामियों के राज्यों का फिर से संगठन होता रहा और उनकी वृद्धि भी होती गयी।" (पहला हिन्दी संस्करण, पृष्ठ १९०)

महाभारत का युद्ध सगोत्र सम्बंधों के अन्त और वर्ग राजसत्ता के पूर्ण रूप से विकसित होने का सूचक है। इसमें कबीलों के लोकतंत्र, सैनिक अभिजातीय तंत्र और दास व्यवस्था का समावेश था।

युद्ध इतनी विशाल सीमाओं में फैला हुआ तथा विनाशकारी था कि कुछ समय के लिए दास सभ्यता की पूर्णता के आधार पर सभ्यता की गति मन्द हो गयी। लेकिन धीरे-धीरे यह व्यवस्था प्राणवान होती गयी और उन साम्राज्यों का आविर्भाव हुआ जिनका उल्लेख हम बाद के युग के इतिहास में उज्जैन, काशी, कोशल, मगध, आदि के रूप में पाते हैं।

इसलिए जहां पर यह अर्थ निकलने की संभावना हो कि महाभारत युद्ध के फलस्वरूप सामन्तवादी युग का आरम्भ हो गया था, वहां पर संशोधन कर लेना उचित है।

एक प्रश्न यह भी किया गया है कि भारत में दास व्यवस्था के विशेष लक्षण क्या थे? उत्पादन में इस दास व्यवस्था की भूमिका क्या थी?

कुछ ऐसे भी लोग हैं जो भारत में दास प्रथा के अस्तित्व को ही अस्वीकार करते हैं। प्रामाणिक ग्रंथों में जब इतने स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता हो कि कितने प्रकार[१] के दासों का अस्तित्व भारत में था और उनको

१. इन फुटनोटों के लिए परिशिष्ट १ देखिए।

दासता से मुक्त करने के लिए कौन से नियम[२] थे, सम्पत्ति के उत्तराधिकार में उनका स्थान क्या था, तब किसी के लिए यह कहना कठिन है कि भारत में दास प्रथा का अस्तित्व नहीं था।

पहले कहा गया है कि यह रोम अथवा यूनान की "श्रम-दासता" से भिन्न थी। भारतीय दास व्यवस्था को हम "घरेलू दासता" कह सकते हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि कृषि उत्पादन का मुख्य रूप यह नहीं था कि दास स्वामियों के अधिकृत विस्तृत खेतों में दास समूहों के परिश्रम द्वारा वह किया जाता था। इसके विपरीत घरेलू दासता का यह अर्थ भी नहीं था कि दास घर के स्वामियों की "व्यक्तिगत सेवा" ही करते थे। इसे प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट प्रमाण हैं कि गृह उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन के लिए, खेतों पर और यहां तक विस्तृत खेतों पर, "स्वतंत्र" कृषकों एवं भृत्यों के साथ उनसे श्रम कराया जाता था। अपनी आय के लिए स्वामी अपने दासों को दूसरों के पास भृत्य रूप में भी भेज देते थे।[३]

सामान्य रूप में वे बड़े इलाके जिनमें दास तथा भृत्य कृषि कार्य करते थे, नगर-केन्द्रों के निकट राजाओं की अपनी सम्पत्ति के रूप में होते थे। कुछ व्यक्तिगत भूस्वामियों का भी उल्लेख मिलता है जिनमें से कुछ पवित्र ब्राह्मण तक हैं। लेकिन गांवों में कृषि उत्पादन प्रधान रूप से दासों के द्वारा नहीं होता था। वहां पर **गृहपति** अथवा **कुलपति** के संरक्षण एवं नेतृत्व में पारिवारिक समाज सामूहिक रूप से अधिकृत भूमि को जोतते-बोते थे। दस्तकारी के नगर-केन्द्रों में इन दासों की बड़ी संख्या काम करती थी और कुछ संख्या में उन्हें गांवों में भी श्रम करने के लिए लगाया जाता था।

भारतीय दासता का विशेष लक्षण यह है कि पारिवारिक समाज में घरेलू दासता को घनिष्ठ रूप से मिश्रित कर दिया गया था और यह व्यवस्था बिना अपने को अन्य रूप में परिवर्तित किये हुए दीर्घ काल तक स्थायी रही थी।

उत्पादन के विकास एवं जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ पारिवारिक समाज शीघ्रता से नष्ट होकर ग्रामीण समाजों के रूपों में बढ़ने लगे।

इन ग्रामीण समाजों में दास समूहों को **हीन जाति** का माना जाने लगा और पारिवारिक समाज के सदस्य अपनी रुचि अथवा कौशल के अनुसार विभिन्न व्यापारों एवं उद्योगों को अपनाने के आधार पर विभिन्न जातियों में संगठित होते गये। इस प्रक्रिया में ग्रामीण समाज के नये संगठनों के ढांचे में **वर्णों** ने अपने मूल अर्थ को खो दिया और उनके स्थान पर जातियों का महत्व बढ़ने लगा।

इस प्रक्रिया का विकास एक ही जैसा नहीं हुआ था। कृषि की स्थानीय अवस्थाओं के अनुरूप ही इसका विकास संभव था। भारत में जलवायु एवं भौगोलिक अवस्थाओं के साथ-साथ उष्णदेशीय ऋतुओं, भूमि की अत्यंत उर्वरता एवं वनस्पति की अतिमात्रा ने ग्रामीण समाज की विशेष बाह्यरूपता, भूमि पर चिरकालिक समानाधिकार एवं जाति व्यवस्था को एक निश्चित रूप दे दिया था।

भारतीय सामन्तवाद का आधारभूत ढांचा ग्रामीण समाज एवं उसकी जाति व्यवस्था है।

इस प्रक्रिया को समझने के लिए भारत के विभिन्न भागों की उन यथार्थ अवस्थाओं का सावधानी से निरीक्षण एवं अध्ययन करना आवश्यक है जिनमें यह (प्रक्रिया) घटित हुई थी। यद्यपि भारत में जाति व्यवस्था एवं ग्रामीण समाज अपने उत्पादन सम्बंधों में मौलिक रूप से एक समान ही थे, फिर भी वे अपने विकास पथ में दृढ़ता, विपर्ययता, अधिकार एवं कर्तव्य के विषय में विविध रूपों को व्यक्त करते थे।

दास प्रथा से युक्त राजसत्ताओं की काल-अवधि के विषय में भी प्रश्न किये गये हैं। मेरा विचार यह है कि इस प्रकार की राजसत्ताएं बौद्ध धर्म के आविर्भाव एवं उत्थान के समय तक रहीं थीं। इन राजसत्ताओं की परम्परा में संभवतः नन्द वंश का राज्य (४१३ ई. पू.) अन्तिम था। (संभवतः इसलिए कि पौराणिक परम्परा का कथन है कि नन्द वंश से शुद्ध **क्षत्रिय वंश** का नाश हो गया—**नन्दन्तम् क्षत्रियकुलम्**।)

नन्द वंश एवं अशोक के साम्राज्य (२७३ ई. पू.) के मध्यवर्ती काल में भारत निवासियों के सामाजिक-आर्थिक संगठनों में महान परिवर्तन हो रहे थे। दास व्यवस्था तथा ग्रामीण समाज मूल रूप से बदल रहे थे। भारतीय सामन्तवाद अपनी जड़ों को दृढ़ करने और विस्तार पाने की चेष्टा में लगा हुआ था।

लेकिन यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि एक व्यवस्था के तिरोहित होने और दूसरी व्यवस्था के आविर्भाव को किसी ऐसी विशिष्ट विभाग-रेखा से सूचित नहीं किया जा सकता जिससे यह बताया जा सके कि अमुक निश्चित वर्ष अथवा अमुक विशेष राजवंश में उसका आविर्भाव या नाश हुआ था। भारतीय सामन्तवाद और दासता के विषय में यह निश्चित करना और भी कठिन है। कुछ समय तक उनका अस्तित्व साथ-साथ भी रहता है, और यह तो सभी को ज्ञात ही है कि सामन्तवादी अर्ध-दास व्यवस्था में भी दास प्रथा के कुछ लक्षण शेष रह गये थे।

परन्तु यह निश्चित सा लगता है कि बौद्ध एवं जैन धर्म ईसा से पांच शताब्दी पूर्व दास व्यवस्था के विद्रोह में उठी हुई विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते थे।

यद्यपि इस संक्षिप्त भूमिका में विषय की विस्तृत विवेचना संभव नहीं है, फिर भी अपने पाठकों को भावी अध्ययन में सहायता देने के लिए हम उस जैन धर्म विचारधारा की प्राचीन परम्परा की ओर संकेत अवश्य करना चाहते हैं, जो बौद्ध धर्म के ही समान है।

जैन धर्म के अनुसार महावीर से पहले चौबीस **तीर्थंकर** हुए थे। **सद्धर्मालंकार** में उनमें से छः **तीर्थंकरों** का परिचय प्राप्त हो सका है। उनमें से चार **भागे हुए दास** और दो सम्पत्तिनष्ट किसान थे जिनकी दशा लगभग दासों जैसी ही थी। उनमें से एक का नाम पूर्ण कश्यप था। उनका यह नाम इसलिए था कि जिस समय अपने स्वामी के गृह में माता ने उनको प्रसव किया, उस समय उन्होंने सौ की संख्या (उस स्वामी के दासों की संख्या) "पूर्ण" की थी। जिन व्यक्तियों ने भौतिकवादी अथवा उसके समकक्ष सम्प्रदायों का शिलान्यास किया, उनके नाम **मोक्खली गोशाल, निगंथ नतपुत्त, अजीत केशकम्बल** तथा **ककुध कात्यायन** थे।

महात्मा बुद्ध (जन्म ५५८ ई. पू.—मृत्यु ४७८ ई. पू.) स्वयं अभिजात वंशीय गण में उत्पन्न हुए थे और उनकी संस्कृति गण-लोकतांत्रिक थी।

इस सम्बंध में एंगेल्स का वह कथन ध्यान देने योग्य है जो उनकी पुस्तक **लुदविग फायरबाख** में है। वह कहते हैं :

> "इतिहास की महान परिवर्तनकारी गतियों का **साथ** धार्मिक परिवर्तनों ने वहीं तक दिया है जहां तक उनका सम्बंध... तीन महान **विश्व धर्मों—बौद्ध**, ईसाई और इस्लाम से है। किसी सीमा तक अप्राकृतिक रूप से अविर्भूत केवल इन्हीं विश्व धर्मों के विषय में एवं विशेषतया ईसाई तथा इस्लाम धर्मों में हम यह पाते हैं कि उन्होंने सामान्यतर ऐतिहासिक परिवर्तनों पर अपने चिन्हों को अंकित किया है।" (मार्क्स-एंगेल्स, **संग्रहीत ग्रंथावली**, भाग २, मास्को संस्करण, पृष्ठ ३४३–४४)

इतिहास की वह कौन सी महत्वपूर्ण गति थी जिसका साथ बौद्ध धर्म ने दिया था और उस पर अपने चिन्हों को अंकित किया था ? जहां तक भारत का सम्बंध बौद्ध धर्म से रहा है, वहां तक इतिहास की यह महत्वपूर्ण गति उस दास व्यवस्था का दुर्बल होना था जिसका प्रतिनिधित्व अजातशत्रु से लेकर अशोक तक के शक्तिशाली साम्राज्यों ने किया था। इस परम्परा में सबसे अधिक शक्तिशाली नन्द वंश ज्ञात होता है। नन्द वंश तथा उनके समकालीन राजाओं

के पास विशाल सुसज्जित सेनाएं* थीं, जो इस तथ्य का सूचक थीं कि प्रजा के ऊपर कर की मात्रा अधिक थी और शासक वर्ग विलासप्रिय एवं भ्रष्ट था। उनकी विजयों ने सहस्रों व्यक्तियों को दासों में परिवर्तित कर दिया और एक विस्तृत प्रदेश में गण-लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं एवं **गण** समाजों के अवशेषों को नष्ट कर दिया। गांवों के स्वतंत्र कृषक, गण-लोकतंत्र (कबीलों के लोकतंत्र) के सम्पत्ति नष्ट सदस्य, सताये गये व्यापारी एवं नगरों के गृहस्थ—सभी मिलकर एक परिवर्तन की प्रतीक्षा में आकुल थे। बौद्ध धर्म में सैद्धान्तिक रूप से यह परिवर्तन व्यक्त हुआ था। राजनीतिक रूप में इस परिवर्तन ने मौर्य शक्ति के द्वारा साम्राज्यों को नष्ट कराते हुए उन नये साम्राज्यों को जन्म दिया जिनमें अपेक्षाकृत अधिक शान्ति और परिवर्तन थे। इतिहास के इस मोड़ अथवा परिवर्तन का अध्ययन हमें सावधानी से करना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रंथ **कौटलीय अर्थशास्त्र** है। इसके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य के **जातक**, कुछ **धर्म-सूत्र** एवं अशोक के शिलालेख हैं।

दास व्यवस्था के दुर्बल होने और उसके स्थान पर धीरे-धीरे सामन्तवादी व्यवस्था के प्रतिष्ठित होने की प्रक्रिया लगभग तीन सौ वर्षों तक चलती रही थी। गांवों में इस (दास व्यवस्था) का जो आर्थिक आधार था, उसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए थे।

प्राचीन काल के आदिम साम्यवादी समाज में सम्पत्ति का उत्पादन सामान्य रूप से अधिकृत भूमि तथा पशुओं द्वारा होता था और उसका सामूहिक उपयोग में वितरण होता था।

उत्पादक शक्तियों के विकसित होने के साथ-साथ श्रम विभाजन और वर्गों के उत्पन्न हो जाने पर दास व्यवस्था का जन्म हुआ। जिस सामूहिक रूप से अधिकृत भूमि पर पहले कबीलों के ग्रामवासी श्रम करते थे, वहां पर अब **गण** किसान दासों की सहायता से उत्पादन करने लगे। फिर भी श्रम का अधिकांश भाग स्वयं स्वतंत्र कृषक करते थे।

गण समाज व्यवस्था अपने मूल रूप में दास विधान के अनुरूप नहीं थी, इसलिए दासता के विधानों ने शीघ्र ही गण व्यवस्था को क्षीण कर दिया और आदिम **गण** विलीन होने लगे।

नगरों में विकासमान अभिजातशाही ने धन तथा दासों का संचय किया, वस्तुओं का व्यापार किया और अपनी राजसत्ताओं या साम्राज्यों का निर्माण किया। राजाओं के उद्योगों एवं जमीदारियों में, धनी व्यापारियों के घरों में,

---

* परिशिष्ट ३ देखिए।

नगर के सन्निकट कारखानों और बागों में दासों के समूह परिश्रम करते थे। इन स्थानों पर स्वतंत्र कारीगरों तथा भृत्यों का भी उपयोग होता था।

उत्पादन एवं जनसंख्या की वृद्धि के समान ही साम्राज्यों का भी विकास हुआ। उस समय भूमि के प्रश्न पर एक ओर स्वतंत्र किसानों के उन गांवों में—जहां पर सामूहिक अधिकारवाली भूमि पर गण जातियां श्रम करती थीं या सामान्य रूप से अधिकृत क्षेत्रों पर पारिवारिक समाज के सदस्य निजी खेती करते थे—और दूसरी ओर भारी साम्राज्यपरक राजसत्ताओं में तीव्र विरोधों तथा आत्म-विरोधों का विकास होने लगा था। यह विरोध दो प्रश्नों के रूपों में व्यक्त होता था। क्या राजा को गांवों की सामूहिक भूमि को आत्मसात करने का अधिकार था? सम्पूर्ण उत्पादन के कितने अंश की राजसत्ता अधिकारिणी थी? अर्थात अतिरिक्त उत्पादन या भूमिकर के सम्बंध में शासक वर्ग के क्या अधिकार थे?

इस प्रश्न की व्याख्या **पूर्वमीमांसा** से लेकर बाद के **धार्मिक** साहित्य तथा इनके भाष्यों में प्राप्त होती है। कौटिल्य ने सूक्ष्म विधियों के द्वारा शोषण के सम्बंधों को व्यवस्थित एवं भूमिकर या अतिरिक्त उत्पादन के अधिकारों को सीमित करने की चेष्टा की थी। **पूर्वमीमांसा** में इस प्रश्न पर विवाद किया गया है कि राजा को **दान** देने का अधिकार है या नहीं। (सूत्रकार के मत में) राजा को भूमि **दान** करने का अधिकार नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि भूमि पर "सबका अधिकार" है और वह किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं बन सकती। **(न भूमि स्यात्—सर्वान्प्रति—अविशिषत्वात्।)** संभवतः उसका व्यक्तिगत विभाजन नहीं हुआ था और न उस पर व्यक्तिगत अधिकार ही होते थे।

लेकिन शासक वर्ग ने धीरे-धीरे इस व्यवस्था को पराजित कर दिया। उन्होंने अतिरिक्त उत्पादन पर अपने स्वत्व यानी करों एवं भूमिकरों में वृद्धि की और सामूहिक रूप से अधिकृत भूमि पर भी वे निजी अधिकार स्थापित करने लगे। उस समय शोषक वर्ग की सेवा में लगे हुए न्यायशास्त्रियों ने यह यह प्रश्न किया—सामूहिक रूप से अधिकृत भूमि क्या है? क्या भूमि पर सामूहिक अधिकार दो तरह का नहीं—एक राजा का सामूहिक अधिकार और दूसरा ग्रामों का सामूहिक अधिकार? एक वह भूमि है जिसको राजा दान में दे सकता है और दूसरी वह भूमि है जिसको वह दान में नहीं दे सकता, आदि। उन्होंने इस प्रश्न को भी उठाया कि उत्पादन के कितने भाग पर भूमिकर के रूप में राजसत्ता का अधिकार है।

लेकिन समय व्यतीत होने के साथ-साथ हम यह देखते हैं कि राजसत्ता, यानी शोषक वर्ग, उत्पादन में लगे हुए विभिन्न समुदायों से अधिक भूमिकर लेती गयी है। पहले राजसत्ता कृषि उत्पादन का दसवां हिस्सा कर के रूप

में लेती थी, लेकिन अब वह उत्पादन का आधा अंश लेने लगी, यहां तक कि अपने मुख्य कर्मचारियों के पालन-पोषण के लिए सम्पत्ति अथवा धन के रूप में भी कर लिया जाने लगा। सामूहिक रूप से अधिकृत भूमि को सुरक्षित रखने तथा भूमिकर एवं अन्य करों की वृद्धि को रोकने के लिए जो संघर्ष हुए थे, उनके द्वारा नन्द वंश से लेकर बाद के साम्राज्यों और कुछ पहले के साम्राज्यों के भी उत्थान एवं पतन को भलीभांति समझा जा सकता है (अवश्य ही उनको बाह्य आक्रमणों से नष्ट नहीं किया गया था, जैसे कुषाणों एवं स्कीथिया के निवासियों ने अपने आक्रमणों से किया था)।

इस प्रक्रिया में उत्पादन की शक्तियां बढ़ीं। दस्तकारी का विकास बड़े पैमाने पर हुआ और उसके कौशल में वृद्धि हुई। विविध दिशाओं में कृषि का प्रसार हुआ और उसके उत्पादन सम्बंधों में भी परिवर्तन हुए।

प्राचीन गण समाज जब नष्ट हो गये, तो उनके स्थान पर नये समाजों का जन्म हुआ। कुछ प्रदेशों में (सामाजिक विकास के कुछ क्रमों में) ये नये समाज भूमि को सामूहिक रूप से अधिकृत करते हुए भी पारिवारिक समाज के आधार पर कृषि करते थे। बाद के काल में पारिवारिक समाजों के स्थान पर ग्रामीण समाजों का निर्माण हुआ। इसमें व्यक्तिगत परिवार के आधार पर खेती होती थी। इन समाजों में उत्पादन के साधनों तथा कौशल के उस विकास के द्वारा, जिसका विशेष परिवारों के साथ घनिष्ठ सम्बंध था, एवं वंश परम्परा के रूप में व्यवसायों को ले चलने के द्वारा एक वंशगत श्रम विभाजन की उत्पत्ति संभव हुई। इसी श्रम विभाजन ने जाति व्यवस्था तथा उस पर आधारित एक नये ग्रामीण समाज को जन्म दिया था। यह नया समाज भारतीय सामन्तवाद का उत्कृष्ट रूप था।

हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार से चार वर्णों की व्यवस्था (**वर्णाश्रम धर्म**) बर्बर युग की उत्तरकालीन अवस्थाओं, और दास व्यवस्था व सभ्यता के काल की भी विधिपरक-नैतिकता की द्योतक थी, उसी प्रकार से जाति व्यवस्था (**जाति धर्म**) भारतीय सामन्तवाद के आविर्भाव एवं उत्थान का द्योतक थी। प्राचीन पारिवारिक समाज के ग्रामों अथवा **वर्णाश्रम** ग्रामों को नष्ट करते हुए दास व्यवस्था के स्थान पर इस व्यवस्था ने जन्म ले लिया था और उत्पादन की नयी शक्तियों के लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त थी। यह बहुत संभव है कि मौर्य राजवंश के समय इसका आविर्भाव हुआ हो और बाद के काल में, यानी गुप्त साम्राज्य (लगभग २०० ई.) के समय विकसित होकर यह भावी शताब्दियों के लिए सामन्तवाद का दृढ़ आधार बन गयी हो। यह निश्चित है कि इसका प्रसार भारत के सभी क्षेत्रों में एक ही समय में नहीं हो गया था।

यहां पर यह प्रश्न किया गया है कि कार्ल मार्क्स ने अपनी अनेक रचनाओं में भारत के ग्रामीण समाजों का उल्लेख "अत्यन्त प्राचीन," "अपरिवर्तनशील" कहते हुए किया है, उसका अर्थ क्या है ?

मेरे विचार में कार्ल मार्क्स के इन उल्लेखों का अर्थ यांत्रिक तरीके तथा मतांध दृष्टिकोण से लगाया गया है, इसलिए इस विषय पर विचार होना चाहिए।

भारत के भूमि सम्बंधों और ग्रामीण समाजों के बारे में स्वयं कार्ल मार्क्स किसी निर्णायक नतीजे पर नहीं पहुंचे थे। वह समय-समय पर भारतीय इतिहास के विविध युगों की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन कर रहे थे। एक समय उनका यह विचार था कि भारत में जमीन किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। बाद में खोज करने से यह ज्ञात हुआ कि कृष्णा की वादी में जमीन व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में थी। इसका उल्लेख उन्होंने एंगेल्स के साथ अपने पत्र-व्यवहार में किया था।

उसी प्रकार से, जब तक एंगेल्स ने **परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति** नहीं लिखा था, तब तक ग्रामीण समाज और **गणों** के विकास के विषय में भी कोई अन्तिम निष्कर्ष निर्धारित नहीं हो सका था।

पूंजी के प्रथम भाग में कार्ल मार्क्स ने अन्य लेखकों की रचनाओं के आधार पर जिस ग्रामीण समाज का उल्लेख किया है, वह न तो आदिम साम्यवादी समाज के युग का गण समाज है और न वह पारिवारिक समाज ही है। रक्त सम्बंधों के आधार पर गण समाज की रचना हुई थी, और उसमें शोषक तथा शोषितों के सम्बंध नहीं थे। लेकिन ग्रामीण समाज एक प्रादेशिक इकाई थी और उसमें इस प्रकार के सम्बंध संभव थे।

इस प्रश्न की व्याख्या करते हुए पहले एंगेल्स ने **परिवार की उत्पत्ति** में इसके विकास का उल्लेख नहीं किया था। लेकिन बाद में कोवालेव्स्की की रचना के आधार पर उन्होंने इस प्रश्न का समाधान अपनी पुस्तक के सन १८९१ के संस्करण में किया। उससे कोई भी यह जान सकता है कि यदि किसी समाज में भूमि पर सामान्य रूप से सबका अधिकार होता है, तो उस समय भी उसके अधिकारों एवं सामाजिक उत्पादन प्रणालियों के **तीन रूप** संभव होते हैं।

उसका पहला रूप शुद्ध रूप में रक्त सम्बंध पर आधारित अत्यन्त प्राचीन गण समाज है। (क्या इसे समाज का **गण** रूप कहा जा सकता है ?)

उसका दूसरा रूप पैत्रिक सम्बंधों पर रचा गया पारिवारिक समाज है। (क्या इसे समाज का **कुल** या **गृहपति** रूप कहा जा सकता है ?)

उसका तीसरा रूप वह ग्रामीण समाज है जिसमें व्यक्तिगत परिवार होते थे। उनके पास कुछ भूमि व्यक्तिगत अधिकार में और कुछ सामूहिक रूप से अधिकृत होती थी। व्यक्तिगत परिवार के आधार पर वे खेती तथा अन्य आर्थिक क्रियाएं करते थे। वे जातियों या पंचायती रूपों में संगठित थे। इस समाज में व्यक्तिपरक तथा समूहगत अधिकार एक साथ अस्तित्व में थे।

कार्ल मार्क्स ने तीसरे रूप के गण समाज का उल्लेख किया है। **वर्णों** एवं जातियों से हीन आदिम साम्यवाद के युग में इस समाज का अस्तित्व नहीं था। वर्गों, **वर्णों** एवं दास-व्यवस्था के आरम्भिक युग में भी इसका अस्तित्व नहीं था। उपरोक्त व्यवस्थाओं के नष्ट होने पर इसका उदय हुआ। भारतीय सामन्तवाद में जाति समाज के गांव का यही रूप था।

इस समाज में अन्य रूपों से भिन्न उत्पादन सम्बंध थे।

इस संक्षिप्त विवरण में हम ग्रामीण समाज एवं भारतीय सामन्तवाद के विकास व प्रसार को अधिक विस्तृत रूप में नहीं बता सकते। जातियों द्वारा किये गये पैत्रिक श्रम विभाजनवाले ग्रामीण समाजों के अस्तित्व में आने से समाज की उत्पादन शक्तियों का विकास हुआ। प्रत्येक जाति एवं उपजाति ने अपने धंधों में विशेष निपुणता प्राप्तकर दस्तकारी को यथासंभव चरम सीमा तक पहुंचा दिया। उत्पादन शक्ति में वृद्धि होने से शासक वर्गों एवं राजसत्ता द्वारा लिए जानेवाले कर एवं अतिरिक्त उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हुई। इसी अतिरिक्त उत्पादन की सहायता से सिंचाई के साधनों, सार्वजनिक तालाबों तथा उन स्मारक वास्तु कला की कृतियों का पोषण हुआ जिन्हें हम आज भी देखते हैं। सम्पन्न संस्कृति, गुप्त-कालीन साहित्य एवं कला के सुन्दर रूप, सिंचाई के विशाल साधन (कश्मीर में एक जलाशय का निर्माण एक अछूत जाति के इंजीनियर ने किया था) तथा मध्य-कालीन व्यापार व उद्योग—सभी ग्रामीण समाज की विकसित उत्पादन शक्तियों यानी उसकी कृषि और दस्तकारी की, जिसने मध्य-कालीन राजनगरों को विशेष रूप से प्रभावित किया था, सफलताएं थीं।

इसके साथ-साथ कार्ल मार्क्स ने इन समाजों के उन प्रगति-विरोधी रूपों का भी उल्लेख किया है जिनके कारण समाज के इतिहास प्रवाह में जड़ता आ गयी थी। इतिहास के विद्यार्थी मार्क्स के उन अंशों को भलीभांति जानते हैं, इसलिए उन्हें दोहराना अनावश्यक है।

उन ग्रामीण समाजों अथवा भारतीय सामन्ती सम्बंधों में निहित वर्ग संघर्षों के विकास का ज्ञान प्राप्त करने का तरीका इतिहास के विद्यार्थी अवश्य जानना चाहेंगे। कार्ल मार्क्स ने ग्रामीण समाजों का जो वर्णन किया है, उसके आधार पर कुछ लोग यह कहना चाहते हैं कि ये समाज अपने में पूर्ण

थे और इनका निर्माण इस रूप में किया गया था जिसमें वर्ग विरोध अथवा वर्ग संघर्ष नहीं थे।

अपने भारत सम्बंधी लेखों में जिस समय कार्ल मार्क्स ग्रामीण समाज का अध्ययन कर रहे थे, उस समय उनका मुख्य प्रयोजन यह स्पष्ट करना था कि अंग्रेजों की विजय ने भारत में कौन सी नयी उत्पादन शक्तियों तथा क्रान्ति के तत्वों का बीजारोपण किया था ?

जिस समय कार्ल मार्क्स ने उनका उल्लेख **पूंजी** में दोबारा किया, उस समय वे उस श्रम विभाजन के प्रश्न पर विचार कर रहे थे, जो पूंजीवादी उत्पादन के द्वारा फैक्टरियों में संभव हुआ था। यह श्रम विभाजन उस ग्रामीण समाज के श्रम विभाजन से भिन्न था जिनका आर्थिक ढांचा अपने में पूर्ण था। ये ग्रामीण समाज सैकड़ों वर्षों से चले आ रहे थे और (पूंजीवादी समाज की अपेक्षा) राजशक्तियों के परिवर्तनों के प्रति अधिक निरपेक्ष रहे थे।

इन दोनों स्थानों पर कार्ल मार्क्स ने भारतीय सामन्तवाद के ढांचे के विषय में गंभीर समझ प्रदान की है। लेकिन इन दोनों स्थानों पर उनका प्रयोजन या तो उसके एक पक्ष को दिखाना था, या दूसरे (श्रम विभाजन) पक्ष को स्पष्ट करना था। उस समय उनका उद्देश्य इस विषय की सर्वांगीण और विशद व्याख्या करना नहीं था। यदि वह भारत के इतिहास को पूर्ण रूप से लिखने के लिए जीवित रहते, तो अवश्य ही इसे पूरा करते। उसके लिए सामग्री का संकलन वह कर चुके थे। इसलिए यह लगता है कि इन ग्रामीण समाजों के अन्दर वर्ग संघर्ष के विकास के अध्ययन का काम अभी तक अधूरा है। एक ओर यह वर्ग संघर्ष एक ग्रामीण समाज का दूसरे ग्रामीण समाज से, तथा दूसरी ओर सामन्ती राजसत्ता एवं ग्रामीण समाज के बीच होता था। इनका अध्ययन करने के लिए हमें मौर्य काल से लेकर मुग़ल और मराठा काल तक के लगभग दो हजार वर्षों के इतिहास को देखना होगा।

यह कहना मार्क्सवाद को अस्वीकार करना है कि इन दो हजार वर्षों के दौरान में इन समाजों के अन्दर अन्तर-विरोधों का विकास नहीं हुआ था, या उनमें परस्पर-विरोध और संघर्ष नहीं हुए थे, अथवा उनपर शासन करने वाली सामन्ती राजसत्ता से उनका संघर्ष नहीं हुआ था।

तब फिर इन समाजों के आन्तरिक-विरोध एवं राजसत्ता के विरोध में होनेवाले संघर्षों का सारतत्व क्या था ?

ग्रामीण समाज में प्रत्येक जाति एवं जाति के परिवार को खेती करने के लिए भूमि दी जाती थी। इसके साथ सामूहिक रूप से अधिकृत भूमि का उपयोग भी वे करते थे। **धार्मिक सहित्य** में इसे **महाभूमि**[४] कहा जाता था और यह वनभूमि, तालाब, चरागाह, आदि के रूपों में होती थी। खेती के

लिए सभी परिवारों को भूमि दी जाती थी। लेकिन कुछ ऐसी जातियां थीं जिनके पास भूमि के अलावा अपने विशेष धंधे भी थे—जैसे कपड़ा बुनना, तेल निकालना, चमड़ा कमाना, सफाई का काम करना, वाटिका, आदि का बनाना। इस प्रकार से कृषि तथा धंधे परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे।

अपने धंधों में लगी हुई प्रत्येक जाति अपने उत्पादन का विनिमय दूसरी जाति के उत्पादनों के साथ करती थी—जैसे चमड़े के बदले में तेल और लोहे के बदले में लकड़ी का बना हुआ सामान, आदि। इस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति के परिश्रम का उत्पादन गांव में या अनेक गांवों में वितरित होता था।

लेकिन कुछ जातियां ऐसी भी थीं जो परिश्रम के द्वारा स्वयं उत्पादन नहीं करती थीं। इनमें वे ब्राह्मण थे जो शिक्षा देते थे, पूजा-पाठ करते थे और ऋतुओं का अवलोकन करते थे। उसके बाद क्षत्रियों की जातियां थीं। ये सैनिक परिवार थे जो राजसत्ता की सेवा में लगे रहते थे। इनके अलावा कर वसूलने-वाले पदाधिकारी तथा मुंशी लोग थे जिन्हें विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। अपने काम के लिए उन्हें "वेतन" कहां से मिलता था? उन्हें यह वेतन ग्राम की श्रमिक जातियों द्वारा किये गये उत्पादन के अतिरिक्त भाग से दिया जाता था। उत्पादन न करनेवाली ये जातियां उत्पादन करनेवाली जातियों के उत्पादन पर जीवनयापन करती थीं। उनका जीवन उस भूमिकर पर निर्भर था जो उत्पादन करनेवालों से वसूल किया जाता था। **इसी अर्थ में यह माना जा सकता है कि वे सामन्ती भूमिकर वसूल करनेवाले थे।**

क्या भूमि पर अधिकार होने के कारण उन्हें यह भूमिकर मिलता था? नहीं। फिर भी, भूमिकर के वे अधिकारी थे।

क्या राजसत्ता की शक्ति उनके इस अधिकार की रक्षा करती थी? हां।

अन्य जातियां भी विशेष धंधों और कृषि के **उत्पादन में अपनी-अपनी जगहों से बंधी होती थीं।** उत्पादन का वह भाग भी निश्चित कर दिया गया था जिसे देने के लिए वे **बाध्य** थीं। इसकी नियंत्रक शक्ति वह राजसत्ता थी जो **धर्म** के आधार पर परिचालित होती थी। राजधानी तथा ग्रामीण समाज में स्थित ब्राह्मण एवं क्षत्रिय शासक वर्ग इसके शासनकर्ता थे।

क्या इन सम्बंधों के आधार पैतृक परम्परा और व्यक्तिगत परावलम्बन थे, जिनको अपनाकर ही अन्य लोग उत्पादन कर सकते थे और जीवित रह सकते थे? हां। ऐसा ही था। यदि वे (इन सम्बंधों को अपनाने में) असफल होते थे तो उत्पादन करनेवाली, यानी भूमिकर देनेवाली जातियों को शारीरिक दंड दिया जाता था।

ग्रामीण समाज की इन विशेषताओं ने ही इन सम्बंधों को स्पष्ट सामन्ती रूप प्रदान किया था। एक प्रकार की परम्परागत अर्ध-दासता इन ग्रामीण

समाजों का आधार थीं। इस समाज में अछूत मानी जानेवाली जातियां शासक वर्गों की सबसे अधिक शोषित अर्ध-दास थीं।

राजनीतिक शासन क्षेत्र में भी ये ही सामाजिक सम्बंध दिखाई देते थे। उत्पादन न करनेवाली जातियों का राजसत्ता पर अधिकार था। वे ब्राह्मण और क्षत्रियों की जातियां थीं जिनके साथ राजस्व के पदाधिकारी (यानी कायस्थ) भी मिले हुए थे।

इन समाजों में संघर्ष यह था कि भूमिकर के अधिकारी अधिक से अधिक मात्रा में कर वसूल करने की चेष्टा करते थे। **बलि** तथा **भाग** के नियमों का यही विषय था। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं राजस्व प्राप्त करनेवाले सदैव इस चेष्टा में रहते कि उत्पादक जातियों से अधिक से अधिक मात्रा में **बलि** एवं **भाग** प्राप्त किया जाय। **धर्मशास्त्र** के प्रत्येक ग्रंथ में **बलि** एवं **भाग** की मात्रा निश्चित की गयी है। कुछ ग्रंथों में विस्तृत रूप में यह भी लिखा हुआ मिला है कि **पान,** सुपारी तथा नारियल कितनी संख्या में देना चाहिए। इन विधियों के उल्लंघन होने पर शासक जातियां दास जातियों को दंडित करती थीं।

राजसत्ता के विरोध में गांवों के उस संघर्ष का—जो केवल उत्पादक जातियों से या कभी-कभी किसी विशेष समस्या को सुलझाने के लिए पूरे गांव के समाज के संयुक्त मोर्चे से होता था—आधार भी वह **बलि** और **भाग** होता था जो राजसत्ता या राजा को मिलता था। जब इन संघर्षों से समस्या का समाधान शान्तिपूर्ण ढंग से नहीं हो पाता था, तो अनेक बार सशस्त्र युद्ध भी हो जाते थे, या ग्रामीण समाज उस राज्य को छोड़कर दूसरे राज्य में चले जाते थे जहां भूमिकर की शर्तें अधिक कठोर नहीं होती थीं।

जिस समय उत्पादन न करनेवाली शासक जातियां इतनी मात्रा में भूमिकर वसूल करती थीं कि कृषि एवं धंधे नष्ट होने लगते अथवा अत्यधिक मात्रा में लिये गये कर से व्यापार नष्ट होने लगते, या शासक जातियां गांवों की रक्षा लुटेरों और आक्रमणकारियों से नहीं कर पाती थीं, तब जनता विरोध-प्रदर्शन में वस्तु या श्रम के रूप में राजस्व देना अस्वीकार कर देती थी। उस समय की सामाजिक दशा को दुखभरे शब्दों में इस प्रकार से व्यक्त किया जाता था कि "प्रत्येक जाति अपने **धर्मपालन** में विफल" हो गयी है। इस "संकट" से निकलने का यही उपाय बताया जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी जाति या **धर्म** पर फिर से स्थिर किया जाय और "शान्ति" की रक्षा की जाय। दसवीं से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक के विभिन्न प्रदेशों के भारतीय सन्त साहित्य में इन्हीं प्रश्नों का उल्लेख मिलता है।

अनेक विद्वानों ने **बलि** और **भाग** की मात्रा और उसके अधिकार के विषय में विवेचना की है। इससे भारत के सामन्ती भूमिकर सम्बंधों को स्पष्ट

रूप में जाना जा सकता है। लेकिन इन भूमिकरों के वर्ग-नामों को स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है। शोषण के इन सम्बंधों को प्रकट न करने की प्रवृति प्रायः मिलती है, जब कि इन्हीं सम्बंधों के कारण भारतीय इतिहास में अनेक युद्ध एवं विरोध-प्रदर्शन हुए हैं।

बलि एवं **भाग** के अन्तर को स्पष्ट करनेवाली विवेचना के बारे में मैं एक शब्द और कहूंगा। इतिहास के हमारे अध्यापक यथाशक्ति **बलि** एवं **भाग** तथा अन्य करों के अन्तर की व्याख्या करने की चेष्टा में लगे हुए हैं।

बलि अतिरिक्त उत्पादन के उस भाग का प्राचीनतम रूप है जो उत्पादन न करनेवालों को उत्पादन करनेवालों से मिलता था। इसका आविर्भाव शारीरिक एवं मानसिक श्रम विभाजन के काल में हुआ था। इस श्रम विभाजन के अनुसार आदिम साम्यवादी समुदाय ने कुछ व्यक्तियों को समाज के हित के लिए ऋतुओं और नक्षत्रों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के वास्ते अवकाश दे दिया था, और उनका पालन-पोषण सामाजिक उत्पादन के एक अंश से होता था। यही अंश **बलि** था। साम्यवादी समुदाय के सैनिकों तथा उनके संचालकों को भी **बलि** का अंश मिलता था। लेकिन उन दिनों वह **भूमिकर नहीं** था।

साम्यवादी समुदाय के विभाजित होने पर वर्गों एवं राजसत्ता की उत्पत्ति हुई। जब नगर और देहात तथा खेती और उद्योग के बीच विभाजन बढ़ा और दृढ़ होता गया, तब अतिरिक्त उत्पादन को नये रूप में, यानी **भाग** के रूप में लिया जाने लगा। **भाग** शब्द का प्रयोग उस राजस्व के लिए होता था जो राजसत्ता को दिया जाता था। उत्पादन न करनेवाली शासक जातियां इसे आत्मसात करती थीं। जिन स्थानों पर मुद्रा का चलन नहीं था, वहां पर कृषि तथा दस्तकारी की वस्तुओं के विनिमय को भी **भाग** कहा जाता था। दासों एवं दास-स्वामियों के बीच किसी **विनिमय** की संभावना ही नहीं थी। सामन्ती ग्रामीण समाज के अस्तित्व में आने पर भूमिकर का निश्चित एवं आदर्शगत रूप **भाग** हो गया था। पूर्व-कालीन **बलि** भी इसका साथी हो गया।

यहां पर हम इस विषय की और व्याख्या नहीं करेंगे कि किस प्रकार से राजसत्ता एवं सामन्ती शासक जातियों की मांगें बढ़ती जाती थीं और उससे संघर्ष उत्पन्न होते थे। यहां केवल इस बात की ओर संकेत किया जा सकता है कि अगर हम गांव के अन्दर की जातियों, राजसत्ता एवं गांवों तथा राजा और **पौरसभाओं** के बीच बलि और भाग को वितरित होते देखें, तो हमें भारत के सामन्ती युग में वर्ग संघर्ष को समझने की कुंजी मिल जायगी। लेकिन ऐसा करते समय निश्चय ही हमें उस आधार को अपनी आंखों से ओझल न होने देना चाहिए जो सार्वजनिक रूप से अधिकृत भूमि को राजा की सम्पत्ति न बनने देने के संघर्ष के रूप में वर्तमान था।

इस प्रकार की अवस्था में जनता के महान शासक या नेता कौन से व्यक्ति होते थे ? उस समय में वे ही व्यक्ति महान थे जो **धर्म** को नष्ट होने से बचाते थे, यानी **बलि** और **भाग** की मर्यादा की स्थापना करते थे, भीषण शोषण और **बलि** तथा **भाग** की नाशकारी मात्रा से जनता की रक्षा करते थे और उनकी रक्षा के लिए युद्ध तक करते थे। शोषितों के हितों का सैद्धान्तिक प्रचार सन्त लोग करते थे और जनप्रिय सैनिक उनके सशस्त्र रक्षक थे। भारतीय सामन्ती अवस्था में शोषित यही मांग कर सकते थे कि "**धर्म** की फिर से स्थापना हो, प्रत्येक जाति अपने धर्म पर स्थिर रहे और सामाजिक संगठन में अपना उचित स्थान और भाग प्राप्त करे।" यदि यह **संतुलन** नष्ट हो गया, तो संसार का अन्त निकट आ जायगा।

इसे बिलकुल स्पष्ट करने के लिए **शुक्रनीति**[1] ने अपने नियमों में उन छुट्टियों की संख्या तक को निर्धारित किया जिनमें वेतन मिलना चाहिए। उस समय राजसत्ता की ओर से कर्मचारियों और नौकरों को रुग्णावस्था या दूसरी अवस्था में ऐसी छुट्टियां मिला करती थीं। अपने आरम्भकाल में आधुनिक पूंजीवाद ने भी इन नियमों का पालन उचित रूप में उस समय तक नहीं किया, जब तक कि मजदूर वर्ग ने उसे बाध्य नहीं कर दिया।

अपने इतिहास के इस काल का अध्ययन करने के लिए हमें उस व्यापारी पर भी अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जिसने भारतीय सामन्तवाद के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। ग्रामीण समाज के उत्पादन को यथासंभव अधिक से अधिक मात्रा में **बिकाऊ वस्तु** में बदलना उसी के प्रयास का फल था। उत्पादक जातियों की वस्तुएं जितनी अधिक मात्रा में बिकाऊ वस्तुएं होती जाती थीं, उतनी ही अधिक मात्रा में वस्तु के रूप में भूमिकर लेने की मांग भी बढ़ती जाती थी, क्योंकि उन चीजों को व्यापारियों के हाथों स्वर्ण तथा अन्य वस्तुओं के बदले बेचा जा सकता था।

लेकिन व्यापारियों से किसी बिकाऊ वस्तु की मांग जितनी ही अधिक होती जाती थी, परम्परागत श्रम विभाजन एवं ग्रामीण समाज के अन्दर उत्पादन के अनुपात के बिगड़ने की संभावना भी उतनी ही अधिक बढ़ती जाती थी। इससे यह भी संभव हो सकता था कि ग्रामीण समाज के अन्दर धन सम्बंधी स्पष्ट विषमता का आरम्भ हो जाय और उसके तमाम अन्तर्विरोध और भी तीव्र हों जायं। इसलिए वे लोग जो ग्रामीण समाज की अर्थ-व्यवस्था को शान्तिपूर्ण ढंग से उन्नति की ओर ले जाना चाहते थे, व्यापारी वर्ग की क्रियाशीलताओं को श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते थे।

फिर भी व्यापारिक पूंजी ने अपनी भूमिका पूरी की, उसका अस्तित्व रहा और उसकी उन्नति हुई।

अगर कोई आदर्श व्यापारी-महाजन के विषय में भारत की मध्य-कालीन धारणा को जानने का इच्छुक है, तो उसे **मृच्छकटिक में** वर्णित विख्यात चारुदत्त के चरित्र को देखना चाहिए।

इस व्यापार की वृद्धि उस सीमा तक क्यों नहीं हुई जिससे पूंजीपति वर्ग की उत्पत्ति संभव होती और भारतीय इतिहास में पूंजीवाद का विकास होने लगता ?

यह प्रश्न हमें आधुनिक इतिहास तक ले आता है, जिसकी विवेचना मैं यहां करने में असमर्थ हूं।

हमारे इतिहास का एक और भी अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है। भारतीय सामन्तवाद के अध्ययन के लिए इतिहासकारों को इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। दास व्यवस्था एवं नन्द साम्राज्य के नष्ट होने के बाद अनेक **राष्ट्रीयताओं** की रचना का मार्ग खुल गया था। ऐसा लगता था कि भारत की कुछ वर्तमान राष्ट्रीयताओं (जैसे आंध्र एवं मराठा) का आविर्भाव एवं विकास इसी समय अथवा इसके बाद के समय में हुआ था।

यह एक अकारण घटना मात्र नहीं है कि इसी समय में, जब भारतीय सामन्तवाद का जन्म हो ही रहा था, दास व्यवस्था और विशाल साम्राज्यों के नष्ट होने पर ग्रामीण समाज तथा राष्ट्रीयताओं का उदय हो रहा था और वे **प्राकृत भाषाएं**, जो साम्राज्यों के गर्भ में विकसित हो रही थीं, इतिहास में सामने आयीं और "मान्यताप्राप्त" भाषाओं के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किया। उन भाषाओं का व्याकरण और साहित्य स्वतंत्र रूप में दृढ़ता से विकसित हुआ था जैसा कि वररुचि[६] और गुणाढ्य[७] की रचनाओं से ज्ञात होता है। संस्कृत का महत्व घटने लगा और वह "राजसभा की भाषा" अथवा शासक बुद्धिजीवियों की दुर्बोध जल्पना मात्र ही रह गयी, जिसका प्रयोग धर्मशास्त्र एवं धार्मिक आदेशों को लिखने में होने लगा था। ऐसा लगता है कि राष्ट्रीयताओं का उत्थान और **प्राकृत भाषाओं** की मान्यता का आरम्भ भारतीय सामन्तवाद के आविर्भाव और विकास के साथ-साथ हुआ था। संस्कृत भाषा के विरोध में **प्राकृत भाषा** को जिस राजसत्ता ने सबसे पहले राजकीय भाषा बनाने की घोषणा की थी, वह सातवाहनों का राज्य था। यह माना जाता है कि सातवाहनों के राजवंश की उत्पत्ति कृषक जातियों से हुई थी। परम विद्वान और निपुण अशोक ने अपने **आदेशों को प्राकृत भाषा** में अंकित कराया था—इसे सनक मात्र नहीं माना जा सकता।

हमारे इतिहास के इस अत्यंत महत्व के काल में राष्ट्रीयताओं और भाषा विज्ञान के प्रश्नों के अध्ययन के लिए बहुत सामग्री मिल सकती है।

मैंने इन पंक्तियों को इस आशा से लिखा है कि हमारे मार्क्सवादी पाठकों को इस विषय पर और छानबीन तथा विचार करने में सहूलियत होगी। मुझे इस बात का खेद है कि अपनी वर्तमान परिस्थिति में मेरे पास इन प्रश्नों की विस्तृत व्याख्या करने के लिए और इतिहास के उन भागों को लिखने के लिए जिनकी योजना मैंने बनायी थी, न समय है और न शक्ति।

नई दिल्ली
जुलाई, १९५६

श्रीपाद अमृत डांगे

हिन्दी संस्करण की भूमिका

भारत के प्राचीन इतिहास सम्बंधी मेरी इस पुस्तक का हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो रहा है। इसे प्रकाशित करते समय प्रकाशक ने मुझसे यह कहा कि इस पुस्तक में दी गयी मान्यताओं के विषय में अब तक जितनी भी आलोचनाएं प्रकाशित हुई हैं, क्या मैं उनका उत्तर दे सकता हूं ?

अभी तो यथार्थ में मेरे पास इतना समय नहीं है कि मैं विषय की गहराई में पैठूं और तमाम आलोचनाओं की छानबीन कर उनका उत्तर लिखूं। यद्यपि मैं यह मानता हूं कि इसे शीघ्र ही किया जाना चाहिए ताकि मार्क्सवादी समझ की रोशनी में भारतीय इतिहास के अध्ययन का कार्य और भी आगे बढ़ सके।

इस पुस्तक की समालोचना कई तरह के लोगों ने की है। कम्युनिस्ट विद्वानों द्वारा इस पुस्तक की की गयी समालोचनाओं को सबसे अधिक ध्यान से देखना चाहिए। उनके अलावा दूसरे बहुत से विद्वान प्रोफेसरों ने अपने विचार तथा अपनी आलोचनाएं मेरे पास लिखकर भेजी हैं और मुझसे उनका उत्तर मांगा है। परन्तु उनके साथ इस विषय पर विचार-विनिमय का कोई समान आधार नहीं मिल पाता क्योंकि ये आलोचक इतिहास को ऐतिहासिक भौतिकवाद के दृष्टिकोण से नहीं परखते हैं। हां, कुछ तथ्यों और संस्कृत शब्दों के अर्थ, आदि के बारे में उनके साथ चर्चा हो सकती है।

विद्वान कम्युनिस्ट लेखकों द्वारा इस पुस्तक की जो समालोचनाएं हुई हैं, वे मेरी जानकारी में नीचे लिखे प्रकाशनों में प्रकाशित हुई हैं :

रूसी भाषा में इस पुस्तक का अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उसमें **ए. एम. दायाकोव** और **ए. एम. ओसीपोव** ने एक भूमिका लिखी है जिसमें इस पुस्तक की समालोचना की गयी है। कुछ दिन पहले रूसी पत्र "बोल्शेविक" में एक और समालोचना प्रकाशित हुई थी जिसे भी **ए. एम. दायाकोव** ने ही लिखा था।

ब्रिटेन से प्रकाशित होनेवाले "मॉडर्न क्वार्टली" के १९५० के ग्रीष्म अंक में इस पुस्तक की एक विस्तृत समालोचना प्रकाशित हुई है। इसे वहां के "इंडोलौजिस्ट स्टडी ग्रुप" (प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन मंडल) ने तैयार किया था। १९५० के जनवरी महीने के "लेबर मंथली" में **रजनी पाम दत्त** ने इस पुस्तक की समालोचना की थी।

रूसी के अलावा चेक भाषा में इसका अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। चीनी भाषा में भी प्रकाशन के लिए इसका अनुवाद हो चुका है, जो शायद अब तक प्रकाशित हो गया होगा। पर मुझे इसकी जानकारी नहीं है कि इन अनुवादों में कोई समालोचनात्मक भूमिका है या नहीं।

दायाकोव, ओसीपोव, रजनी पाम दत्त और "**इंडोलौजिस्ट ग्रुप**"—ये सभी समालोचक इस बात में एकमत हैं कि मार्क्सवादी अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक मूल्यवान है। आखिर मैं इस बात का उल्लेख क्यों कर रहा हूं? इसलिए कि कुछ दिनों पहले भारत के कुछ समालोचकों ने इस पुस्तक को "हिन्दू पुनरुत्थानवादी" बताकर इसकी निन्दा की थी और कहा था कि इसमें तो मार्क्सवाद है ही नहीं। अतः प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में दिलचस्पी रखनेवालों की सुविधा के लिए मैं यह बता देना चाहता हूं कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास के अध्ययन को और आगे बढ़ाने में उन्हें इस पुस्तक से बहुत सहायता मिलेगी। प्रारम्भिक आदिम साम्य संघ, उसकी उत्पादन और वितरण प्रणाली, उसके विवाह और कुटुम्ब सम्बंध, आदि के बारे में जो बातें मैंने इस पुस्तक में कही हैं, वे किसी भी आलोचना से गलत प्रमाणित नहीं होती हैं।

विवाद का असल विषय दास प्रथा मालूम होती है? इसका कब जन्म हुआ? भारत में क्या इसकी कोई अपनी विशेषता थी? आदिम साम्य संघ के टूटने और वर्ग राजसत्ता के उदय के बाद की आर्थिक व्यवस्था पर क्या वह प्रमुखता से छायी हुई थी? अन्य उठनेवाले प्रश्न हैं: महाभारत युद्ध का स्वरूप क्या था? क्या आर्य नाम का कोई जातीय या सामाजिक समूह था और क्या उसने भारत पर आक्रमण किया था? ये सभी प्रश्न उठाये गये हैं और उनपर विचार किया जाना चाहिए। पर मुझे खेद है कि इस संक्षिप्त भूमिका में मैं यह सब नहीं कर सकूंगा।

फिर भी आलोचना के इस पहलू के सम्बंध में मैं एक बात बता देना चाहता हूं। इस पुस्तक का उद्देश्य दास प्रथा के विकास और ह्रास पर विचार करना नहीं है। इसका **मुख्य उद्देश्य** आदिम साम्य संघ और उसके अन्त, तथा वर्गों, दास प्रथा और दास राज्य के उदय पर विचार करना है। इस पुस्तक में विशेष रूप से उत्पादन की आदिम सामूहिक प्रणाली के विकास और उसके धार्मिक तथा वैचारिक आवरण के बारे में विचार किया गया है। दास प्रथा के उदय का उल्लेख तो केवल एक निष्कर्ष के रूप में किया गया है।

भारत में दास प्रथा प्रचलित थी—इस सम्बंध में कुछ आदर्शवादी हिन्दुओं को छोड़कर और कोई शंका नहीं उठाता। प्रश्न यह है: क्या रोम और यूनान की ही तरह यहां की आर्थिक व्यवस्था में भी उसका प्रमुख स्थान था? मैंने यह

बताया है कि दास प्रथा का स्वरूप यहां रोम और यूनान जैसा ही निखरा हुआ नहीं था। इसके कई कारण हैं जिसे मैं संक्षेप में बता देना चाहता हूं। मार्क्स ने भारत के ग्रामीण समाज में शिल्प और कृषि की एकरूपता का उल्लेख किया है। लेकिन स्पष्ट है कि इस एकरूपता का यह अर्थ नहीं है कि गांवों में वर्ग बने ही नहीं और वर्ग संघर्ष हुए ही नहीं, और न ही जमीन का सामाजिक स्वामित्व दास प्रथा और अर्ध-दास प्रथा के उदय को रोक सका। पर कुछ लोग ऐसा नहीं सोचते। यथार्थ यह है कि भारतीय कृषि की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप यहां की दास प्रथा की केवल कुछ अपनी विशेषताएं थीं। इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि कार्ल मार्क्स ने जिस भारतीय ग्रामीण समाज का वर्णन किया है, वह आदिम साम्य संघ के युग का समाज नहीं है।

पहले यह पुस्तक जब प्रकाशन के लिए तैयार की गयी थी, तो इसमें केवल तेरहवें अध्याय तक की ही सामग्री थी। बाद में इसमें मैंने दो अध्याय (१४ और १५) और जोड़ दिये। ऐसा मैंने इसलिए किया जिससे आदिम साम्य संघ के बाद आवश्यक रूप से आनेवाले वर्ग समाज, दास प्रथा और अर्ध-दास प्रथा के बारे में ऐतिहासिक भौतिकवाद की शिक्षा को पूरा कर दिया जाय। अतः स्वाभाविक रूप से विकास की इस दूसरी अवस्था का निरूपण इस पुस्तक में बहुत ही संक्षिप्त, अधूरा और दोषपूर्ण है।

"आर्यों" के नाम के प्रश्न पर मेरा कोई हठ नहीं है। परस्पर युद्ध में संलग्न जिन क़बीलों या गणों का वर्णन पुस्तक में किया गया है, उन्हें कोई दूसरा नाम भी दिया जा सकता है। मैंने तो "आर्य" नाम का चुनाव और प्रयोग केवल इसलिए किया है क्योंकि प्रचलित हिन्दू सिद्धान्तों और पूंजीवादी इतिहासों में "आर्य" नाम का ही प्रयोग होता है और उसे ही समझा जाता है। मैं समझता हूं कि एंगेल्स इस बारे में हिन्द-योरोपीय नाम का प्रयोग करते हैं। पर इस बारे में मैं संशोधन करने के लिए तैयार हूं। यदि "आर्य" नाम के प्रयोग से "नस्लों की उच्चता" के सिद्धान्त को अप्रत्यक्ष रूप से, या थोड़ा भी समर्थन मिलने की संभावना हो, तो इस नाम का प्रयोग नहीं होना चाहिए। **ए. एम. पंक्रातोवा** द्वारा सम्पादित "सोवियत संघ का इतिहास" नामक पुस्तक में शकों के आक्रमण का उल्लेख है। उसकी वजह से मैंने भी "आर्यों के प्रस्थान" की प्रचलित मान्यता को स्वीकार कर लिया, गोकि उपरोक्त इतिहास में इसका उल्लेख नहीं है। पर इस वर्णनात्मक नाम को हटा देने से भी आदिम साम्य संघ के बारे में मेरे मूल्यांकन में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

मैंने मोहेंजोदाड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों में निकली सामग्री और उससे निकलनेवाले निष्कर्ष पर इस पुस्तक में विचार नहीं किया है, यद्यपि मैंने उनका उल्लेख कर दिया है। ऐसा मैंने इसलिए किया क्योंकि मैं चाहता था कि इस

विषय पर तब लिखा जाय जब तथाकथित "प्राग्–आर्यकालीन" या "द्रविड़-कालीन" युग के इतिहास के सम्बंध में विचार किया जाय। इसे मैंने पुस्तक के दूसरे खंड के लिए रख छोड़ा है और यह बात मैंने पुस्तक के शुरू के भाग में स्पष्ट रूप से बता दी है।

यह आलोचना सही है कि नृपुरातत्व सम्बंधी नयी सामग्री का प्रयोग मैंने नहीं किया है। इसका कारण यह था कि पुस्तक मैंने जेल में लिखी थी; और वहां इन सामग्रियों को मैं प्राप्त नहीं कर सका।

पुस्तक के बारे में एक आपत्ति यह भी है कि इसमें एंगेल्स के लम्बे-लम्बे उद्धरण दिये गये हैं। इसका कारण यह है कि पुस्तक लिखते समय एक साथ ही दो लक्ष्यों को पूरा करने का ध्यान रखा गया था। पहला उद्देश्य यह था कि मार्क्स और एंगेल्स के विचारों को भारतीय इतिहास के उदाहरणों की सहायता से मैं आसान तरीके से पाठकों को समझा दूं। और उसके बाद मैं ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करना चाहता था। ये दोनों ही योजनाएं एक साथ मिल गयीं, और इसलिए लम्बे-लम्बे उद्धहरणों का प्रयोग हुआ। इसके अलावा एक कारण यह भी है कि जिस देश में मार्क्सवादी ग्रंथों का प्रचार बड़े पैमाने पर न हुआ हो, वहां ऐसी पुस्तकों में अपने सारांश या संक्षिप्त उद्धरणों को देने की अपेक्षा, मूल उद्धरण देना ही श्रेष्ठकर है।

आशा है कि कुछ प्रश्नों के बारे में पाठकों को इतने से संतोष हो जायगा।

आदिम साम्य संघ तथा अन्य विषयों पर इस पुस्तक में जो बातें बतायी गयी हैं, पाठक उनका विश्वास के साथ अध्ययन करें और उन्हें अपनी समझदारी का एक हिस्सा बनायें। पुस्तक में इन विषयों पर ऐतिहासिक भौतिकवाद का दृष्टिकोण सही रूप में प्रतिपादित हुआ है। यह आवश्यक नहीं कि पाठक इस बात से चिपके रहें कि जिन गणों या कबीलों का वर्णन इसमें है, उनका नाम "आर्य" ही था। नाम का प्रश्न इस समय महत्वपूर्ण नहीं है। मुख्य प्रश्न यह है कि वह समाज किस तरह की परिस्थिति में रहता था और उसका विकास क़िस तरह हुआ।

यह एकदम यथार्थ है कि भारत में दास प्रथा का उदय हुआ था और यहां वह फूला-फला था। महाभारत युद्ध के बारे में, उसमें संलग्न वर्गों और जनता के बारे में मैंने जो विश्लेषण चौदहवें अध्याय में दिया है, वह मुख्यत: और साररूप में सही है।

महाभारत युद्ध के बाद किन राज्यों और सामाजिक सम्बंधों का उदय हुआ, उसकी यथोचित चर्चा नहीं की गयी है। इसकी वजह से बाद की सामग्री के बारे में थोड़ी गलतफहमी भी पैदा हो गयी है। असल में देखा जाय तो इस

युग की ऐतिहासिक सामग्री का समावेश पुस्तक के दूसरे खंड में होना चाहिए। पुस्तक के दूसरे खंड में महाभारत युद्ध के अन्त के समय से लेकर उसके बाद १६ छोटे-छोटे राज्यों के उदय, बाद में चार बड़े राज्यों के राजवंशों में उनका विलीनीकरण और अन्त में नन्द वंश के विशाल साम्राज्य की स्थापना के काल पर विचार किया जाना चाहिए।

इस युग का अध्ययन एक पेचीदा विषय है क्योंकि इसमें दास प्रथा, ग्रामीण समाज के गण युद्धों और बौद्ध धर्म के उदय, आदि जैसे प्रश्नों का समावेश है। उदाहरण के लिए केवल इस एक बात को ले लीजिए कि नन्द वंश के साम्राज्य में विशाल सैनिक शक्ति थी जिसमें हजारों घुड़सवार और पैदल सैनिक थे और हाथी की सेना भी थी। इससे प्रश्न यह उठता है कि इस विशाल सेना को तनखा और भोजन कहां से दिया जाता था? इसके लिए रुपया कहां से आता था? ऐसे राज्य का बोझ संभालनेवाली उस समय की प्रमुख उत्पादन प्रणाली कैसी थी? उस युग में जनता की क्या स्थिति थी, जो इन तमाम चीजों का भार अपने कंधों पर संभालती थी?

महाभारत युद्ध के बाद इन प्रश्नों को समझने के लिए हमें जिन सामग्रियों से सहायता मिलती है, वे हैं—जातक कथाएं और दूसरे बौद्ध-कालीन साहित्य, कौटिल्य का अर्थशास्त्र और उसमें वर्णित वर्ग अर्थ-व्यवस्था, अशोक-कालीन नियम और कुछ स्मृतियां। अशोक की मृत्यु और मौर्य वंश के ह्रास के बाद दूसरा काल समाप्त हो जाना चाहिए।

समय की कमी के कारण मैं इस कार्य को अभी तक हाथ में नहीं ले सका, इसका मुझे खेद है। लेकिन मैं आशा करता हूं कि इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले दूसरे विद्वान इसे अपने हाथ में जरूर लेंगे।

बम्बई
२४ अप्रैल, १९५२ लेखक

पहले संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का मुख्य भाग यरवदा जेल में अक्तूबर सन १९४२ से लेकर जनवरी सन १९४३ तक लिखा गया था।

इसलिए विषय के निरूपण में पाठक को कुछ कमियों का अनुभव अवश्य होगा।

विषय का निरूपण जितनी पूर्णता और व्यापकता के साथ होना चाहिए था, उतना नहीं हो सका है। संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रंथों और आधुनिक विद्वानों द्वारा सम्पूर्ण संकलित सामग्री का उपयोग भी नहीं हो सका है।

फिर भी आशा है कि भविष्य में मुझसे कोई अधिक योग्य विद्वान इस काम को अपने हाथ में लेंगे और हमारे मेहनतकश वर्ग के लिए सफलतापूर्वक इस विषय का निरूपण कर सकेंगे।

इसे लिखते समय कोई पुस्तक लिखने का मेरा उद्देश्य नहीं था। यरवदा जेल में मेरे साथ बहुत से राजबन्दी थे। वे बहुत से सवाल उठाते थे और मुझसे उत्तर देने के लिए कहते थे। उन्हीं उत्तरों के फलस्वरूप इस पुस्तक की रचना हुई।

उस समय स्तालिनग्राद का युद्ध अपने सम्पूर्ण वेग में चल रहा था। युद्ध और समाजवाद के बारे में, वर्ग संघर्ष और सोवियत व्यवस्था की उत्कृष्टता, आदि के बारे में निरन्तर प्रश्न उठाये जाते थे।

ये युद्ध क्यों होते हैं? एक युद्ध और दूसरे युद्ध में क्या अन्तर है? वर्ग की परिभाषा क्या है? शासन-सत्ता का अर्थ क्या है? एक शासन-सत्ता और दूसरी शासन-सत्ता में क्या भेद है? वह भेद क्यों होता है? युद्धों को सदा के लिए कैसे रोका जाय? क्या हर युग में मानव समाज के लिए शासन-सत्ता और सरकार की आवश्यकता बनी रहेगी? दरिद्रता के प्रश्न को कैसे हल किया जाय? आदि, आदि।

कुछ समय के लिए कांग्रेसी राजनीतिक बन्दियों से मिलने-जुलने की आज्ञा मुझे मिल गयी थी। आपस की बातचीत से मुझे ऐसा लगा कि जब तक समस्या की मूल में पैठा न जायगा—जब तक ऐतिहासिक भौतिकवाद के दृष्टि-कोण से भारतीय समाज में वर्ग तथा शासन-सत्ता की उत्पत्ति और विकास का

निरूपण नहीं होगा, तब तक समस्या वहीं की वहीं रह जायगी, और उनको कोई भी संतोषप्रद उत्तर नहीं मिलेगा। वे लोग हमारे देश के नवयुवक थे और समस्या के हल को समझना तथा जानना चाहते थे।

पर जेल में शीघ्र ही कुछ ऐसी घटनाएं हो गयीं जिनके कारण अंग्रेज जेलरों ने हमारे मिलने-जुलने को एकदम बन्द कर दिया।

जेल से छूटने के बाद विश्व मजदूर संघ के अधिवेशन में भाग लेने के लिए मुझे योरप जाना पड़ा। इस पुस्तक का काम फिर पीछे पड़ गया। मजदूरों के दिन प्रति दिन के संघर्ष वेग से उठ रहे थे और मेरा ध्यान अपनी ओर खींच रहे थे।

१४ जनवरी सन १९४७ को फिर एक घटना हो गयी। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने एक छोटी पुस्तिका **आपरेशन असाइलम** प्रकाशित की थी। इस पुस्तिका में भारत के खिलाफ अंग्रेजी सरकार की एक गुप्त फौजी योजना का भंडाफोड़ किया गया था। उस समय भारत के गृहमंत्री सरदार पटेल थे। उनकी आज्ञा से इस पुस्तिका के सिलसिले में देशव्यापी तलाशियां ली गयीं। कम्युनिस्ट पार्टी के सभी दफ्तरों, तथा कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख सदस्यों के घरों की तलाशियां हुईं। उस तलाशी में इस पुस्तक के भी कुछ पृष्ठ पुलिस उठा ले गयी। संस्कृत भाषा के उद्धरणों को देखकर शायद उसे यह शंका हुई थी कि किसी संकेत भाषा में कुछ लिखा गया है। लेकिन बाद में मुझे वे सब वापस मिल गये।

परन्तु एक प्रश्न और उठता है कि क्या इस विषय पर समय खर्च करना आवश्यक है, क्योंकि पुस्तक का विषय केवल यह है कि प्राचीन भारत में परिवार, निजी सम्पत्ति, वर्ग और शासन-सत्ता का जन्म कैसे हुआ था।

यदि उसके उत्तर में मैं लेनिन का एक उद्धरण दूं तो पाठकों के लिए अच्छा होगा।

सन १९१९ में शासन-सत्ता के विषय पर भाषण करते हुए लेनिन ने स्वेर्दलोव विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों से यह कहा था :

> "...'शासन-सत्ता' का प्रश्न बहुत जटिल है। पूंजीवादी विद्वानों और लेखकों ने इस प्रश्न को और भी उलझा दिया है। इसलिए जो कोई भी इस समस्या को गंभीरता से समझना चाहता है या इस विषय पर अधिकार प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि वह सतत रूप से, प्रत्येक दृष्टिकोण से इसका अध्ययन और मनन करे। अगर प्रत्येक दृष्टिकोण से इस समस्या का समाधान या अध्ययन नहीं किया जायगा, तो इसे स्पष्ट रूप से समझा नहीं जा सकता। शासन-सत्ता का प्रश्न राजनीति का आधारमूलक प्रश्न है, इसलिए इसका सामना बार-बार करना

पड़ता है। वर्तमान समय के उथल-पुथल और संघर्ष के दिनों में ही नहीं, बल्कि शांति की अवस्था में भी किसी राजनीतिक या आर्थिक समस्या के सम्बंध में यह (शासन-सत्ता का) सवाल किसी भी दैनिक पत्र में उठता हुआ पाया जायगा।"

(**मार्क्स-एंगेल्स-मार्क्सवाद**, मास्को, १९५१, पृष्ठ ४९१)

पूंजीवादी विज्ञान के प्रतिनिधियों ने शासन-सत्ता के प्रश्न को किस प्रकार उलझाया है, इसके विषय में लेनिन ने कहा है :

"आज तक इस (शासन-सत्ता के) प्रश्न को प्रायः धार्मिक प्रश्नों के साथ उलझा दिया जाता है। केवल धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिनिधि ही ऐसा नहीं करते (उनसे तो इस बात की आशा आसानी से की जा सकती है), बल्कि वे लोग भी जो अपने को धार्मिक भावनाओं से मुक्त समझते हैं, प्रायः शासन-सत्ता की विशेष समस्या को धार्मिक प्रश्नों से उलझा देते हैं और सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण के आधार पर एक ऐसे जटिल सिद्धान्त की रचना करते हैं जिसके अनुसार शासन-सत्ता एक दैवी या अलौकिक वस्तु मानी जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार शासन-सत्ता वह शक्ति है जिसके सहारे मानव समाज जीवित रह सका है—यह कोई ऐसी शक्ति है जो जनता को कुछ देती है या दे सकती है, यह अपने साथ कोई दैवी या अलौकिक वस्तु लाती है — और जिसे मानव समाज में नहीं पाया जा सकता। यह शक्ति मानव समाज को अपने अन्दर से नहीं बल्कि बाहर से प्राप्त हुई है और इस प्रकार से यह शक्ति किसी दैवी स्रोत से जन्मी है। यह कहना चाहिए कि शासन-सत्ता के इस सिद्धान्त का सम्बंध समाज के शोषक वर्गों के स्वार्थों से सीधा जुड़ा हुआ है। सामन्त और पूंजीपति, समाज के शोषक वर्ग हैं। यह सिद्धान्त उनके स्वार्थों की सेवा करता है; और इस सीमा तक सेवा करता है कि पूंजीपति सज्जनों तथा उनके प्रतिनिधियों की रूढ़ियों, विचारों और विज्ञानों में यह सिद्धान्त इतना व्याप्त हो गया है कि इसके अंश सर्वत्र दिखाई देते हैं। यहां तक कि उन मेंशेविकों और समाज-वादी क्रान्तिकारियों के शासन-सत्ता सम्बंधी सिद्धांतों में भी इस सिद्धान्त की छाया मिल सकती है, जो इस बात से सर्वथा इनकार करते हैं कि वे धार्मिक भावनाओं से प्रभावित हैं और इसका दावा करते हैं कि शासन-सत्ता के प्रश्न को वे गंभीर दृष्टिकोण से देख सकते हैं। चूंकि इस समस्या का प्रभाव सीधे रूप से शासक वर्गों के स्वार्थों पर पड़ता है,

इसीलिए इसे इतना जटिल और उलझनों से भरा हुआ बना दिया गया है (केवल इस अंश में इस समस्या की तुलना आर्थिक विज्ञान की नीवों की समस्याओं से की जा सकती है) ।"

(**उपरोक्त पुस्तक**, पृष्ठ ४६१–६३)

क्या हमारे देश के मेंशेविक और सोशलिस्ट इसे ध्यान से पढ़ेंगे ?

विद्यार्थियों को यह बताते हुए कि इस समस्या का समाधान किस प्रकार से करना चाहिए, लेनिन ने कहा है :

"जहां तक संभव है, वहां तक इस समस्या पर वैज्ञानिक ढंग से विचार के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले राज्य की उत्पत्ति और विकास के इतिहास पर दृष्टि डाली जाय। समाज विज्ञान की किसी समस्या का विश्वस्त ढंग से समाधान करने के लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तु समस्या के मूल में ऐतिहासिक सम्बंधों को स्पष्टता से देखना है। इसके द्वारा वास्तव में समस्या को ठीक दृष्टिकोण से देखने की आदत पड़ जाती है, और अपने को विवरणों की सघनता में अथवा मतभेदों की उलझनों में खोने से बचाया जा सकता है। किसी भी समस्या को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने के लिए परमावश्यक है कि उस समस्या के अन्दर निहित ऐतिहासिक सम्बंधों को न भूला जाय। प्रत्येक समस्या का विश्लेषण इस दृष्टिकोण से करना चाहिए कि किसी गोचर पदार्थ या तत्व का जन्म इतिहास में किस प्रकार से हुआ है, अपने विकास-क्रम में इस तत्व ने कितने क्रमों को पार किया है, और तब उसकी प्रगति के दृष्टिकोण से यह परीक्षा करनी चाहिए कि उस तत्व का आधुनिक रूप क्या है ?"

(**उपरोक्त पुस्तक**, पृष्ठ ४६३–६४)

आगे चल कर लेनिन ने फिर कहा :

"मैं आशा करता हूं कि शासन-सत्ता की समस्या का समाधान करने के लिए आप एंगेल्स की पुस्तक **परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति** का परिचय अवश्य प्राप्त करेंगे। आधुनिक समाजवाद की मूल पुस्तकों में से यह एक है।"

(**उपरोक्त पुस्तक**, पृष्ठ ४६४)

इसलिए जैसा पाठक देखेंगे, यह पुस्तक एंगेल्स के उपरोक्त ग्रंथ का अनुसरण करते हुए लिखी गयी है। भारतीय इतिहास के सम्बंध में उन्हीं विषयों को

लिया गया है जिनके बारे में दुर्भाग्य से अपने विख्यात ग्रंथ की रचना करते समय एंगेल्स को यथेष्ट सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी थी। इस भूमिका में मैं न तो उन ग्रंथों के बारे में विवाद करने की इच्छा रखता हूं जिनका उपयोग मैंने किया है और न उन अनेक मित्रों को धन्यवाद देने की बात ही उठाना चाहता हूं जिन्होंने पुस्तकें आदि देकर अपना अमूल्य सहयोग मुझे प्रदान किया है। इस काम को मैं इस ग्रंथ के "द्वितीय भाग" के लिए स्थगित करता हूं—अगर कभी उसे समय के प्रकाश को देखने का अवसर प्राप्त हो सका।

श्रीपाद अमृत डांगे

परिचय

भारतीय इतिहास के अध्ययन की आधुनिक प्रवृत्तियां

विश्व के उन देशों में से भारत एक है जो बहुत प्राचीन समय में ही मानव की सभ्यताओं का केन्द्र बन गये थे। विश्व के उन सात देशों में से भारत भी एक देश था जहां पर सबसे पहले अन्न के पौधे उगे थे।[1] आदमी ने सबसे पहले यहां पर अन्न के दानों को भूमि पर से उठाया था, उनको साफ किया था और दूर-दूर के क्षेत्रों में उनका प्रसार किया था। अभी तक इस प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं मिल सका है कि किस भू-भाग में आदिम युग का मानव चार पैरवाले पशुओं से विकसित होकर उनसे भिन्न हुआ और साधनों या औजारों की रचना करनेवाला दो हाथों से युक्त सामाजिक प्राणी बन गया? किस स्थान पर सबसे पहले वन्य प्रकृति से संघर्ष करते हुए जीवित रहकर वह पूरी दुनिया में अपना विकास करने में सफल हुआ था? चीन, जावा, योरप, अफ्रीका, आदि देशों में पुरातन मानव के कंकाल, हड्डियां और सिर के ढांचे प्राप्त हुए हैं। इनके अध्ययन के आधार पर वैज्ञानिकों ने नृतत्वविज्ञान (एंथ्रोपालॉजी) द्वारा इस पुरातन मानव के विषय में ज्ञान प्राप्त किया है। और जो लोग उस पुरातन मानव की "गरिमा" से भारत को भी विभूषित देखना चाहते हैं, वे सिवालिक पहाड़ियों[2] की ओर संकेत करते हुए उसके चारों ओर के प्रदेश की खोज के आधार पर यह कह सकते हैं कि हमारे भारत में भी अर्ध-मनुष्य और अर्ध-पशु के अस्तित्व के चिन्ह मिलते हैं। इससे हमारा देश इस गौरव से भी गौरवान्वित हो जाता है कि सब से प्राचीन मानवीय सभ्यता का जन्म और पालन-पोषण यहीं पर हुआ था। भारतीय इतिहास के स्वदेशीय विद्वान लेखक अपनी सभ्यता की प्राचीनता के विषय पर विशेष ध्यान देते हैं।

---

१. एन. आई. वावीलोव—"साइंस एट क्रॉसरोड्स।"

२. एफ बोआस—"एंथ्रोपालॉजी।"

भारतीय इतिहासकारों और लेखकों में इस बात को प्रमाणित करने की चेष्टा उन्मत्तता की सीमा तक पहुंच गयी है कि हम केवल प्राचीन ही नहीं हैं, बल्कि सभ्यताओं का अंश बनकर आज जिन वस्तुओं का भी अस्तित्व हम देखते हैं—विज्ञान, दर्शन, राजनीति, आदि—वे सब हमारी सभ्यता में एक दिन थीं और उन्हें हम जानते थे। यदि कान्ट एक महान दार्शनिक थे तो हमारे शंकराचार्य उनसे भी महान दार्शनिक थे। अगर साहित्य की रचना में शेक्सपियर श्रेष्ठ थे तो हमारे कालिदास उनसे भी श्रेष्ठ साहित्यकार थे। अगर तुम्हारे पास राजनीति में रूसो की लिखी हुई पुस्तक **सामाजिक करारनामा** है, तो हमारे पास भी वैसी पुस्तकें हैं। हमारे भारत में वायुयान, रेलगाड़ियां और विस्फोटक, आदि सभी वस्तुएं थीं। और यह सभी वस्तुएं हमारे पास उस समय थीं जब अंग्रेज या योरप के निवासी रीछों की खालों से अपने शरीर को ढंकते थे।

हमारे इतिहासकारों के लिए यही विचार यथार्थ प्रेरणा शक्ति था। हमने अपने प्राचीन खंडहरों और खाइयों को खोदा, अपने **भोजपत्रों** और हस्तलिपियों का अध्ययन किया और अपने उस शत्रु के विरोध में सुरक्षा पंक्ति की रचना की जो हमारा नाश कर देना चाहता था। भारत के अंग्रेज शासकों ने भारतीय इतिहास का प्रयोग उसके उठते हुए स्वाधीनता आन्दोलन को पस्तहिम्मत करने के लिए किया—जनक्रान्ति के नेताओं में यह भावना बैठालने के लिए एक अस्त्र की तरह उसका प्रयोग किया कि विश्व इतिहास की तुलना में भारतीय इतिहास तथा उसकी जनता की महत्ता और उसकी सफलताएं नगण्य हैं, और जो भी इस इतिहास में मिलता है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत देश और इसकी जनता इसी योग्य थी कि उस पर विदेशी आक्रमण हुआ करे और वह विदेशियों की दासता किया करे। भारत के भूगोल, उसकी जलवायु तथा उसकी संस्कृति ने मिलकर उसका ऐसा ही भाग्य रचा है। **कैम्ब्रिज इतिहास** तथा अन्य इतिहासों[३] के गंभीर और उत्तरदायी लेखकों ने इसी मत का प्रचार किया। इस मत का खंडन करने के लिए हमारे इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारतीय इतिहास से ही आज के मानव का विश्व इतिहास प्रारम्भ होता है। जिनके वंशधर आज भी भारत के प्रमुख निवासी हैं, वे आर्य कई हजार वर्ष पहले उत्तरी ध्रुव प्रदेश[४] के निकट से चलकर चारों दिशाओं में फैले थे, और भारत में आकर उन्होंने उन सर्वोत्तम वस्तुओं का निर्माण किया था जिनका निर्माण अन्यत्र लोग नहीं कर सके—और न भविष्य में कर ही

३. फ्रेज़र—"प्राचीन इतिहास का परिचय।"

४. तिलक—"आर्कटिक होम इन द वेदाज।" बाल गंगाधर तिलक कहते हैं कि अपने सिद्धांत से उन्होंने यह सिद्ध किया है कि—"आर्यों की अन्तरध्रुव प्रादेशिक सभ्यता और संस्कृति उससे अधिक श्रेष्ठ थी जितना उसके बारे में अनुमान किया

सकेंगे। इस प्रकार उन्होंने इस बात से इनकार कर दिया कि उनका नाश कोई कर सकता है।

अंग्रेजी राज के विरोध में संघर्ष के लिए भारतीय इतिहास को इस उग्र रूप में लिखना निस्सन्देह उपयोगी था। लेकिन भारतीय राष्ट्रवादी को जहां इस इतिहास ने एक प्रकार का नैतिक साहस दिया, वहीं प्राचीनता के विषय में उसने एक मिथ्या मूल्यांकन की भावना भी सौंप दी। इस कारण वह प्रत्येक पुरानी वस्तु को आदरणीय और श्रद्धेय मानने लगा—चाहे वर्तमान में वह वस्तु अहितकारी या प्रगति-विरोधी ही क्यों न हो गयी हो।

इतिहास के विद्यार्थी आज उन लाखों शब्दों को पढ़कर अपना मनोरंजन कर सकते हैं जिनका उपयोग इस प्रकार के विवादों में हुआ करता था—जैसे शिवाजी के हाथों से अफजल खां का मारा जाना नैतिक था या अनैतिक, क्या वह एक साधारण "हत्या" थी, या किसी "छल-योजना द्वारा उसे मारा गया" था, अथवा युद्ध के अवसर की वह यथोचित हत्या थी? भारत के अंग्रेज शासकों का यह मत था कि भारत वैज्ञानिक जनवादी संस्थाओं के योग्य नहीं है। इस मत के खंडन में श्री जायसवाल ने अपना विख्यात ग्रंथ **प्राचीन हिन्दू गणतंत्र** लिखा। उसमें उन्होंने यह सिद्ध किया कि प्राचीन भारत में "गण राज्यों" और "स्वायत्त लोकतंत्रवादी राज्यों" का अस्तित्व था। अंग्रेज अपने को यूनान और रोम की प्राचीन संस्कृति का उत्तराधिकारी समझते थे—इसलिए उन संस्कृतियों को सर्वश्रेष्ठ मानते थे और प्राचीन सभ्यता में अपने को तथा मिश्र और फिलस्तीन को सर्वप्रथम बतलाते थे। **महाभारत** में भी कोई अर्थ या तत्व है, इसको वे मानते ही नहीं थे। हिन्दुओं के **वेद** प्रामाणिक इतिहास लेख हैं या उन यूनानियों से भारत का इतिहास प्राचीन है, जिनके सिकन्दर ने भारत के कुछ भागों पर एक दिन विजय प्राप्त की थी—यह भी वे नहीं मानते थे।

हमारे विद्वानों को कठोर तपस्या और संघर्ष करना पड़ा। अपनी संस्कृति की प्राचीनता प्रमाणित करने के लिए हमारे पास प्रिस्से के हस्तलेख, गीजे के पिरामिड, जो भौतिक रूप में अकाट्य प्रमाण हैं, अखनातोन और तुतनखामेन के युगों पुराने सुरक्षित शव तथा उर और बेबीलोन में खुदाई के बाद निकले हुए प्राचीन नगर नहीं थे। विदेशी शासक का नृपुरातत्व विभाग इन बातों में कोई रुचि नहीं रखता था। शासन-सत्ता या देश के धनिकों से बिना किसी प्रकार की सहायता पाये हुए हमारे इतिहासकारों ने अपनी सामग्री को एकत्रित करने

जाता है। और इसका कोई कारण नहीं है कि प्राचीन आर्यो को संस्कृति और सभ्यता के दृष्टिकोण से मिश्र देश के प्रागैतिहासिक निवासियों के समकक्ष न रखा जा सके।" (सन १९२५ का संस्करण, पृष्ठ ४६४)

के लिए बहुत परिश्रम किया। राजाओं के ताम्रपत्र जिन पर ब्राह्मणों को दिये हुए दान अंकित थे, प्रस्तर लेख, मुद्रा तथा उन लेखों का—जैसे अशोक स्तम्भ पर खुदे मिलते हैं—संकलन उन विद्वानों ने किया जिससे कि वे अपने अतीत को प्रकाश में ला सकें। धार्मिक ग्रंथों में प्राप्त ज्योतिष सम्बंधी निरीक्षणों ने हमारी ऐतिहासिक स्मृति को ईसा पूर्व तीन हजार वर्षों से लेकर चार हजार वर्षों तक की प्राचीनता में पहुंचा दिया था। लेकिन इन निरीक्षणों को इतिहास का विश्वास प्राप्त नहीं हो सका था।[५]

परन्तु अन्त में एक यथार्थ नगर का पता लगा और उसे खोदा गया। यह नगर सिंध प्रदेश में मोहेंजोदाड़ो स्थान पर मिला था। उसके निरीक्षण के आधार पर योरप के शासकों को भी यह मानना पड़ा कि इस स्थान पर ईसा पूर्व तीन हजार वर्षों की प्राचीन सभ्यता के चिन्ह मिलते हैं। मानो तब यह प्रमाणित हो गया कि हम लोग मिश्र, यूनान, रोम, चाल्डी, आदि के निवासियों से कम प्राचीन नहीं हैं। इसलिए हमारा देश एक प्राचीन देश है, हमारी जनता प्राचीन ऐतिहासिक ज्ञान द्वारा बुद्धिमान है—हमारे पास महान स्मृति है। इसलिए हम में जीवित रहने की शक्ति है, हम संघर्ष कर सकते हैं और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ सकते हैं।

हमारे लिए यह संभव नहीं है कि हम पूरे इतिहास सम्बंधी साहित्य का निरीक्षण करें अथवा उन असंख्य त्यागों की चर्चा करें जिन्हें हमारे विद्वानों ने अपने देश के प्राचीन इतिहास की क्रमबद्ध रचना करते समय किया था। तिलक, राजवादे, रानाडे, जायसवाल, पग्रोगी, कुन्ते, भंडारकर, केतकर तथा अन्य अनेक विद्वानों ने (जिनमें योरप के कुछ विद्वान भी सम्मिलित हैं)—जिनकी पूरी सूची देना यहां संभव नहीं है—भारतीय इतिहास की रूपरेखा को लेखबद्ध करने में यथेष्ट कार्य किया है। कुछ मात्रा में प्रकृत सामग्री भी प्रकाशित हुई है। किन्तु अभी तक अधिकांश सामग्री केवल एक लक्ष्य को ही सामने रखकर उपस्थित की गयी है—योरप के (अंग्रेज) लेखकों के भारतीय इतिहास सम्बंधी मतों का खंडन करना। इस प्रकार से इतिहास-लेखन राष्ट्रीय संघर्ष का एक अस्त्र था जिसका प्रयोग उन्नीसवीं सदी के हमारे लेखकों ने लक्ष्यपरक होकर किया।

---

५. तिलक लिखित "ओरायन" और दीक्षित लिखित "वेदांग ज्योतिष" देखिए। अनेक लेखकों के वे लेख भी देखिए जिनमें महाभारत युद्ध की तिथि अथवा वेदों के तिथियों के विषय में विवाद किया गया है। योरप के लेखकों ने वेदों के लिए सबसे अधिक प्राचीन समय ईसा पूर्व १५०० वर्ष और महाभारत युद्ध के लिए ईसा पूर्व १००० वर्ष बताया है। दूसरी ओर वे लोग सुमेरी, मिश्र-देशीय तथा अन्य पुरातन संस्कृतियों को ईसा पूर्व ४००० वर्षों से लेकर ६००० वर्षों तक का मानते हैं।

उनके लिए इतिहास का अर्थ केवल उस निरपेक्ष यथार्थ या सत्य की खोज मात्र नहीं था जिसकी खोज अभी तक नहीं हो सकी थी, और अगर खोज हो भी गयी थी तो उसका गलत उपयोग हो रहा था । उदासीन भाव से यह यथार्थों की खोज भी नहीं था । ऐसा लगता था मानो ये यथार्थ किसी सेना की सुरक्षा पंक्ति के समान युद्ध में खड़े कर दिये गये थे । निस्सन्देह वे सत्य और यथार्थ थे, किन्तु उनको इस प्रकार से व्यक्त किया गया था जिससे कि वे शत्रु के खिलाफ संघर्ष कर सकें ।

अफजल खां मारे गये थे—यह एक सत्य घटना है । किन्तु इंस घटना को उपयुक्त भूमिका से सम्बंधित करते हुए अगर व्यक्त किया जाय और अंग्रेजों की भांति यह तर्क न दिया जाय कि शिवाजी एक कपटी और छली व्यक्ति थे, सब मराठे उन्हीं की तरह के थे और उनकी नैतिकता पतित थी, तभी उसका सत्य व्यक्त हो सकता है । अशोक स्तम्भ एक सत्य है—एक यथार्थ है, और उसकी आयु यह व्यक्त करती है कि आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले हम बहुत अच्छे गुणों का प्रचार करते थे और बहुत सुन्दर साम्राज्य के निवासी थे । पांच हजार वर्ष पहले मोहेंजोदाड़ो में स्नानागार थे, पक्के खपरैलों का उपयोग होता था और एक नगर का निर्माण हो सका था । इसलिए ऐसा न कहो कि जब तक तुमने यहां आकर हम लोगों को शिक्षा नहीं दी थी, तब तक हम सभ्य नहीं थे और तुम्हारे बिना हम फिर सभ्य नहीं रह सकते ।

उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ में हमारे विद्वानों के लिए इतिहास-लेखन साम्राज्यवादी शासकों के खिलाफ भारतीय राष्ट्रवादी संग्राम का एक सैद्धांतिक अस्त्र था—या यों कहें कि इतिहास-लेखन प्राचीनता, परम्परा, पुरातन शक्ति और बुद्धि के आधार पर स्वाधीनता के अधिकार का दावा था । अपने पाठकों में विदेशी आक्रमणकारियों को चुनौती देने के लिए वह प्रेरणा भरता था और उन्हें आक्रमणकारियों के सामने कायरतावश झुकने नहीं देता था । जिस प्रकार प्राचीन युगों में हम विजयी होकर अपने को जीवित रखने में सफल हो सके थे, उसी प्रकार भविष्य में विजय प्राप्त करने और जीवित रहने का विश्वास उससे प्राप्त होता था ।

लेकिन इतिहास के प्रति इस दृष्टिकोण ने विदेशी आक्रमणकारियों के खिलाफ एक आत्म-विश्वास और नैतिक साहस पैदा करने के सिवा और कुछ नहीं किया ।

इस स्थान पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि ये विद्वान किन लोगों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और किन लोगों में नैतिक साहस और आत्म-विश्वास जगा रहे थे ? इतिहास का यह एक यथार्थ है कि भारतीय जनता के प्रमुख बहुसंख्यक भाग ने प्रथम विश्व युद्ध के बादवाले पहले आर्थिक संकट के समय

तक कभी भी अंग्रेजी राज के खिलाफ क्रान्तिकारी आन्दोलनों में भाग नहीं लिया था। सन १९०५ के संकट तक जो बुद्धिजीवी राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे, वे संघर्ष की प्रेरणा और नारे देने के लिए जनता में प्रवेश नहीं कर सके थे। निम्न-पूंजीवादी नेतृत्व और उदार पूंजीपति—जो ऐतिहासिक कृतियों के द्वारा अपने विचार प्रकट कर रहे थे—अभी तक डोमीनियन व्यवस्था के लक्ष्य की रचना करने में लगे हुए थे, यानी इस लक्ष्य के द्वारा वे अपने को सत्तारूढ़ साम्राज्यवादी पूंजीपति के पद तक उठाने की योग्यता और अधिकार का दावा कर रहे थे। उसी प्रकार की आर्थिक व्यवस्था तथा वैधानिक धारासभा व्यवस्था, आदि को अपने साथ वे भी रखना चाहते थे।

भारतीय इतिहास की शिक्षाओं का प्रयोग यहां के उठते हुए पूंजीपति वर्ग तथा उसके बुद्धिजीवियों ने अपने वर्ग और राष्ट्रीय हितों तथा उद्देश्यों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए किया—इसे उस युग के लेखकों और उनकी कुछ प्रतिनिधि रचनाओं में स्पष्टता से देखा जा सकता है। भारतीय पूंजीपति स्वयं अपने लक्ष्य को एकमत होकर समझ नहीं पाये थे—इस स्तर तक उनकी चेतना का विकास नहीं हो सका था। उनकी दुर्बलताएं, उनके अन्तर्विरोध और परस्पर-विरोधी राजनीतिक लक्ष्य इतिहास सम्बंधी लेखों में उस समय उभरकर व्यक्त होने लगते थे, जब अंग्रेजी राज के खिलाफ राजनीतिक संघर्ष के **साधन** और **साध्य** का प्रमुख प्रश्न उठाया जाता था। जहां तक आज की दरिद्रता और पतन की तुलना में भारत की प्राचीनता, परम्परा, प्राचीन धर्म और बुद्धिमत्ता के विषय में इतिहास के निष्कर्ष निकले थे, उन्हें सभी लोग एकमत से स्वीकार करते थे; लेकिन जब यह प्रश्न उठाया जाता कि वर्तमान संघर्ष में प्रयुक्त होनेवाले सामाजिक और राजनीतिक अस्त्रों को किस ऐतिहासिक युग के शस्त्रागार से लें, तो पूंजीपतियों और उनके बुद्धिजीवियों में तीव्र मतभेद हो जाते थे। अपने प्राचीन अतीत के विषय में जो एकमत दिखाई पड़ता था, वह खंड-खंड होकर बिखर जाता था। ऐतिहासिक यथार्थों, व्यक्तियों और युगों को नये ढंग से अध्ययन करने के बाद इन दृष्टिकोणों से लिखा गया :

पहला : साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष की समस्याओं को सुलझाने के सम्बंध में प्रत्येक पूंजीपति गुट के अपने राजनीतिक लक्ष्य के अनुसार; और

दूसरा : भारत के शोषक वर्ग, यानी सामन्ती-जमींदारों और पूंजीपति वर्ग का जो दृष्टिकोण देश की असंख्य शोषित जनता के प्रति—उस जनता के प्रति जो विदेशी और देशी दोनों प्रकार के पूंजीपतियों के सामने बंधन में पड़े दास के समान थी—होता था, उसके अनुसार।

अंग्रेजों की विजय के खिलाफ संघर्ष करने के लिए साधन और क्षेत्र पाने की समस्या इस प्रश्न को भी सामने ला देती थी कि मुगलों और मराठों को परा-

जित करने में अंग्रेज क्यों सफल हुए ? विशेषकर मराठा शक्ति को वे कैसे पराजित कर सके ? मराठों के साथ ही अंग्रेजों को ऐसे गंभीर युद्ध लड़ने पड़े थे जिन्हें जीत कर उन्होंने भारत पर पूरा अधिकार पा लिया था। अंग्रेजों से पहले भारत पर विजय प्राप्त करनेवाली शक्ति मुगलों की शक्ति थी। लेकिन मराठों ने शिवाजी के नेतृत्व में इस शक्ति को हरा दिया था। तब मराठा शक्ति अंग्रेजों के मुकाबले क्यों असफल रही, जब कि यही मराठा शक्ति मुगलों के मुकाबले सफल रही थी ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर यदि समुचित रूप से दे दिया जाय, तो इस बात का भी यथेष्ट और यथार्थ उत्तर मिल सकेगा कि नये विजेताओं की पराधीनता से छुटकारा पाने के लिए हम किन साधनों का प्रयोग करें ? इतिहासकारों ने इन प्रश्नों का अध्ययन बहुत गंभीरता और उत्साह से किया। मराठा-मुगल सम्बंधों की स्मृति अभी लोगों के मस्तिष्कों में ताजी थी, क्योंकि ये सम्बंध समाज के यथार्थ का अभी तक अंश बने हुए थे; इसलिए मध्य-वर्गीय बुद्धिजीवियों और राष्ट्रीय-पूंजीवादी अखबारों ने इस समस्या के विवाद में यथेष्ट ध्यान लगाया।

ऐतिहासिक सामग्री के अभाव और विदेशी शासकों की बाधाओं ने इतिहास के अध्ययन में भी काफी रुकावटें डालीं। इतिहास के विद्यार्थियों को मराठा दरबारों के प्रमाणिक लेखों तथा दूसरे प्रमाण पत्रों को नहीं देखने दिया गया। मराठों और मुगलों के खंडहरों पर जिनके महलों का निर्माण हुआ था, अपने नये स्वामियों में जिनकी अपार भक्ति थी, और जिन्हें दूषित उपायों द्वारा शासन का अधिकार हासिल हुआ था, उन राजघरानों ने अपने शासन के अधिकार छिन जाने के भय से अपने पास के प्रामाणिक लेखों को दिखाने से इनकार कर दिया। बड़े सामन्ती जमींदार और पुराने रईस, इतिहासकारों को दूर ही रखते थे; क्योंकि ये लोग इस बात से भयभीत थे कि उनके पास जो सामग्री है, उसका ज्ञान कहीं जनता को न हो जाय, और उनके अतीत का सारा रहस्य कहीं प्रकाश में न आ जाय। फिर भी इतिहास के विद्यार्थियों ने धैर्य और परिश्रम से काम लिया और इसके फलस्वरूप यथेष्ट ऐतिहासिक सामग्री संकलित करने में वे सफल हुए। और तब वास्तविक संघर्ष और द्वंद्वों का प्रारम्भ हुआ।

भारत के इतिहास लेखकों ने अपने इतिहास की जब पहले-पहल चर्चा चलायी, उसके बहुत पहले ही अंग्रेज लेखकों ने भारतीय इतिहास को उस सामग्री के आधार पर लिखा था जो उन्हें अपनी विजय और लूट के समय प्राप्त हो गयी थी। एलफिंस्टन, ग्रांट डफ, ब्रिग्स, टॉड, मोरलैंड, आदि विद्वानों ने अपने ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना की थी। इन्हीं ग्रंथों के द्वारा दूसरे देश भारतीय इतिहास का "ज्ञान" प्राप्त कर रहे थे।

इन लेखकों के बाद जो भारतीय लेखक आये, उनको आरम्भ ही इस बात से करना पड़ा कि अंग्रेज इतिहासकारों के मिथ्या प्रचार तथा भारतीय इतिहास और घटनाओं को गलत दृष्टिकोण से अध्ययन करने का खंडन किया जाय। पर जब स्वयं अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने की समस्या आयी, तो उनके निष्कर्ष कम जटिल और अप्रशंसनीय नहीं हुए। उनके कुछ निष्कर्ष अवश्य ऐसे थे जिनका प्रयोग उदारदली पूंजीपतियों ने बाद में चलकर अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए किया।

विशाल खोज सम्बंधी प्रकाशित सामग्री को अलग रखकर यदि हम कुछ प्रतिनिधि ग्रंथों को उठाकर देखें, तो हमें सरलता से यह मालूम हो सकता है कि पूंजीवादी बुद्धिजीवियों ने भारतीय इतिहास को किस दृष्टि से देखा था। उन्हें यह विश्वास था कि अपने नये शत्रु के खिलाफ आगे होनेवाले संघर्षों में उपरोक्त दृष्टिकोण उनका पथ-प्रदर्शन कर सकेगा।

बम्बई हाईकोर्ट के जज श्री महादेव गोविंद रानाडे ने **मराठा शक्ति का उदय** नामक ग्रंथ लिखा। इसमें उन कारणों को स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी थी जिनसे शिवाजी के नेतृत्व में मराठा शक्ति का जन्म हुआ था। पेशवाओं की पराजय की शतवर्षी के अवसर पर सन १९१८ में विख्यात लेखक और उदारदली विद्वान श्री एन. सी. केलकर ने **मराठा और अंग्रेज** नामक ग्रंथ लिखा जिसमें मराठों पर अंग्रेजों की विजय के कारणों का विश्लेषण किया गया था। श्री बी. के. राजवादे ने पानीपत में मराठों की पराजय, शिवाजी के उत्थान की मूल शक्ति, मराठा दरबारों में जाति द्वेष और व्यक्तिगत कूटनीतियां, अंग्रेजों के अस्त्र और उनका रण-कौशल, आदि विषयों पर विशाल सामग्री को अनेक जिल्दों में संकलित किया था। मेजर बसु ने **भारत में ईसाई शक्ति का उत्थान** नामक ग्रंथ लिखा। सन १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के विषय में अनेक ग्रंथ लिखे गये। इन लेखकों ने जो निष्कर्ष निकाले थे, उनसे यह पता चलता है कि हमारे देश के बुद्धिजीवी इतिहास को किस दृष्टि से समझ रहे थे—वे निष्कर्ष जो भावी संघर्षों के पथ-प्रदर्शक बननेवाले थे।

महादेव गोविंद रानाडे के मतानुसार मराठों के उत्कर्ष का मूल कारण सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के वे साधु-संत और धार्मिक निष्ठा से उनके चलाये हुए वे पंथ थे, जिन्होंने भारतीय समाज में स्थापित भ्रष्ट पुरोहितशाही पर आक्रमण किया था। रानाडे ने धर्म को इतिहास की मूल उत्प्रेरक शक्ति के रूप में देखा और उस काल के भक्ति सम्प्रदायों की तुलना योरप के उस सुधार आन्दोलन से की जो कैथोलिकवाद के खिलाफ उठा था और जिसके फलस्वरूप योरप में नये राज्यों और समाजों की रचना होने लगी थी। हां, यह आवश्यक था कि भारत में शिवाजी जैसी व्यक्तिप्रतिभा का सहयोग उसे प्राप्त हो। राजवादे

और अन्य विद्वान भी धर्म को मूल उत्प्रेरक शक्ति मानते थे, किन्तु उन व्यक्तियों के विषय में मतभेद रखते थे (जैसे रामदास या शिवाजी, आदि), जिनसे राष्ट्र को नया जीवन प्राप्त हुआ था। मराठा जाति की विशेष प्रतिभा को भी, जो उनके अनुसार मराठा **धर्म** में व्यक्त हुई थी, इतिहास की मूल उत्प्रेरक शक्तियों में से एक माना गया। परन्तु जब उन कारणों की खोज की गयी जिनसे मराठे अंग्रेजों से पराजित हुए थे, तो उस समय धर्म के पतन को पराजय का मुख्य कारण नहीं माना गया। धर्म के पतन को संभवतः इसलिए कारण नहीं माना गया क्योंकि अंग्रेज भी यह विश्वास करते थे कि ईसाई धर्म की दीक्षा और उनके ईश्वर का आशीर्वाद ऐसी शक्तियां नहीं थीं जिन्होंने उनको सागर की लहरों में उतार दिया हो और भारत देश को उनकी गोद में डाल दिया हो। श्री केलकर ने उस एकता के तत्व के अभाव को, जिसे राष्ट्रीय देशभक्ति कहते हैं, और मराठा जाति की उस विशेषता को, जिसके कारण व्यक्तिवादी पृथकता के प्रति उसका अत्यंत प्रेम था, इस पराजय का प्रमुख कारण निर्धारित किया। अंग्रेजों के पास न तो राष्ट्रीय भावना का अभाव था और न वे व्यक्तिवादी पृथकता से प्रेम करते थे, इसलिए वे विजयी हुए। किसी ने इसे समझने का प्रयास नहीं किया कि अंग्रेजों में ये गुण सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में कहां से आ गये थे जब कि इन गुणों के अस्तित्व का कोई बाहरी चिन्ह पहले की सदियों में नहीं दिखाई देते थे और यह अंग्रेजों के इतिहास से प्रमाणित होता है। श्री बसु ने अपने प्रभावशाली ग्रंथ में अंग्रेजों की विजय का कारण उनमें सत्य का सर्वथा अभाव तथा भ्रष्टाचार और छल-कपट के व्यापक व्यवहार को बताया। भारतीय शासक दुर्भाग्यवश इसका मुकाबला नहीं कर सकते थे। इस प्रकार से इतिहास की पूरी गति को मनुष्य के विचारों तथा नेताओं और राजनीतिज्ञों की पाप या पुण्य की भावना से बांध दिया गया। असंख्य मेहनतकश जनता तथा युग-युग से चले आते उसके सामाजिक संगठनों की गति को इतिहास के "महापुरुषों," "**गुरुओं**," अथवा "**अवतारों**" के धार्मिक विश्वासों, नैतिक विचारों तथा पूर्वाग्रहों एवं स्वैरता के अधीन कर दिया गया। कुछ विद्वानों ने इतिहास की मूल उत्प्रेरक शक्ति को असाधारण व्यक्तिगत प्रतिभाओं में और कुछ ने किसी जाति में निहित विशेषताओं में देखा।

लेकिन इन विचारों, मान्यताओं, नैतिक मूल्यों तथा विश्वासों का उदय, विकास, विनाश और पुनर्जन्म आखिर कैसे संभव हुआ? और एक देश के विचारों के एक समूह ने दूसरे देश के उन्हीं विचारों के समूह को कैसे पराजित किया? इन प्रश्नों को अवसर, घटना या भाग्य के सहारे छोड़ दिया गया। इसलिए अन्त में समाज को इस आशा से वंचित कर दिया गया कि वह अपने वर्तमान और भविष्य को योजनाबद्ध और नियंत्रित कर सकता है।

इस रीति का अनुसरण करनेवाले हमारे इतिहास-लेखक अपने उन विदेशी गुरुओं का अनुकरण मात्र कर रहे थे, जिनके ज्ञान द्वारा उनका पालन-पोषण हुआ था। वे कार्लाइल, बर्क, बेनथम, ग्रीन और हीगेल के शिष्य थे। इतिहास के जिस भाग्यवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोण को पूंजीवाद के इन दार्शनिकों ने अपने देश के इतिहास की रचना करते समय अपनाया, उसे हमारे इतिहास लेखकों ने ज्यों का त्यों लेकर अपने इतिहास पर लागू कर दिया। भारत के इन विद्वानों ने इतिहास विज्ञान के उस पूंजीवादी दृष्टिकोण को अपनाने में संकोच नहीं किया जो उसके विजेताओं का दृष्टिकोण था, क्योंकि भारत का समाज स्वयं छिन्न-भिन्न होकर विजयी साम्राज्यवादी पूंजीपति देशों के समाजों के अनुरूप नये सिरे से बनने लगा था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं कि ब्रिटिश युग के कुछ पहले के इतिहास का मंथन करने से यहां के उठते हुए पूंजीपति वर्ग और उसके बुद्धिजीवियों को एक सामाजिक तथा राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति हो गयी थी। जो लोग सभी दोषों को साधारण जनता के ऊपर ही लाद देते हैं, उनका यह मत था कि देश के पुनरोत्थान के लिए मूल शर्त यह है कि जनता के अंध विश्वासों और जात-पांत के संकीर्ण विचारों को दूर किया जाय। जो यह विश्वास करते थे कि सामन्त-वादी पृथकता ही हमारी पराजय का मूल कारण था, उन्होंने सामन्ती परिवार के दम्भ और स्वार्थों से ऊपर उठकर एक संगठित राष्ट्रीय देशप्रेम के लिए नारा बुलन्द किया। उस समय साधारण जनता निष्क्रिय मिट्टी की भांति इच्छाहीन और संकल्पहीन थी, इसलिए किसी "महापुरुष," "नेता" या "**अवतार**" के विचारों, आदर्शों के दृष्टांत के अनुरूप वह निर्मित और चैतन्य हुआ करती थी—श्रद्धा, आदेश पालन और अनुसरण करने के अतिरिक्त इतिहास में उसकी और कोई भूमिका नहीं थी।

इतिहास के द्वारा जातीय गुटों के द्वेष और संघर्षों को भी उचित ठहराया जाता था। गैर-ब्राह्मण दल यह प्रमाणित करते थे कि विजयी मराठों की पराजय उस समय हुई जब उनका नेतृत्व ब्राह्मणों या पेशवाओं के हाथों में था। अतएव हर उस आन्दोलन की सफलता संदेहजनक है जिसका नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथों में हो। ब्राह्मणों के खिलाफ कायस्थ लड़ बैठते थे और ब्राह्मण उनके विरोध में प्राचीन इतिहास से दृष्टान्त देते थे जिसमें संस्कृत भाषा विज्ञान को भी अस्त्र की भांति प्रयोग में लाया जाता था। परिगणित (अछूत) जातियों ने भी अपने लक्ष्य का निर्माण कर लिया था। कोरेगांव[६] के युद्ध से उनकी भूमिका

---

६. इस युद्ध में अंग्रेजों से लड़कर पेशवाओं ने हार खायी थी। अंग्रेजों की "महार" सेनाएं इस युद्ध में बड़ी शक्तिवान थीं और उन्हीं को अंग्रेजों की विजय का कारण माना जाता है।

का प्रारम्भ हुआ था—और अन्त में उन्होंने हिन्दू सामन्ती व्यवस्था के सामाजिक एवं राजनीतिक धर्मशास्त्र **मनुस्मृति** को त्याज्य ठहरा दिया था।

इस प्रकार से अतीत के इतिहास का अध्ययन राजनीतिक दलों के वर्तमान नारों और लक्ष्यों को उचित ठहराने तथा उनकी सहायता करने के लिए किया जाता था। अतीत काल की विजयों एवं पराजयों की शिक्षाओं को वर्तमान के लिए सहायक माना गया। इससे यह स्पष्ट है कि पूंजीवादी बुद्धिजीवियों ने उस इतिहास का अध्ययन किस प्रकार लक्ष्यपरक होकर एक निश्चित पक्ष के दृष्टिकोण से किया था, जिसमें असंख्य साधारण जनता की भूमिका इसके सिवा और कुछ नहीं थी कि वह किसी न किसी महापुरुष के लिए कठिन परिश्रम और युद्ध करती रहे।

लेकिन अतीत के इतिहास के हमारे पूंजीवादी दार्शनिकों को और वर्तमान इतिहास के पूंजीवादी नेतृत्व को शीघ्र ही यह ज्ञात हो गया कि वे एक-दूसरे को यथेष्ट सहयोग नहीं दे पा रहे हैं। राजनीतिक एवं सामाजिक वास्तविकताएं, इस समय के जन आन्दोलन, **इतिहास में सर्वथा नवीन तत्व थे।** अतीत के अनुभवों द्वारा उनका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता था। बाबर और अकबर, शिवाजी और पेशवा, सोलहवीं तथा सत्रहवीं सदी के **साधु** और सन्तों की राजनीति और उनके समाज का उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के विक्टोरिया और पामर्स्टन, चर्चिल और वाई. एम. सी. ए., तिलक और गांधी अथवा मार्क्स, लेनिन और स्तालिन के युग से कोई मेल नहीं बैठता था। उस समय वह इतिहास कहां था जो अपने निर्माताओं की सहायता भाप के इंजन और तार, दुनिया के बाजार और आर्थिक संकट, हड़ताल और क्रान्तियों से कर सकता। यह भी सत्य है कि उन दिनों में ऐसे साहसी प्रोफेसरों की कमी नहीं थी जिन्होंने **ऋग्वेद** में बैंक व्यवस्था और ब्याज की दर को खोज निकाला था, बौद्ध-विहारों में विधानसभा की परिपाटी के अनुसार मत देने की शैली का पता भी लगा लिया था, चाणक्य के अर्थशास्त्र में व्यापारिक संगठन और मूल्य नियंत्रण को भी खोज लिया था। परन्तु सामाजिक और राजनीतिक वास्तविकता इन प्रयासों पर हंस देती थी। हमारे युग में विश्वव्यापी पूंजीवादी औद्योगिक क्रान्ति एक ऐसी वास्तविकता थी जिसका उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता था। मंडियों और कच्चे माल पर अधिकार करने तथा पूंजी लगाने और ऊंचा मुनाफा कमाने के लिए विश्व भर में पूंजीपतियों के आवागमन ने पहली बार विश्व को एक ईकाइ के रूप में बदल दिया था। आधुनिक साम्राज्यवाद और उसकी विजय, सिकन्दर, बाबर, चगेज खां और मराठों की विजयों से सर्वथा भिन्न थी। इसी प्रकार प्राचीन और मध्य-युग की मेहनतकश जनता ने आधुनिक युग के उस विश्व सर्वहारा वर्ग के शक्तिशाली कार्यों की स्वप्न में भी कल्पना नहीं की

होगी, जो शासक वर्ग में परिणत होने के लिए और सदा के लिए विश्व समाज को दरिद्रता से बाहर निकालकर उसे वैभवशाली और सम्पन्न बना देने के लिए आगे बढ़ रहा है। सर्वथा नवीन शक्तियां, नये वर्ग और नयी जनता अस्तित्व में आ गये थे। इनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए, इनको समझने के लिए भारतीय या विदेशी पूंजीवादी इतिहासकारों का इतिहास विज्ञान कोई भी नियम नहीं दे सकता था। पुराने लेखक जिस राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करते थे, वह प्रथम महायुद्ध के संकट के बाद राष्ट्रीय राजनीतिक संघर्षों का सजीव पथ-प्रदर्शक नहीं रह गया था, जब कि भारत विश्व क्रान्ति के दायरे में खिच आया था और उसकी मेहनतकश जनता ने लोकतांत्रिक क्रान्ति का झंडा उठा लिया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में जितनी ऐतिहासिक सामग्री लिखी गयी, उसकी तुलना में पिछले बीस वर्षों के अन्दर भारतीय इतिहास को लेकर शायद ही कोई प्रमुख इतिहास ग्रंथ लिखा गया है। इतिहास की साहसपूर्ण, वैज्ञानिक और क्रान्तिकारी समझ के स्थान पर दृष्टिहीन व्यक्तियों ने यह समझा कि उन्होंने असाधारण दृष्टि पा ली है, जब कि उन्हें अध्ययन के लिए केवल उलझी हुई **इतिहास की झलक** तथा **भारत के प्राचीन गौरव** पर निश्वासें ही प्रदान की गयीं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि इतिहास सम्बंधी काम बिलकुल बन्द हो गया था। ऐसे इतिहासकार और इतिहास सम्बंधी संस्थाएं थीं जो सामग्री के संकलन में, खोज सम्बंधी काम करने में और उस सामग्री का ठीक अर्थ निकालने में परिश्रम कर रही थीं। किन्तु साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के लिए अतीत से प्रेरणा और लक्ष्य लेने की आवश्यकता उस अध्ययन की मूल उत्प्रेरक शक्ति नहीं रह गयी थी। पूंजीपतियों के नेतृत्व में चलते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन ने राजनीतिक लक्ष्य के रूप में "वैधानिक मांगों" को और आर्थिक लक्ष्य के रूप में उसी साम्राज्यवाद के सहयोग से "राष्ट्रीय उद्योगों" को विकसित करने की स्वतंत्रता को अपना लिया था। इस क्षेत्र में अशोक और अकबर के लेखों अथवा पेशवा के दफ्तर की अपेक्षा उनके लिए आयरलैंड, अमरीका और इंगलैंड के इतिहास लेखक अधिक उपयोगी थे। इतिहास सम्बंधी खोज में लगे हुए दरिद्र विद्वान, बिना किसी सरकारी या अपने पूंजीपतियों के सहयोग के किसी प्रकार अपनी जीविका कठिनता से चला रहे थे।

लेकिन यदि राजनीतिक इतिहास का प्रभाव क्षीण हो रहा था, तो दूसरी ओर साम्राज्यवाद और पूंजीवादी-राष्ट्रीयता के संकट से एक नयी परिस्थिति का विकास हो रहा था जो इतिहास का नये ढंग से अध्ययन करने की प्रेरणा दे रही थी। समाज की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था में वर्गों के सम्बंध का प्रश्न उठाकर, या सामाजिक क्रान्ति के सम्पूर्ण आन्दोलन का प्रश्न उठाकर,

सामाजिक इतिहास इस समय पूंजीपति वर्ग और उसके बुद्धिजीवियों का ध्यान अपनी ओर खींच रहा था।[७]

साम्राज्यवाद से लड़ता हुआ राजनीतिक इतिहास अपना लक्ष्य पूरा कर चुका था—उसका लक्ष्य एक सर्वमान्य राष्ट्रीय नारे का विकास करना था। यह काम बहुत सरलता के साथ उस आदर्शवादी दृष्टिकोण से सम्पन्न हो सकता था जिसे इंगलैंड और योरप के इतिहासकारों ने प्रदान किया था। भारत एक ऐसा प्राचीन देश था जिसके पास अपनी एक सम्पन्न आर्थिक व्यवस्था थी, अपने महा-पुरुष और राजा, शासन-सत्ताएं, युद्ध, और युगों से प्रचलित विधान भी थे। उन सब का अस्तित्व भारत में फिर से होना चाहिए था।

अपने नये उद्योग-धंधों और कृषि का तथा अपनी नयी संस्कृति और राष्ट्रीयता का निर्माण करने के लिए भारत प्रयास कर रहा था। इस निर्माण में साम्राज्यवादी शासक वर्ग को बाधा नहीं डालनी चाहिए। पर वह बाधाएं डाल रहा था—इसलिए नयी रीति से उसके खिलाफ संघर्ष आवश्यक हो गया था।

नयी रीति यह थी कि अंग्रेज आक्रमणकारियों के विरुद्ध देश के उन तमाम लोगों की एकता स्थापित की जाय जो इस सार्वजनिक शत्रु का सामना कर रहे थे। जब तक विदेशी साम्राज्यवादी शासन को उखाड़ नहीं फेंका जाता, तब तक किसी की भी उन्नति संभव नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति तथा देश के प्रत्येक हित के पास अंग्रेज-विरोधी होने के लिए कारण थे—इसलिए अंग्रेजी शासन का अन्त होना चाहिए था। अतएव सब हितों और सम्पूर्ण जनता के सामने, साम्राज्य-वादियों को उखाड़ फेंकने के लिए, राष्ट्रीय स्वाधीनता का एक लक्ष्य और एक नारा होना चाहिए था। यदि साम्राज्यवादियों को उखाड़ फेंका जा सका, तो अपने लोकतंत्र की छाया में सम्पूर्ण जनता—मजदूर, किसान, मध्य-वर्ग, पूंजीपति और जमींदार तथा देश के सभी दूसरे लोग सुख और स्वाधीनता से रह सकेंगे।

किन्तु अपनी स्वाधीनता को ऐसे शत्रु के हाथों से छीनने के लिए, जिससे कोई समझौता नहीं हो सकता था, ऐसी शक्तियों का होना आवश्यक था जो अपने को संघर्ष के क्षेत्र में उतार सकें, अपने जीवन और सर्वस्व की बाजी लगा सकें। लेकिन ऐसी शक्तियां कहां थीं?

---

७. उदाहरण के लिए वे ग्रंथ, जिन्हें भारत की जातियों और उपजातियों, राजसत्ता की उत्पत्ति, विवाह सम्बंध का इतिहास, प्राचीन भारत में शिक्षा पद्धति, महाभारत के युग में बैंकिंग, क़ानून, भूमिकर और सामाजिक संगठन, प्राचीन व्यापार और उत्पादन का काम, हिन्दू और अरब निवासियों के बीच सांस्कृतिक सम्बंध, आदि विषयों पर घुर्ये, दत्त, बेणीप्रसाद, राजवादे, मार्गव, अलतेकर, घोषाल, वैद्य, फ़िक, आदि विद्वानों ने लिखे।

बुद्धिजीवी और पूंजीपति तर्क देते हुए यह कहते थे कि धर्म, जाति, लिंग, वर्ग और पेशे से निरपेक्ष प्रत्येक भारतीय को साम्राज्य-विरोधी होना चाहिए, और चूंकि वह साम्राज्य-विरोधी तथा स्वाधीनता का प्रेमी है, इसलिए वह त्याग के लिए भी आतुर है। इसका अर्थ यह था कि सैद्धान्तिक रूप से इस देश का प्रत्येक निवासी एक क्रान्तिकारी शक्ति था क्योंकि विदेशी साम्राज्यवाद हर एक के लिए अहितकर था।

कुछ समय के लिए भारत की मेहनतकश जनता ने राष्ट्रीयता के इस तर्क को स्वीकार कर लिया जो वर्ग-स्वार्थ, जाति-स्वार्थ तथा अन्य संकीर्ण वैयक्तिक स्वार्थों के परे थी।

लेकिन राष्ट्रीयता और स्वाधीनता आन्दोलन का यह चित्र सही नहीं था। सब वर्ग और सब हित क्रान्तिकारी नहीं थे। वास्तव में कुछ वर्ग ऐसे भी थे जिनको राष्ट्रीय स्वाधीनता से हानि पहुंच सकती थी। यद्यपि वे भारतीय थे, फिर भी उनके हित साम्राज्य-विरोधी नहीं थे। कुछ हित ऐसे भी थे जो आक्रमणकारी अंग्रेजों के विरुद्ध तो आग उगलते थे, पर जैसे ही मजदूर या किसान मांग करते थे कि मिल-मालिकों के समान ही, बल्कि उससे भी अच्छे भारतीय होने के नाते उन्हें भी अपने परिश्रम और उस सम्पत्ति के बदले में, जिसे वे उत्पन्न करते थे, सुखद जीवन बिताने का अधिकार है, वैसे ही ये देशभक्त "नियम और व्यवस्था" के नाम पर अंग्रेजों की संगीनों की शरण लेते थे। उस समय उनकी देशभक्ति कहां होती थी? और उनका हित कहां होता था? अपने लाभ की रक्षा करने में या राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने में?

इतिहास के अनुभव तथा जीवन के यथार्थ ने असंख्य मेहनतकश जनता को धीरे-धीरे यह सिखा दिया कि राष्ट्र नामक सामाजिक संगठन ऐसा सामंजस्य-पूर्ण नहीं है जिसमें पूर्ण भाईचारा और एक ही हित निवास करता हो। वह आन्तरिक विरोधों और परस्पर-विरोधों से परिपूर्ण है।

इन अन्तर्विरोधों का आधार क्या था? ये किस मूल स्रोत से उत्पन्न होते थे? क्या वे धर्म, जाति, शिक्षा, आदि से उत्पन्न होते थे? नहीं! वह मूल स्रोत इस प्रकार का नहीं था। ये नये प्रकार के अन्तर्विरोध थे जो वर्ग विभाजन के आधार पर टिके हुए थे। समाज वर्गों से बना हुआ था, जिसका स्वरूप धन के उत्पादन और वितरण की प्रक्रिया में उन वर्गों की भूमिका के द्वारा निर्धारित होता था। धन का यही उत्पादन और वितरण राष्ट्र का आधार था। इनमें से कुछ वर्ग ऐसे थे जिनका लाभ साम्राज्यवादियों के साथ मित्रता करने में था—जैसे वे जमींदार या तालुकेदार जिनकी उत्पत्ति अंग्रेजों की विजय के द्वारा हुई थी। कुछ वर्ग ऐसे थे जिनका लाभ साम्राज्यवादियों का विरोध करने में था—जसे पूंजीपति—क्योंकि पूंजीपति वर्ग के विकास में साम्राज्यवादी बाधा डालते

थे और वह मेहनतकश जनता का शोषण पूर्ण रूप से नहीं कर पाता था। कुछ वर्ग ऐसे थे जो ब्रिटेन और भारत दोनों देशों के पूंजीपतियों के विरोध में अपना हित देखते थे —क्योंकि वे दोहरे शोषण में पिस रहे थे। वे तब तक पूर्ण रूप से स्वाधीन नहीं हो सकते थे जब तक हर प्रकार के शोषण का अन्त न हो जाता। इस प्रकार केवल किसान और मज़दूर वर्ग ही क्रान्तिकारी वर्ग थे। नगरों के बड़े उद्योग-धंधों में लगे हुए मजदूर इस सत्य का अनुभव करने लगे थे। और राष्ट्रीय पूंजीपति, जिनका हित केवल इस बात में था कि देश के श्रम का सारा लाभ वे आत्मसात कर लें और अंग्रेज पूंजीपतियों के—जो उनके विकास में बाधक थे—समान शक्तिशाली और महान हो जायं, इस उठते हुए नये वर्ग को देखकर भयभीत होने लगे थे।

इसलिए राष्ट्रीय आजादी के मोर्चे पर मज़दूर वर्ग ने स्वाधीनता के स्पष्ट चित्र की मांग उठायी। सर्वतोमुखी स्वाधीनता और अपने अस्तित्व के अधिकारों की मांग को भी उसने उठाया। उसने यह जानना चाहा कि किस प्रकार से अपने देश के मजदूरों का आर्थिक शोषण करने के लिए कुछ वर्ग विदेशियों के साथ मिल जाते हैं और शोषितों का दमन करने के लिए उन विदेशियों की संगीनों का सहारा भी लेते हैं। क्या राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन के आगे खड़े होकर अपने लाभ के अंश के लिए मोल-भाव नहीं कर रहा था? और क्या वह इस प्रकार क्रान्ति के विकास को रोक नहीं रहा था? तो क्या राष्ट्रीय संघर्ष, वर्ग संघर्ष का ही एक अंग था? क्या सभी राष्ट्रीय राजनीतिक संघर्षों का वर्ग आधार होता है? मजदूर वर्ग ने पूंजीवादी बुद्धिजीवियों से और अपने बीच से निकल रहे नये नेतृत्व से—कम्युनिस्टों से—इन प्रश्नों का उत्तर मांगा।

योरप महाद्वीप में, जहां पूंजीपति वर्ग और जनता को राष्ट्रीय स्वाधीनता हासिल थी, यही प्रश्न भिन्न रूप में उठाया गया था। जब सामन्ती तालुकेदारों और राजाओं की सत्ता नष्ट कर दी गयी, स्वेच्छाचारी शासन का ध्वंस हो चुका, उत्पादन की महान शक्तियों का विकास हो गया, और मशीनों से अतुल धन की वर्षा होने लगी तथा लोकतांत्रिक विचारों द्वारा यह निर्णय होने लगा कि शासन-सत्ता किन लोगों के हाथों में होनी चाहिए, तो वहां पर बेकारी का संकट जनता के ऊपर क्यों छा जाता था? उस सम्पन्नता और वैभव के बीच में धनिकों को छोड़कर मेहनतकश जनता और पूरे समाज पर अकाल की दशा क्यों व्याप्त हो जाती थी? इस संकट से निकलने का कौन सा मार्ग था? वहां उस समय नये इतिहासकार और इतिहास के दार्शनिक उत्पन्न हुए जिन्होंने मज़दूर वर्ग के लिए इन प्रश्नों का उत्तर दिया। वे समस्या के मूल तक गये और उन्होंने यह प्रश्न उठाया: एक युग से लेकर दूसरे युग तक मानव

समाज ने किस प्रकार उन्नत होकर अपना विकास किया है? उसकी उत्पत्ति और विकास, उसकी गति और क्रान्ति की उत्प्रेरक मूल शक्तियां क्या हैं? पूंजीवादी विज्ञान इन प्रश्नों का उत्तर देने में असफल रहा था। वे तो यह कह चुके थे कि धनी और निर्धन, शासक और शासित, बलवान और दुर्बल, नेता और अनुयायी, महापुरुष और उनके भक्तों की समस्या चिरंतन है—और वह इसी प्रकार रहेगी। यह सब मानव का अपना भाग्य है, उसकी सृष्टि का मूल शाप है अथवा ईश्वर की इच्छा है।

मजदूर वर्ग ने इस निष्कर्ष को अस्वीकार कर दिया। कार्ल मार्क्स और एंगेल्स ने सामाजिक प्रगति के इतिहास का विश्लेषण किया और उस नियम को खोज निकाला जिसके अनुसार इतिहास का विकास होता है: यह ऐतिहासिक भौतिकवाद का प्रसिद्ध नियम था, और इसकी इतिहास की समझ द्वंद्वात्मक तथा भौतिकवादी थी।

इस नियम या सिद्धान्त के अनुसार समाज का विकास, यानी वह अवस्था जिनके बीच लोग अपने को पाते हैं या जिसका वे निर्माण करते हैं, किसी एक मनुष्य, महापुरुष या अवतार के अच्छे या बुरे विचारों से नहीं पैदा होती; और न प्राकृतिक भौगोलिक वातावरण या ईश्वर की इच्छा से ही वह उत्पन्न होती है। इतिहास न तो कोई पूर्व नियंत्रित यांत्रिक गति है और न पानी की चरखी की तरह चक्कर में घूमनेवाली ही ऐसी गति है जो मानव नामक ऐतिहासिक गधे के परिश्रम द्वारा भरी या खाली की जाती हो। मानव का विकास भौतिक प्रकृति से हुआ है, और जीवित रहने के लिए उसे प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता है। सबसे पहले उसे भोजन, आश्रय और वस्त्रों, आदि के लिए संघर्ष करना पड़ा। यह उसकी प्राथमिक क्रियाशीलता थी। इस क्रियाशीलता में उसकी अवस्था का निश्चय उन उत्पादक शक्तियों, औजारों तथा उत्पादन साधनों द्वारा हुआ जिनका विकास उसने स्वयं किया था। मनुष्य सामाजिक प्राणी के रूप में प्रकट होने लगा और उसके समाज का ढांचा—यानी एक-दूसरे के साथ उसके सम्बंध, मूल रूप से उत्पादक शक्तियों द्वारा नियंत्रित होने लगे। ये सम्बंध उत्पादन के सम्बंध होते थे। एक विशेष समाज किसी विशेष युग में अपनी उत्पादन प्रणाली के अनुसार ही पहचाना जाता है और उसी विशेषता के आधार पर अन्य समाजों से पृथक किया जा सकता है। यही विशेषता समाज की रानजीति, नैतिकता, दर्शन, भावना, कला, आदि के स्वरूपों का निश्चय करती है। ये सब वस्तुएं उस आधार से जन्म लेती हैं जिसे समाज की उत्पादन प्रणाली कहा जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक बार उत्पन्न होने के बाद ये वस्तुएं स्वयं आधार को प्रभावित नहीं करतीं या उनकी कोई स्वतंत्र भूमिका या मूल्य नहीं होता। उनका स्वतंत्र मूल्य होता है। समाज

के ढांचे को बदलने, सुधारने या उसमें आमूल परिवर्तन लाने में ये वस्तुएं सहायक होती हैं। लेकिन एक शर्त पर ही ऐसा हो सकता है—यह कि ऐसा आधार, यानी उत्पादन शक्तियां परिवर्तन के लिए परिपक्व हो चुकी हों।

"इतिहास में मुख्यतः पांच प्रकार के उत्पादन सम्बंधों का उल्लेख किया जाता है—प्राचीन पंचायती, दास प्रधान, सामन्तवादी, पूंजीवादी और समाजवादी।"[८] क्रमानुसार पहली व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में प्रवेश कर मनुष्य ने प्रगति की है और अपने को जीवन और चिन्तन के अधिक ऊंचे स्तर पर ले गया है। एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में मनुष्य की प्रगति क्रान्ति और संघर्ष द्वारा हो सकी है। प्रथम अवस्था में समाज वर्गों में विभक्त नहीं था—उसमें निजी सम्पत्ति, वर्ग संघर्ष, धनी और निर्धन, शासन-सत्ता, राजा और आन्तरिक गृहयुद्ध नहीं थे—लेकिन कबीलों में परस्पर युद्ध बड़ी संख्या में होते थे। उत्पादन के साधनों में जैसे-जैसे बढ़ती हुई, वैसे-वैसे निजी सम्पत्ति और वर्गों का उदय होता गया। उस समय से पूरा इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है जिसके द्वारा दास समाज, सामन्ती समाज, पूंजीवादी समाज और अन्त में समाजवादी समाज की—जिसमें उत्पादक शक्तियों और सामाजिक सम्पत्ति के उच्चत्तम विकास के आधार पर वर्गों का सदा के लिए लोप कर दिया जाता है—स्थापना हुई। तब इतिहास एक अंध वर्ग संघर्ष मात्र नहीं रह गया और मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का पूर्ण स्वामी बन गया। उत्पादन के आधुनिक साधनों ने इसको संभव और अनिवार्य बना दिया था।

समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए संघर्ष उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग में आरम्भ हो गये थे। वह वर्ग जो इस ऐतिहासिक कार्य को पूरा करने में सफल होगा, वह उत्पादन में अपनी प्रमुख भूमिका के कारण मजदूर वर्ग था।

मार्क्सवाद ने इतिहास की उस भावना का नाश कर दिया जिसके अनुसार वह घटनाओं या विचारों का उलझा हुआ संकलन मात्र होता था, उसके स्थान पर उसने उसे विज्ञान के स्तर तक पहुंचा दिया, उसे एक ऐसे नियम में परिणत कर दिया जिसकी परीक्षा हो सकती थी और जो मनुष्य को वर्तमान एवं भविष्य की योजनाओं के निर्माण की चेतना सौंप सकता था—भाग्य और दुर्दशा से उसका पिंड छुड़ा सकता था।

इस सिद्धान्त के अनुसार जहां शक्तियां पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थीं, वहां योरप के मजदूर वर्ग ने अनेक देशों में क्रान्ति को सफल बनाया और सोवियत संघ तथा समाजवाद की स्थापनाकर मेहनतकश मानवता के लिए पथ प्रशस्त किया।

---

८. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास से।

इस सिद्धान्त के अनुसार आधुनिक युग में योरोपीय, अमरीकी तथा अन्य राष्ट्रों द्वारा भारत या उसके समान अन्य देशों को विजित करना उन देशों के पूंजीपतियों के हितों की विजय थी। उनको अपने उत्पादन के लिए मंडियों की तथा पूंजी का निर्यात करने और शोषण के लिए नये क्षेत्रों को प्राप्त करने की आवश्यकता थी। श्रम के आधार पर बढ़ती हुई छोटी पूंजी बाजार में अपने ही वर्ग-भाइयों को प्रतियोगिता द्वारा नष्टकर अपने को विशाल रूप में संचित कर लेती थी और साधनों का केन्द्रीकरण करते हुए विश्वव्यापी विशाल एकाधिकारों में परिणत होकर उपनिवेशों पर विजय प्राप्त करती थी। उस उपनिवेश को जीतने के बाद, जहां पर पहले से पूंजीवादी व्यवस्था नहीं होती थी, वह फिर उन्हीं सम्बंधों को जन्म देती थी जो एकाधिकारी साम्राज्यवादी विजेताओं से प्रतियोगिता द्वारा संघर्ष करते हुए "लाभ के लोक में जीवित रहने के लिए स्थान" के अधिकार की मांग उठाता था। उसके साथ ही क्रान्ति के वाहक मजदूर वर्ग का भी जन्म होने लगता था। इससे राष्ट्रीय संघर्ष का श्रीगणेश हो जाता था। लेकिन मजदूर वर्ग और मेहनतकश जनता अपने जीवित रहने के अधिकार को जब सामने रखती थी, तब राष्ट्रीय पूंजीपति जनता को छोड़कर साम्राज्यवादियों के पक्ष में जा मिलते थे और उनसे समझौता कर अपनी जनता के विरोध में खड़े हो जाते थे, यानी दासता और शोषण से मुक्ति पाने के लिए किये गये विद्रोहों का वे दमन करते थे।

जब किसी देश का मज़दूर वर्ग अपनी ऐतिहासिक भूमिका की चेतना के स्तर तक विकसित हो जाता है और अपने नये सिद्धान्तों के अनुसार संगठित होने लगता है, तब पूंजीपति हिंसा द्वारा उसका दमन करने के अलावा उसे अपनी विचारधाराओं से हर तरह से भ्रष्ट और दूषित करने का प्रयास करते हैं। उसे भ्रष्ट करने का एक साधन यह भी है कि उसे **असत्य या मिथ्या इतिहास** की शिक्षा दी जाय—उसके सामने इतिहास का एक ऐसा चित्र रखा जाय जो उसे पूंजीपतियों का पिछलग्गुआ बना दे, उसे इस बात पर विश्वास करने के लिए बाध्य कर दिया जाय कि पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था की रक्षा करना आवश्यक है, क्योंकि वह सबसे अच्छी, अनिवार्य, शाश्वत, चिरंतन, ईश्वर द्वारा प्रदत्त सबसे अधिक नैतिक और सुखी व्यवस्था है। इतिहास और भावी समाज के विषय में कम्युनिस्टों के चिन्तन को पूंजीवादी इस रूप में उपस्थित करते हैं मानो वह अयथार्थ, अनैतिक, अवास्तविक, अस्वाभाविक, मानव प्रकृति का विरोधी और ध्वंसकारक हो। इस काम को करने के लिए पूंजीवादी बुद्धिजीवी इतिहास के अध्ययन को फिर से आरम्भ करते हैं, सामाजिक प्रगति के आदर्शवादी चित्र से मजदूर वर्ग को सम्मोहित करने की चेष्टा करते हैं और सामाजिक प्रगति के द्वंद्वात्मक भौतिकवादी चित्र को अस्वीकार करते हैं।

सन १९२०-३० के बाद जब भारत का मजदूर वर्ग राष्ट्रीय पूंजीपतियों के मुकाबले अपने झंडे, अपने नारे, अपनी पार्टी और अपने कार्यक्रम को लेकर सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष के मैदान में उतरा और उसने यह प्रश्न किया कि वास्तव में राष्ट्र का निर्माण किसने किया है, और किसके लिए लोकतंत्र अथवा स्वाधीनता का अस्तित्व होगा, तब पूंजीपतियों और उनके बुद्धिजीवियों ने भारतीय इतिहास को असत्य रूप से पेश करने का काम संभाल लिया।

भारत में उठते हुए कम्युनिस्ट आन्दोलन के विरोध में इस सैद्धान्तिक तर्क का प्रयोग पूंजीवादियों ने किया कि योरप तथा अन्य देशों में चाहे कुछ भी हुआ हो, लेकिन भारत और उसकी संस्कृति, उसकी जनता व उसका इतिहास अपने में विशेष वस्तुएं हैं और उनका कोई भी स्पष्टीकरण मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सिद्धान्तों द्वारा नहीं हो सकता।

अपने सिद्धान्त को सत्य प्रमाणित करने के लिए उन्होंने **वेदों, स्मृतियों, उपनिषदों,** महाकाव्यों और **पुराणों** की कथाओं का प्रयोग किया जिनके अनुसार एक शक्तिशाली जाति व्यवस्था, सिंहासनों पर सन्त राजाओं की सत्ता, और वनों में भ्रमण करनेवाले राजर्षि हजारों वर्षों से भारतीय विशेषता के रूप में स्थापित थे—अन्यत्र ऐसा कभी नहीं हुआ था। इन विशेषताओं के आधार पर वे कम्युनिस्टों से प्रश्न करते थे : तुम्हारे ऐतिहासिक भौतिकवादी नियम के अनुसार ये सब वस्तुएं कहां हो सकी हैं ? भारत में कोई भी आदिम साम्यवाद, सामूहिक सम्पत्ति तथा मातृसत्ता, और साम्य संघ (कम्यून) नहीं थे। उन साम्य संघों के टूटने और निजी सम्पत्ति, शासन-सत्ता, वर्ग, वर्ग संघर्ष, दासता तथा सामन्तवादी व्यवस्था के उदय होने का कोई इतिहास उसके पास नहीं है, जिन्हें तुम ऐतिहासिक प्रगति के क्रम मानते हो। हां, यह अवश्य सत्य है कि आज हमारे इतिहास में पूंजीवाद आ गया है—जो अंग्रेजों और उनकी मशीनों द्वारा दी गयी एक दूषित व्यवस्था है। फिर भी हमारे पूंजीवाद में अपने विशेष भारतीय गुण वर्तमान हैं। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि हम भी वर्ग संघर्ष और क्रान्ति के द्वारा समाजवादी व्यवस्था को लाने का प्रयास करें। हमारे पास गांधीवादी समाजवाद का एक नया सिद्धान्त है, जो तुम्हारे कम्यु-निज्म अथवा ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त को भविष्य में भी उसी प्रकार मिथ्या प्रमाणित कर देगा जैसे कि भारत की विशेष नियति ने उसे अतीत काल में असत्य प्रमाणित कर दिया था।

और अब भारत के सामाजिक-राजनीतिक इतिहास का अध्ययन और लेखन इस दृष्टिकोण से किया जाने लगा है जिससे कि वर्ग संघर्ष को अस्वीकार किया जा सके और और वर्ग शांति अथवा समन्वय तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष

की सांत्वना द्वारा शोषित वर्गों को दरिद्रता और शोषण का भार उठाने के लिए बाध्य किया जा सके।

इंगलैंड और अमरीका के पूंजीपतियों ने इतिहास के मार्क्सवादी दृष्टिकोण को दबाने के लिए बहुत कठिन प्रयास किया। सबसे पहले तो उन्होंने इसे मिथ्या घोषित किया। पर जब इस घोषणा को सफलता नहीं मिली, तो उन्होंने इस दृष्टिकोण को भ्रष्ट और दूषित करने की कोशिश की। पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था में लगातार आनेवाले संकटों ने उसके बुद्धिजीवियों को बाध्य किया कि वे मनुष्य और उसके समाज में सामाजिक-आर्थिक क्रियाशीलता की प्रधानता को स्वीकार करें। सोवियत संघ में संकटों के अभाव और विश्व की पूरी जनता के ऊपर उसके प्रभाव ने पूंजीपतियों को इसके लिए बाध्य किया कि वे भी वर्ग संघर्ष और समाजवाद को अपने इतिहास के दर्शन का एक भाग स्वीकार कर लें। किन्तु इसे वे इसलिए स्वीकार करते थे जिससे कि उसे दूषित और पराजित करने में वे सफल हो सकें। वे वर्ग संघर्ष के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं—यह भी मानते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था से समाजवादी व्यवस्था अधिक कल्याणकारी है। परन्तु वे वर्ग संघर्ष के इस तर्क-संगत निष्कर्ष को अस्वीकार करते हैं कि संघर्ष द्वारा पूंजीपति वर्ग की सत्ता को नष्टकर मजदूर वर्ग को शासन-सत्ता पर आरूढ़ करना चाहिए—जिसका अर्थ शोषक वर्गों के विरुद्ध मजदूर वर्ग का एकाधिपत्य तथा मेहनतकश जनता के लिए पूर्ण जनवाद की स्थापना है। इसी के द्वारा उत्पादन के सभी साधन—भूमि और कारखाने—समाज के हाथों में आ सकते हैं और समाजवाद तथा ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना हो सकती है जो शांति और सम्पन्नता से पूर्ण हो।

वे वर्ग संघर्ष के उन राजनीतिक और आर्थिक निष्कर्षों को अस्वीकार करते हैं जो इतिहास की द्वंद्वात्मक गति के अनिवार्य निष्कर्ष हैं। मजदूर वर्ग के लक्ष्य को आज वे इसलिए अस्वीकार करते हैं जिससे कि उस वर्ग के मर्मस्थान में कीट की भांति प्रवेशकर वे व्यवहार में उसकी रणनीति और कार्यनीति को निष्फल करते हुए उसके आक्रमण से अपने वर्ग शासन की रक्षा कर सकें। भारतीय इतिहास के आधार पर खड़े होकर वे कहते हैं कि हमारे देश में ऐतिहासिक परिवर्तन सदैव आध्यात्मिक विश्वास, शांति और सब वर्गों के द्वारा पाप तथा लोभ को त्याग देने के आधार पर सम्पन्न होते आ रहे हैं। भारतीय जनता रूस अथवा फ्रांस की जनता नहीं है, जहां के लोकतंत्र या समाजवाद के लिए होनेवाले संघर्षों के अनुभवों का उदाहरण आप उसे देना चाहते हैं। इसलिए भारतीय वातावरण में यह आवश्यक नहीं है कि मजदूर वर्ग की शासन सत्ता अथवा मजदूर वर्ग के लोकतंत्र की स्थापना की सीमा तक वर्ग संघर्ष को लगातार विकसित किया जाय। इसे सिद्ध करने के लिए वे हिन्दू और मुसल-

मानों के अतीत की उज्वल और सुखदायी कथाओं को लेकर मजदूरों और किसानों के पास जाते हैं, और कपट से उनके भविष्य को उनसे छीन लेने के लिए उनके वर्तमान अज्ञान और विचारधारा का उपयोग करते हैं।

इस प्रकार से अंग्रेजी युग के बाद शासक वर्ग ने इतिहास का प्रयोग फिर एक बार अपने स्वार्थ, संकीर्ण वर्ग हित और अपने वर्ग के लक्ष्य को साधने के लिए किया।

आरम्भ में पूंजीवादियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध अपने वर्ग हितों के लिए इतिहास का उपयोग राष्ट्र के नाम पर किया था, और ऐसा लगता था कि वे सम्पूर्ण जनता और उसके हितों को आगे बढ़ा रहे हैं। उठते हुए मजदूर वर्ग के आन्दोलन, और अपने स्वार्थी वर्ग हितों को पाने के लिए जन-हित के साथ विश्वासघात के खुल जाने से भयभीत होकर वे इतिहास का प्रयोग सामाजिक क्रान्ति के विरुद्ध अपनी रक्षा करने के लिए और सामाजिक विकास के किसी गलत सिद्धान्त के द्वारा उसे (सामाजिक क्रान्ति को) सैद्धान्तिक रूप से निरस्त्र करने के लिए कर रहे हैं।

इस समय हमारा उद्देश्य आधुनिक इतिहास की उन राजनीतिक घटनाओं के विषय में विवाद करना या उनका मूल्यांकन करना नहीं है, जो भारत में घटित हुईं। हम इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि बदलते हुए राजनीतिक और सामाजिक वातावरण में इतिहास का प्रयोग किस प्रकार से प्रतिक्रिया के हित में किया जा रहा है, जब कि उसका उपयोग सामाजिक प्रगति के पक्ष में होना चाहिए था—जो उसका वास्तविक लक्ष्य है। अपने इतिहास के द्वारा ही मानव जांगल युग से सभ्य युग तक पहुंचा है। और इतिहास के दर्शन का यह कर्तव्य है कि वह उस नियम का अन्वेषण करे जो युगों से चली आती हुई मानव समाज की इस प्रगति का नियंत्रण करता है, ताकि मानव और अधिक ऊंचे स्तर पर उठकर अधिक अच्छे संसार का निर्माण कर सके। भारत आज एक ऐसे युग में है जब उसके मजदूर वर्ग को भारतीय जनता और विश्व-समाज के प्रति गंभीर उत्तरदायित्व का सामना करना पड़ रहा है। इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए मजदूर वर्ग को इतिहास के पूंजीवादी दृष्टिकोण से अपने-आपको तेजी के साथ और इसके पहले ही अलग कर लेना चाहिए जब तक कि वह दृष्टिकोण उसकी जड़ों तक न पहुंच जाय।

अभी तक ऐतिहासिक भौतिकवाद के दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास को लिखने की कोई गंभीर चेष्टा न तो की गयी है और न ऐसे दृष्टिकोण का कोई गंभीर खंडन ही हुआ है। यह सर्वविदित है कि भारतीय इतिहास के विषय में मार्क्सवादियों का अपना दृष्टिकोण है और वे उसे ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष, आदि के रूप में स्पष्ट करते हैं। किन्तु इसका कारण किसी मार्क्सवादी

विद्वान द्वारा लिखित भारतीय इंतिहास सम्बंधी कोई अध्ययनशील ग्रंथ नहीं है, बल्कि इसका कारण मार्क्सवाद के मतों का सामान्य प्रसार है, और भारतीय इतिहास के आधुनिक विकास के कुछ ग्रंथ हैं।

पूंजीपति वर्ग के सत्तारूढ़ होने से भारतीय इतिहास को नये सिरे से भ्रष्ट करने की संभावना और बढ़ गयी है। पिछले कुछ वर्षों में पूंजीवादी विद्वानों ने प्रच्छन्न रूप से भारतीय इतिहास को भौतिकवादी दृष्टिकोण के प्रत्येक आक्रमण से बचाने की कोशिश की है। किन्तु दुर्भाग्य से, भारत की प्राचीनता का अस्तित्व, उसके सामाजिक संगठनों का चिरस्थायित्व, उसकी अति प्राचीन ग्राम्य जातियां, उसकी स्मृति और उसके प्रमाण-लेखों ने उन इतिहासकारों के उद्देश्य को असफल कर दिया है। विश्व में कहीं भी सामाजिक संगठनों के परिवर्तनों और क्रान्तियों के विषय में इतने मौखिक प्रमाण नहीं मिल सकते जितने हिन्दुओं में मिलते हैं। (विषय को समझने और उसके प्रतिपादन की सरलता के लिए हम भारत के प्राचीन इतिहास को हिन्दुओं का इतिहास मान लेते हैं।) वे प्रमाण इतने स्पष्ट हैं और कभी-कभी उनकी स्पष्टता इतनी निर्मम हो उठती है कि भारतीय पूंजीपतियों के हिन्दू नेता उसकी सत्यता को भी अस्वीकार करने पर बाध्य हो जाते हैं। वे उनको मिथ्या घोषित करते हैं अथवा किसी प्रकार से उन्हें तोड़-मरोड़कर अपनी रक्षा करते हैं। असंख्य विधियां, घटनाएं, उदाहरण, रूढ़ियां और नियम—जो हिन्दू समाज के धार्मिक-सामाजिक साहित्य में मिलते हैं—इन्हें स्पष्ट रूप से समझाने में पूंजीवादी इतिहासकार चकरा जाते हैं। विवाह के नियम, "विचित्र लगनेवाले वैवाहिक सम्बंधों" द्वारा आदरणीय महापुरुषों और पवित्र पुरुषों की उत्पत्ति; सम्पत्ति, उत्तराधिकार और सम्पत्ति पर सार्वजनिक स्वामित्व के नियम; राजाओं के आचरण; हिन्दू "धर्म-ग्रंथों" के अनुसार राजसत्ता, सम्पत्ति और परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्त—ये सब पूंजीवादी इतिहासकारों को यहां तक चक्कर में डाल देते हैं कि वे बहुत से धर्म-ग्रंथों को काल्पनिक अथवा रूपक मात्र मानने पर बाध्य हो जाते हैं। ऐसे सामाजिक यथार्थों (केवल धर्म-कथाएं ही नहीं) के सामने आ जाने के कारण, जिनका पूंजीवादी आदर्शवादी विचारों से मेल नहीं खाता, अनेक विद्वानों ने सम्पूर्ण **महाभारत** को काल्पनिक और रूपक कहकर अस्वीकार कर दिया है। यह मेरा दृढ़ मत है कि यदि हिन्दू धर्म-कथाओं तथा धर्मशास्त्रों की विशाल सामग्री का अध्ययन और वर्गीकरण ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर किया जाय, तो उससे भारत के प्राचीन इतिहास का नियमबद्ध और प्रमाण-संगत चित्र प्राप्त किया जा सकता है—यद्यपि वह चित्र हिन्दू पुराणपंथियों की और पूंजीवादी दर्शन की रुचि के अनुकूल नहीं होगा। तब यह स्पष्ट हो जायगा कि ऐतिहासिक भौतिकवाद का नियम—वह नियम जिसके अनुसार युगों से चले आये हुए

मनुष्य के इतिहास का निश्चय उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बंधों द्वारा होता है—भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य के लिए भी सत्य है।

भारतीय इतिहास के उस युग का प्रतिपादन करना और समझना सबसे अधिक कठिन है जिसमें आदिम साम्यवादी व्यवस्था का अस्तित्व था और उसका विभाजन हुआ था। उस युग के बाद ही व्यक्तिगत सम्पत्ति, वर्ग, वर्ग संघर्ष, परिवार और शासन-सत्ता का उदय हुआ था। उसके बाद दासता के युग का प्रारम्भ हुआ। इस युग की अवस्था से निकलकर विख्यात पूर्वी ग्रामीण जातिगत समाज और जातियों के आधार पर रचे गये एशियाई सामन्तवाद के युग में प्रवेश करने के संक्रान्ति काल का उद्घाटन करना इससे अधिक सरल है। इन युगों का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने से पहले ऐतिहासिक भौतिकवाद की अत्यंत गंभीर समझ और मार्क्सवादी विद्वानों द्वारा विस्तृत खोज की आवश्यकता है। हिन्दुओं के धर्म-ग्रंथों में इन प्राचीन युगों का जो वर्णन मिलता है, उसका अध्ययन पूंजीवादी विद्वानों ने अत्यंत कष्ट सहकर किया है। उस युग के सामाजिक संगठन के विषय में परिचय देने के लिए उन्होंने धार्मिक विधियों और धर्म-कथाओं का "समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण" से अध्ययन किया। किन्तु जिस प्रकार योरप में ये विद्वान यूनानियों, रोमवासियों और ट्यूटन के विषय में उस समय तक असफल रहे जब तक कार्ल मार्क्स और एंगेल्स ने पूरी सामग्री पर अधिकारकर इतिहास को उसके पैरों पर खड़ा नहीं कर दिया, उसी प्रकार भारत में भी ये इतिहासकार असफल रहे हैं।

प्राचीन प्रमाणिक लेखों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करने की चेष्टा में भी हिन्दू पुराणपंथियों और भारतीय पूंजीपतियों (हिन्दू-मुसलमान दोनों) ने बाधाएं डालीं, क्योंकि कुछ सामाजिक यथार्थ उनकी नैतिकता और आचारशास्त्र के आधुनिक विचारों के प्रतिकूल पड़ते थे और इसलिए वे उन्हें अतीत के इतिहास का अंग नहीं मान सकते थे। वे इस बात की "लज्जा" सहन नहीं कर सकते थे कि इस प्रकार की वस्तुओं का अस्तित्व उनके इतिहास में कभी था। जब प्रसिद्ध इतिहास लेखक राजवादे ने **वेद, महाभारत, पुराण** तथा वर्तमान-कालीन आदिवासियों के समाज में योरोपीय लेखकों द्वारा की गयी खोज के आधार पर हिन्दू जाति में विवाह और परिवार के विकास के बारे में एक विशाल ग्रंथ लिखना आरम्भ किया था, तब महाराष्ट्र में हिन्दू-मराठी पत्रों और हिन्दू पुराणपंथियों ने उस ग्रंथ के प्रकाशक और लेखक के विरुद्ध अपना कोप प्रकट किया था। वह ग्रंथ कभी पूरा नहीं हुआ—और एक वर्ष बाद लेखक की मृत्यु हो गयी। वह न तो मार्क्सवादी थे, न भौतिकवादी और न अधार्मिक व्यक्ति ही थे। वह स्वयं एक परम्परावादी हिन्दू थे, परन्तु ऐतिहासिक यथार्थों और मतों को सबसे ऊंचा स्थान देते थे, यहां तक कि उन्हें ईश्वर की

अभ्रांतता से भी अधिक ऊंचा समझते थे।[९] वेदों को पूरी तरह से समझने का काम अभी तक पूरा नहीं हुआ है। जब तक विधि-शब्दों का अर्थ विधि-क्रियाओं द्वारा स्पष्ट न किया जाय, तब तक वेदों को पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता। विधि-क्रियाओं का ज्ञान परम्परा द्वारा केवल ब्राह्मणों को प्राप्त है, और कुछ ही ब्राह्मण उन्हें जानते हैं। धीरे-धीरे ऐसे ब्राह्मणों की संख्या भी कम होती जा रही है। जिनके पास साधन हैं, उनके द्वारा इस पूरी सामग्री को एकत्रित कराना एक कठिन काम है।

ऐसी अवस्था में द्वंद्वात्मक भौतिकवादी पद्धति के अनुसार भारतीय इतिहास की सर्वांगीण रूपरेखा उपस्थित करने की चेष्टा करना संभव नहीं है। लेकिन एक मोटामोटी रूपरेखा दी जा सकती है। वर्तमान प्रकाशित ग्रंथों में उसके लिए यथेष्ट सामग्री उपलब्ध है।

पुस्तक के इस भाग में हम उस युग का वर्णन करेंगे जिसमें आदिम साम्यवाद का अस्तित्व, उसका विभाजन और आर्यों के समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति, वर्ग, दासता तथा शासन-सत्ता का उदय हुआ था।

---

९. प्राचीन भारतीय "गण संघ और लोकतंत्र राज्य" के विषय पर जायसवाल द्वारा लिखे गये प्रसिद्ध ग्रंथ की हस्तलिपि की चोरी और उसके प्रकाशन में डाली जानेवाली बाधाओं की कथा इतिहास के विद्यार्थियों को भलीभांति ज्ञात है।

पहला अध्याय

आर्यों का मूल स्थान

आज भारतीय इतिहास की बात करते समय हम सबसे पहले भारत नाम के निश्चित सीमाओं से घिरे हुए एक प्रदेश और उसमें रहनेवाले सभी लोगों के विषय में उनके धर्म, जाति, पेशे या दर्शन से निरपेक्ष होकर विचार करते हैं। भारत और उसकी जनता की वे सीमाएं जिनका अस्तित्व अंग्रेजों के शासन काल में था, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के विभाजन के उपरांत नहीं रह गयी हैं। फिर भी भारतीय इतिहास उसी भारत का अर्थ व्यक्त करता है जो उत्तर, पूर्व और पश्चिम में तीन पर्वत-मालाओं से और नीचे की ओर पूर्व, पश्चिम और दक्खिन में दो महासागरों से घिरा है। आधुनिक भारत के इतिहास का आरम्भ साधारण रूप से ब्रिटिश युग के प्लासी युद्ध से माना जाता है। उससे पहले अथवा उसके साथ-साथ इतिहासकार मराठों का उल्लेख करते हैं। उसके पहले, लगभग १००० ईसा बाद से मुगलों और मुसलमानों के आक्रमणों की बात उठती है। इन सभी युगों में भारत के मानचित्र में हम उस पूरे भौगोलिक क्षेत्रफल को शामिल करते हैं जिसका अस्तित्व आज भी है। फिर भी लगभग सम्पूर्ण देश पर शासन करनेवाली किसी ऐसी केन्द्रीय शासन-सत्ता का प्रत्यक्षीकरण अठारहवीं सदी के मुगल और मराठा राज्यों से पहले कभी नहीं हो सका था, जिसके कारण यहां की जनता वास्तव में एक भारत की बात कह सकती। अपनी पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था और राजनीतिक प्रणाली को लेकर अंग्रेजों ने एकता के इस विचार और भावना को यथार्थ में पूर्णता प्रदान की, यद्यपि यह यथार्थ बहुत सीमित और दूसरे आत्म-विरोधों से भरा हुआ था, जिनका उल्लेख करने की यहां पर आवश्यकता नहीं है।

जैसे-जैसे हम उसके प्राचीन युगों में गहरे पैठते हैं, भौगोलिक और राजनीतिक दृष्टि से एक भारत का चित्र लगभग मिट सा जाता है। अन्त में हम एक ऐसे युग में आ जाते हैं जहां पर जन-समूहों के विषय में तो चर्चा उठायी जा सकती है, पर किसी देश के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह वह युग है जहां पर हम आदिम इतिहास की बात उठाते हैं। उस युग में मानव

गणों या कबीलों के रूप में संगठित होकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता रहता था। किसी-किसी प्रदेश पर अपना अधिकार जताते हुए और बहुधा किसी भी प्रदेश पर अपना अधिकार न जताते हुए वे जाति-संगठनों के रूपों में रहते थे और किसी विशेष देश के निवासी के नाम से अभिहित नहीं होते थे। यूनान और रोम के निवासियों का आरम्भिक इतिहास ऐसे ही गणों और जन-समूहों का इतिहास है जो बाद में यूनान और इटली के इतिहास में परिणत हो गया—जिस रूप में उसे हम आज समझते हैं। उसी प्रकार से भारत का आरम्भिक इतिहास, जैसा कि हम आज समझ सके हैं, मुख्य रूप से आर्य कबीलों और जन-समूहों का इतिहास है। बाद में उनकी कथाएं ही एक देश के रूप में भारत का इतिहास बन गयीं।

एक या दो अपवादों को छोड़कर सभी इतिहासकार इसे मानते हैं कि आर्य भारत के बाहर किसी सामान्य प्रदेश से चलकर भारत में आये थे। आर्य जाति की कुछ शाखाएं पश्चिम में योरप, एशिया माइनर, आदि की ओर गयीं और कुछ पंजाब और कश्मीर के मार्ग से हिमालय पार कर भारत में आयीं।

उनका यह एक सामान्य प्रदेश कहां पर था? कुछ लोगों का यह मत है कि वह प्रदेश उत्तरी ध्रुव के निकट आधुनिक साइबेरिया में कहीं था (इस मत का प्रतिपादन बाल गंगाधर तिलक ने किया था)। कुछ विद्वानों ने यह कहा कि यह प्रदेश वोल्गा नदी के तट पर, कैस्पियन सागर के आसपास कहीं था। आर्यों की धार्मिक-कथाओं के कश्यप मुनि का तादात्म्य वे कैस्पियन सागर से करते हैं। कुछ लोग आर्यों के एक सामान्य गृह-प्रदेश के सिद्धान्त को ठीक नहीं मानते। परन्तु योरप और एशिया की आर्य-भाषाओं के विभिन्न समूहों में अति प्राचीन मूल शब्दों की समानता का प्रमाण, तथा आरम्भिक धर्म-कथाओं की एकरूपता का आधार—जो मूल रूप में आरम्भिक सामान्य जीवन और चिन्तना के प्रमाण-लेख हैं—आर्यों के उस एक सामान्य गृह-प्रदेश के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं जहां से चलकर आर्यों ने अपना प्रसार किया था।

लेकिन किन कारणों से उन्हें अपना प्रसार करना पड़ा था? कुछ लोगों का मत है कि किसी महान प्राकृतिक उत्पात के कारण—जैसे जल-प्लावन, जिसका वर्णन प्राचीन यहूदियों ईसाइयों, यूनानियों, रोमनों और हिन्दू आर्यों की धर्म-कथाओं में किया गया है—आर्यों का यह प्रसार हुआ था। इस जल-प्लावन के अलावा, स्वयं सामाजिक प्रगति की आवश्यकताएं भी—अनाज और चरागाहों की खोज में यायावरी (घुमक्कड़) जीवन का विकास तथा युद्धरत गणों द्वारा एक-दूसरे का निष्कासन भी—इस प्रसार के कारण थे।

यह प्रसार किस युग में हुआ था? कुछ विद्वानों के अनुसार ६००० ईसा पूर्व से लेकर ४००० ईसा पूर्व के बीच यह घटना हुई होगी। इस समय को

निर्धारित करने में बहुत अधिक मतभेद हैं। हम इस विषय में निश्चित होना चाहते हैं, किन्तु वर्तमान ज्ञान के आधार पर यह संभव नहीं है।

इसके सिवा आदिम इतिहास का युग अथवा प्रागैतिहासिक अज्ञात युग इतना विशाल है कि हजार अथवा उससे अधिक वर्षों का अनुमान-भेद हो सकता है। उन युगों की चर्चा हम शिवाजी की जन्म तिथि अथवा स्तालिनग्राद युद्ध के समय की भांति नहीं कर सकते।

नृतत्व-वैज्ञानिकों का कथन है कि मनुष्य का विकास लगभग पांच लाख वर्ष पहले एक आदिम मानव पशु से हुआ था। विभिन्न स्थानों में पाये गये अति प्राचीन कंकालों और अस्थियों की सहायता से वे लोग उस विकास की पूरी रूपरेखा तैयार कर रहे हैं। संभवतः उष्ण कटिबंध के वनों में निवास करनेवाले पशु को किसी प्राकृतिक संकट अथवा परिवर्तन के कारण उन वनों को छोड़ने पर वाध्य होना पड़ा होगा। एक बार भूमि पर आ जाने के बाद अपने को जीवित रखने की आवश्यकता ने उसके शरीर को पिछले पैरों के वल सीधी मुद्रा में खड़े होने के लिए प्रेरित किया; और हाथों को रक्षा अथवा काम करने तथा भोजन प्राप्त करने, आदि के लिए उन्मुक्त कर दिया। हाथों से उसने औजार वनाने की चेष्टा की। सीधे खड़े होने की मुद्रा को अपनाकर, औजारों को बनाने में हाथों को अभ्यस्त करते हुए तथा औजारों के द्वारा जीवित रहने और विकास करने की अपनी शक्ति को बढ़ाते हुए उसने अपनी मानसिक शक्तियों को विकसित कर लिया और वह वाणी को जन्म देने में सफल हुआ। इस प्रकार वह आदिम मानव पशु, जो शिम्पांजी या गुरिल्ला न होकर भी उनके समान ही रहा था, पूर्ण मानव के रूप में विकसित हुआ जो आज इस पृथ्वी का निवासी है। इस मानव पशु के प्रारम्भिक रूपों का नाश हो गया और वे विलीन हो गये। इधर-उधर अनेक स्थानों पर उनकी अस्थियां प्राप्त हो जाती हैं जिनकी सहायता से नृतत्ववेत्ता विकास की रूपरेखा तैयार करने की चेष्टा करते हैं।

उस प्राचीन युग और आर्यों के उद्गम के बीच इतिहास के हजारों वर्ष व्यतीत हुए थे। इस कहानी को लिखने के लिए अभी तक हमें कोई सामग्री नहीं मिल सकी।

हिन्दुओं के प्रामाणिक लेखों में जिन आर्यों का वर्णन मिलता है, वे निस्संदेह रूप से जांगल युग के निवासी हैं—इस अवस्था के अर्थ को हम बाद में देखेंगे। परन्तु प्राचीनतम जांगल युग के मनुष्यों से वे बहुत आगे थे। उस प्राचीन अवस्था की स्मृतियों के चिन्ह हमें उन धर्म-कथाओं में मिलते हैं जिनमें उस युग को याद करने की चेष्टा की गयी है।

यहां हम जिन आर्यों का अध्ययन करने जा रहे हैं, वे मध्य एशिया में संघर्ष करते हुए भारत की ओर फैल रहे थे और आगे बढ़ रहे थे। अन्त में

उन्होंने भारत पर विजय प्राप्त की और वहां रहने लगे। जांगल युग से लेकर सभ्यता के युग तक उन्होंने किस प्रकार प्रगति की—इसे स्पष्ट करने की चेष्टा हम यहां करेंगे।

इस स्थान पर एक प्रश्न और उठता है जिसका उत्तर दे देने के बाद हम भारत में आर्यों के प्रदेश के विषय में लिखना आरम्भ करेंगे।

क्या आर्यों के आने से पहले भारत में कोई जाति या जन-समूह निवास करता था? उनकी क्या सभ्यता थी? और अगर आर्यों को उनसे युद्ध करना पड़ा था, तो पराजितों की क्या दशा हुई थी? इसका अर्थ यह हुआ कि क्या भारत का कोई आर्य युग से पहले का इतिहास भी है?

हां, भारतीय इतिहास का आर्यों से पहले का भी एक युग है। परन्तु उस युग के विषय में कोई स्वतंत्र प्रमाण-लेख प्राप्त नहीं हैं। आर्यों के पूर्ववर्ती भारतीय जातियों के विषय में अधिकांश ज्ञान का संकलन आर्यों द्वारा अपने पूर्वागतों और शत्रुओं के वर्णनों से प्राप्त किया गया है। पंजाब में हड़प्पा और सिंध में मोहें-जोदाड़ो की खुदाई में जो अवशेष मिले हैं, उनको आर्य-पूर्व भारतीय सभ्यता का चिन्ह माना जाता है। पर उसमें प्राप्त प्रामाणिक सामग्री का अर्थ इस सीमा तक स्पष्ट नहीं किया जा सका है जिसके द्वारा उनके विषय में कोई निश्चित ऐतिहासिक विवरण प्राप्त हो सके।

कुछ लोगों का यह मत है कि भारत में आर्यों के बसने से पहले द्रविड़ नामक एक जाति इस देश में निवास करती थी। ये लोग भौतिक उत्पादन के साधनों में आर्यों से अधिक उन्नत थे। ऐसा लगता है कि आर्यों के विरुद्ध वे अपनी शक्ति भर लड़े थे, किन्तु बाद में पराजित होकर पूर्व और दक्षिण की ओर भगा दिये गये थे। पराजित द्रविड़ों में कुछ लोग दास बना लिये गये और कुछ लोगों को अन्य रीतियों से अपने में मिला लिया गया। द्रविड़ों ने अपनी भाषा के मूल स्वरूप को जीवित रखा। आंध्रवासी, तामिल देश के निवासी, मलयाली, टोडा और कन्नड़ी, आदि जातियां पुराने द्रविड़ों की उत्तराधिकारी मानी जाती हैं। इन जातियों ने बाद के काल के इतिहास में आर्य सभ्यताओं पर भी अपना प्रभाव डाला। इसका वर्णन हम पुस्तक के इस भाग में नहीं करेंगे।

यहां इस बात की ओर संकेत किया जा सकता है कि कुछ लोग इस मत को भी मानते हैं कि द्रविड़ों से पहले यहां एक आदिम जाति और रहती थी, जिसे हम द्रविड़-पूर्व जाति कह सकते हैं। या तो ये लोग द्रविड़ों के साथ-साथ रहते होंगे—अथवा द्रविड़ों ने इनको हराकर भगा दिया होगा। इस जाति के अवशेष अब कौन लोग हैं? ऐसा अनुमान किया जाता है कि मध्य प्रदेश और बंगाल में रहनेवाली मोंखमेर जाति का जन-समूह इस प्राचीन जाति के वर्त-मान अवशेष हैं, जिनके वंशज मुंडा, नागा, और संथाली जातियां मानी जाती

हैं। बलात निकाले जाने पर ये लोग पूर्व की ओर चले गये थे। ये लोग उस जन-समूह या जाति के वंशज हैं जिनको नृतत्ववेत्ता प्रागैतिहासिक "पौलीनीशियन" जन-समूह के नाम से पुकारते हैं और जो मलाया, इंडोनेशिया, हिंद-चीन और आस्ट्रेलिया तक फैले हुए हैं। इन क्षेत्रों में सबसे अधिक प्राचीन जाति मोंखमेर समूह है जो आर्यों और द्रविड़ों दोनों के पहले भारत में निवास करती थी। भूमि पर अधिकार करने के लिए आर्यों को इनसे भी संघर्ष करना पड़ा था।[1]

आर्य अपने मूल स्थान में किस तरह रहते थे, किस तरह गणों के द्वारा वे उन्नत हो रहे थे और किस प्रकार भौगोलिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में वे आगे बढ़ रहे थे—इन सब बातों की ओर अब हम अपना ध्यान देंगे। इस समय जो कुछ भी हम देखेंगे, उसका आधार वह लेख-सामग्री है जिसे आर्यों ने स्वयं लिखा था। हम उन लेखों को उस दृष्टिकोण से नहीं देखेंगे जिस दृष्टिकोण से वे लिखे गये थे, बल्कि अपने सामाजिक विज्ञान के दृष्टिकोण से देखेंगे।

उन्हीं लेखों के आधार पर हम आर्यों के इतिहास का अध्ययन करेंगे, इसलिए इस दशा में यह जरूरी है कि उस लिखी हुई सामग्री के बारे में थोड़ा-बहुत जान लिया जाय।

आर्यों द्वारा लिखित सामग्री अपने में अद्‌भुत है। इस पृथ्वी पर ऐसा जन-समूह कोई नहीं है जिसके पास इतनी अधिक ऐतिहासिक सामग्री लिखी हुई मिलती हो। जो जाति आदिम संस्कृति से लेकर आधुनिक सभ्यता तक चली हो और आज भी चली जा रही हो, उसके पास अपने प्राचीनतम समाज की स्मृति इतनी अच्छी तरह से सुरक्षित हो, यह असंभव सा है। किसी सीमा तक शायद यूनानी लोगों के पास प्राचीन इतिहास के बारे में इतनी सामग्री मिल सके। मिस्र का इतिहास उसके पिरामिडों द्वारा जाना जाता है, जिनमें प्राचीन बादशाहों की कब्रें बनी हैं, अथवा घास के कागज की परतों से जाना जाता है जिनकी भाषा तसवीरों में लिखी है। सुमेरी, असीरी और उनके द्वारा हिट्टी की प्राचीन संस्कृति का पता मध्य-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में खुदाई करने के बाद मिली

---

१. द्रविड़ों के विषय में पहला सर्वांगीण वर्णन काल्डवेल की पुस्तक "द्रविड़ व्याकरण" में मिलता है। यह पुस्तक १८५६ में लिखी गयी थी। "आर्यों और द्रविड़ों के पहले" की जाति के विषय में जानने के लिए इसी शीर्षक (आर्यों और द्रविड़ों के पहले) के अन्तर्गत लिखे हुए निबंध संग्रह को देखिए जिसका अनुवाद सन १९२९ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के डाक्टर पी. सी. बागची ने किया था। इस निबंध संग्रह में ज्यूल्स ब्लॉक, सिलवान लेवी और प्रजीलुस्की के लेख सम्मिलित हैं। "गाथा सप्तसती" को भी देखिए।

मिट्टी की उन टिकियों से लगता है, जिन पर एक खास रूप के अक्षरों में लिखा हुआ है। लगभग ईसा के १००० वर्ष पहले के यूनान का इतिहास होमर के द्वारा और आधुनिक युग में की गयी आयोनियन और दूसरे अवशेषों की खुदाई से मालूम हो सकता है।

भारत के आर्यों ने प्राचीनतम सामाजिक जीवन की स्मृति **वेद** के मंत्रों या **रिचाओं** से तथा उस पूरे साहित्य से बांध दी थी जो **वेदों** से निकला था। **वैदिक** साहित्य के बाद महाकाव्य लिखे गये और उसके बाद **सूत्र** और **स्मृतियां**, आदि लिखी गयीं जो **वेद** और महाकाव्य की तुलना में अधिक आधुनिक हैं। कम से कम चार हज़ार वर्षों तक **वेद के ये मंत्र** अपने स्वर-पाठ और विधि के साथ आर्यों के समाज के ब्राह्मणों में परम्परा से चले आये हैं। गुरु-शिष्य परम्परा में बंधा **वेदों** का यह साहित्य एक दिन लिपिबद्ध किया गया और उसके भाष्य भी किये गये। इस तरह उसे नाश होने से बचा लिया गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस साहित्य की रक्षा, उसका अध्ययन, और आगे आनेवाली पीढ़ी को उसे सौंपना मानव जाति या इतिहास के कल्याण को ध्यान में रखकर नहीं किया गया था। ईसा से लगभग १५०० वर्ष पहले पूरे हिन्दू समाज के लिए वह साहित्य मुख्यतः धार्मिक कर्म-कांड का साहित्य ही रह गया था, और इतिहास के उस युग में ब्राह्मण-पुरोहितों के लिए वह जीविका का साधन बन चुका था। इसी वजह से युग-युगों तक उसकी रक्षा की गयी—यहां तक कि उस साहित्य में जब सामाजिक यथार्थ का कोई भी प्रतिबिम्ब अवशेष नहीं रह गया था, तब भी उसे सुरक्षित रखा गया। फिर भी जो विशेषता है, वह इसमें नहीं है कि विधि-कर्म को सुरक्षित रखा जा सका, बल्कि भारत के हिन्दू आर्यों का यह भी सौभाग्य था कि वे लगभग दो हजार वर्षों से अधिक समय तक सामाजिक संगठन के एक अविछिन्न आधार पर रहते आये हैं—उसके शिखर पर चाहे जो परिवर्तन होते रहे हों। अनेक आक्रमणों और संकटों में यह जाति उस समय तक अविचलित खड़ी रही जब तक कि करोड़ों की संख्या में हिन्दू लोग और वे सब, जो इतिहास द्वारा उनके साथ मिल-जुल चुके थे या उनमें विलीन हो गये थे, अपने प्राचीन अस्तित्व से विछिन्न, क्षुभित तथा आमूल रूप से परिवर्तित होने के लिए आधुनिक पूंजीवादी अथवा औद्योगिक क्रान्ति के युग को सौंप नहीं दिये गये। इस समय ये लोग जिस सामाजिक क्रान्ति का अनुभव कर रहे हैं, वैसी वस्तु को उन्होंने पहले कभी नहीं देखा होगा। अतएव उनके सामाजिक-धार्मिक विधि-कर्म और संस्कार, जो प्राचीन क्रान्तियों को सजीव रहकर सहते चले आये थे, अब इस अवस्था में नहीं हैं कि पहले की भांति अपने को जीवित रख कर आगे बढ़ सकें। इसलिए पुराने रूपों में उनका विनाश अनिवार्य हो गया है। इतिहासकारों को अब उन्हें स्मृति-लेख के रूप में लिखकर छोड़ जाना

होगा। वे समाज, जातियां, स्वार्थ एवं हित, जो उन्हें कंठस्थ करते हुए पढ़ते थे, सदा के लिए विलीन होकर समाजवादी समाज की उच्चतर और अधिक सम्पन्न अवस्था में परिणत होने जा रहे हैं। कुछ हजार वर्ष पहले जो हिन्दू आर्य वोल्गा के तट से अलग होकर चले आये थे, उनके समकालीन प्रागैतिहासिक लोगों को इतिहास ने यह भूमिका नहीं सौंपी थी।

जिस साहित्य के आधार पर हम प्रागैतिहासिक अथवा आदिम साम्य संघों के युगों का परिचय प्राप्त करेंगे, वह चार **वेदों** और **महाभारत** का साहित्य है। उसमें भी **वेद** साहित्य मुख्य है।

चारों **वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद** और **अथर्ववेद** अपने सार-तत्व में, यानी अपने विषय और रूप में एक ही हैं। वास्तव में प्राचीनतम परम्परा के अनुसार **वेद** तीन हैं— **ऋग्, यजुर्** और **साम**। इस पवित्र त्रयी में चौथे **वेद** को बाद में मिलाया गया था। यद्यपि **सामवेद** का नाम अलग लिया जाता है, परन्तु वह **ऋग्वेद** की प्रतिलिपि मात्र है, जिसमें उसकी **रिचाओं** को छंद या राग के रूपों में लिख दिया गया है। **सामवेद** से यह ज्ञात होता है कि **ऋग्वेद** को संगीत के अनुसार किस भांति पढ़ना चाहिए। यह भी कहा जा सकता है कि **सामवेद ऋग्वेद** का संगीत रूप है।

इन **वैदिक** मंत्रों का उपयोग विधि-कर्म के, यानी बलि या **यज्ञ** के अवसर पर किया जाता है। ब्राह्मण परम्परा के अनुसार **यज्ञ** कर्म का एक विशेष अधिकारी **वेद मंत्रों** का पाठ करता है। इतिहासकार के लिए यह जानना महत्वपूर्ण नहीं है कि कौन किस मंत्र का गायन करता था, बल्कि महत्वपूर्ण यह है कि जब तक **यज्ञ** की प्रक्रियाएं विधि रूप में अथवा कर्म-कांड के रूप में परिणत नहीं हो गयी थीं, उस समय तक **यज्ञ** प्रक्रिया में विशेष मंत्र का पढ़ने वाला किस विशेष काम को करता था? मंत्र कोई भी हो, परन्तु क्या कोई समाज के लिए ऐसा उपयोगी काम था, जो उसका पाठ करते हुए वह व्यक्ति करता था? आज के ब्राह्मण जिन रूपों में **यज्ञ** की विधियों को जानते हैं—और वैसे ब्राह्मण पूरे भारत में एक दर्जन से अधिक नहीं हैं—उन रूपों से यह ज्ञात होता है कि **यज्ञ** वह प्रक्रिया है जिसमें प्राचीनतम सामाजिक जीवन को सर्वांगीण रूप में पुनर्निर्मित करने की चेष्टा की जाती थी। **यज्ञ** विधियों में दो लकड़ियों को रगड़कर आग बनानी पड़ती है। एक ऐसी कुटी बनायी जाती है जिसमें लोहे का उपयोग नहीं किया जा सकता—एक प्रकार की विशेष लकड़ी और घास से वह कुटी बनायी जाती है। गाय को दुहना पड़ता है। दही जमाना पड़ता है। पत्थर के टुकड़े से (चक्की से नहीं) अनाज को पीसना पड़ता है। पशु को मारकर उसकी खाल अलग करनी पड़ती है। उसे उबालना अथवा पकाना पड़ता है। नाचना, गाना, प्राचीन रीति से प्रेम करना, लड़ना

विजय पाना, आदि काम भी करने पड़ते हैं। यदि **यज्ञ** विधि-कर्म का कोई अध्ययन करे, तो वह इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि **विधि-कर्म के रूप में यज्ञ प्राचीन आर्य जीवन की पुनरोत्पत्ति की चेष्टा मात्र है।** इन सब विधि-कर्मों को करने की शिक्षा, विश्व, मनुष्य और पशु की उत्पत्ति के विषय में कथाएं, ऊषा के सुन्दर वर्णनों के गीत, उस महान धन की स्तुति जो समाज के नेताओं द्वारा साधारण लोगों को दिया जाता था (**दानम्**), रोगों को और भूत-प्रेतादि को डराकर दूर भगाने के लिए मंत्र घोष, आदि इन **वेदों** और उनके **सूक्तों** के विषय हैं। इस बात को सभी विद्वान मानते हैं कि **यज्ञ** अथवा **वैदिक** विधि-कार्य तत्व रूप में आर्य जीवन के किसी ऐतिहासिक युग को प्रतिबिम्बित करते हैं।

आज हमें **वेद** जिन रूपों में प्राप्त हैं, उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि वे ब्राह्मण विधि-कर्मों के विभिन्न मतावलम्बियों द्वारा संग्रहीत संस्करण अथवा **संहिताएं** हैं। **ऋग्वेद** केवल एक संस्करण या **संहिता** में उपलब्ध है। इसमें १,०२८ **सूक्त** हैं। **यजुर्वेद** छः **संहिताओं** में है। उनमें से चार **संहिताओं** को मिलाकर **कृष्ण यजुर्वेद** और शेष दो संहिताओं को मिलाकर **शुक्ल यजुर्वेद** के नाम से जाना जाता है। **सामवेद** तो **ऋग्वेद** की दूसरी प्रतिलिपि के समान है, जिसमें १,५४६ छंद हैं। **अथर्ववेद** में ६,००० छंद और ७३१ **सूक्त** हैं। (छंदों या **रिचाओं** का एक विशेष समूह **सूक्त** कहा जाता है)। इस **वेद** का लगभग सातवां भाग **ऋग्वेद** की प्रतिलिपि मात्र ही है।

दूसरे साहित्यों से जो सामग्री हमें प्राप्त होती है, उसकी तुलना में **वेद** के ये मंत्र बहुत प्राचीन ठहरते हैं। इन मंत्रों में भी कुछ पहले और कुछ बाद में रचे गये हैं। आर्यों के विकास की एक अवस्था में **वेद** की **रिचाएं** अथवा उनका "रचा जाना" एकदम रुक गया था। जितना कुछ भी रचा गया था, वह उन ब्राह्मणों की परम्परागत पुण्य सम्पत्ति में बंधकर रह गया, जिनका उन **वेदों** पर अधिकार था। सामाजिक इतिहास की भूमिका में इसका क्या अर्थ होता है, इसे हम बाद में देखेंगे।

लेकिन इन अत्यंत प्राचीन मंत्रों के साथ-साथ प्रत्येक **वेद** के साथ एक-एक **ब्राह्मण** भी जुड़ा हुआ है। प्रत्येक **ब्राह्मण** का सम्बंध एक **अरण्यक** से होता है। और प्रत्येक **अरण्यक** एक **उपनिषद** से संलग्न होता है। **वेदों** की शाखाएं या **संहिताएं** अनेक हैं, अतएव **ब्राह्मण**, **अरण्यक** और **उपनिषद** भी अनेक हैं। **ब्राह्मण** और **अरण्यक** का विषय परम्परा, कथाएं, रहस्यमय प्रश्न और रहस्यमय उत्तर हैं। **ब्राह्मण** ग्रंथ गद्य शैली में लिखे गये हैं और उनमें बहुत सी ऐसी सामग्री मिल सकती है जिसके द्वारा समाज के प्राचीन संगठन और उनके संघर्षों का वर्णन ज्ञात हो सकता है। **उपनिषदों** में दार्शनिक वाद-विवाद लिखे गये हैं, जिनको आज हिन्दू इतिहास अथवा दर्शन का प्रत्येक विद्यार्थी जानता

है। **वेद** साहित्य के साथ **उपनिषदों** का साहित्य "बहुत बाद में" जोड़ा गया है, अतएव यथार्थ में उन्हें **वेदों** का अंग नहीं माना जाता—यद्यपि उनका वर्गीकरण किसी न किसी **वेद** के अन्तर्गत ही किया जाता है। **वेद** की प्रत्येक **संहिता** का सम्बंध **सूत्र-साहित्य** से भी जुड़ा हुआ है। इन **सूत्रों** के अनेक वर्ग हैं। **श्रौत, गृह्य, धर्म** और **शुल्व सूत्रों** के मुख्य वर्ग हैं। इस **सूत्र-साहित्य** तक आते-आते मूल वेदों और उनके समाज से हम काफी दूर निकल आते हैं, क्योंकि इस साहित्य में हम नियम और दंड, परिवार सम्बंधी कर्म-कांड और संस्कार, सम्पत्ति और उस समाज की सभी समस्याओं को पाते हैं, जो गण समाज के रूप में नहीं रह गया था।

हम इस साहित्य में वर्णित विधियों, परम्पराओं और कथाओं, आदि का अध्ययन करके, **यज्ञ** के उन सब **कर्मों** का संकलन करते हैं जो अति-प्राचीन और मौलिक हैं—और फिर उनके आधार पर आर्यों के प्राचीन समाज की रूप-रेखा का निर्माण करने की चेष्टा करते हैं। इससे पहले भी **वैदिक** साहित्य के अनेक धुरंधर विद्वानों[२] ने इस काम को पूरा करने की चेष्टा की है। उन्होंने लगभग आवश्यकीय सामाजिक तत्वों की पूरी सामग्री को संग्रहीत करने के बाद उसे लेखबद्ध कर दिया है। पर वे तत्व को ग्रहण नहीं कर सके, अतएव हमारे सामने वे लोग प्राचीन आर्यों के साम्य संघ की रूपरेखा उपस्थित नहीं कर सके। वास्तव में इन विद्वानों के पास ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त का अभाव था। उन्होंने इस साहित्य को उन्नीसवीं सदी के पूंजीवादी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा, इसलिए वे अवांछित उलझनों में फंस गये। लेकिन उनका दृष्टिकोण एक धार्मिक कर्म-कांडी का न होकर सामाजिक था, इसलिए वे बहुत सी ऐसी सामग्री का संकलन कर सके जो हमारे लिए भी उपयोगी है। विशेषतया इसी सामग्री के आधार पर हम आर्यों के सामाजिक रूपों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, यदि उसे ठीक तरह से समझने के लिए हमें कोई कुंजी मिल जाय। यह **कुंजी यज्ञ** को ठीक-ठीक रूप में समझना है। **वेद** और **ब्राह्मणों** में ऐसी विधियां और कथाएं मिलती है जो स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आतीं। **महाभारत** की भी बहुत सी इसी प्रकार की अस्पष्ट सामग्री है। इस सम्पूर्ण अस्पष्ट सामग्री का रहस्य **यज्ञ** के यथार्थ ज्ञान द्वारा खुल सकता है। सामाजिक स्मृति, परम्परा, धार्मिक विधि-कार्य—ये सब **ब्राह्मण** और **यज्ञ** के युग्म द्वारा नियंत्रित होते हैं। आर्यों की विचारधारा के अनुसार सृष्टि, स्थिति और प्रलय इन्हीं दोनों के—ब्राह्मण और यज्ञ के—अन्तर्गत होते हैं। इन्हीं के

२. यहां पर विद्वानों की सूची देने की आवश्यकता नहीं है। विषय के प्रतिपादन के साथ-साथ हम उनका हवाला देते रहेंगे।

द्वारा सृष्टि होती है, उसका पालन-पोषण होता है और उसका नाश होता है। यदि हम **यज्ञ** को समझ लें, उसका **ब्राह्मण** और मनुष्य से क्या सम्बंध है, इसे **वेदों, ब्राह्मणों** और **महाभारत** की सहायता से जान लें, तो हमें प्राचीन आर्यों के यथार्थ स्वरूप का पता लग सकता है। और तभी हम **यज्ञ** और **ब्राह्मण** जैसे निरर्थक लगनेवाले शब्दों की सहायता से कुछ ऐतिहासिक सामग्री का संकलन कर सकेंगे। अतएव हम पहले **यज्ञ** के स्वरूप का विश्लेषण और उसकी रूपरेखा के निर्माण की चेष्टा करेंगे—उस **यज्ञ** के प्रमाणों द्वारा आर्य मनुष्य की उत्पत्ति और उस विराट् **ब्रह्म** का वर्णन करेंगे जिसके अन्दर वह निवास करता था।

दूसरा अध्याय

प्रागैतिहासिक सांस्कृतिक अवस्थाएं

इतिहास की कोई भी पाठ्य-पुस्तक हम लें, जिसमें मनुष्य की संस्कृति और सभ्यता के विषय में लिखा हो—अर्थात मनुष्य किस तरह रहता है, सोचता है और जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करता है—तो उसमें यह भी अवश्य लिखा होगा कि किस अवस्था या युग में किन साधनों द्वारा उसने अपने जीवन की आवश्यकताओं का उत्पादन किया था। समाज के लगभग समस्त इतिहासकारों और नृतत्व के वैज्ञानिकों का यह सर्वसम्मत "अभ्यास" रहा है कि विशेष रूप से वे जब प्राचीन समाजों की संस्कृतियों के विषय में लिखते हैं, तो उनके (उत्पादन के) साधनों का वर्णन भी अवश्य करते हैं। वे हमें बताते हैं कि किसी विशेष युग का मनुष्य आखेट अथवा मछली पकड़ने के साधनों का प्रयोग कर रहा था, अथवा उसके पास हल था जिससे वह खेती करता था। वे समाज के इतिहास का वर्गीकरण भी इन्हीं साधनों के आधार पर करते हैं—जैसे मनुष्य का प्रस्तर युग, कांस्य युग, लौह युग, आदि।[1] इतिहास के विषय में उनका सिद्धान्त या मत कुछ भी हो, पर वे इस यथार्थ से विमुख नहीं रह सके कि सामाजिक मनुष्य के जीवन में उत्पादन के साधन अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। किन्तु यही वह सीमा है जिसके आगे पूंजीवादी इतिहासकार नहीं जा सकते हैं, अथवा जाना नहीं चाहते हैं।

मार्क्सवादी यह मानते हैं कि समाज के पास जितनी उत्पादन शक्ति एक विशेष युग में होती है, वही उस समाज की अवस्था या दशा को निश्चित करती है। इससे पहले कि मनुष्य विचार कर सके अथवा कोई दूसरा काम कर सके, उसे सबसे पहले अपने को जीवित रखने के लिए अन्न-वस्त्र, आश्रय-स्थान, आदि के लिए प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता है। इस काम को पूरा करने के लिए वे सब साधन जिनका वह निर्माण करता है, वे सब व्यक्ति जिन्हें इस काम के लिए वह संगठित करता है, तथा इन संगठित व्यक्तियों की योग्यता,

---

१. "कैपिटल," भाग १, मास्को संस्करण, पृष्ठ १८०, फुटनोट।

कुशलता या निपुणता — ये सब मिलकर उस समाज की कुल उत्पादन शक्तियां होती हैं। इन शक्तियों के होने पर ही भौगोलिक और प्राकृतिक वातावरण अन्य सहयोगियों के रूप में सहायक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

उत्पादन की इन शक्तियों के आधार पर तथा इन शक्तियों की प्रकृति के अनुरूप समाज का संगठन बनता है। उत्पादन शक्तियों पर यह भी निर्भर करता है कि कोई समाज अपने पारस्परिक सम्बंधों और उत्पादन साधनों के सम्बंधों को किन रूपों में संगठित करे। प्राचीन युग के शिकारी, जिनके हाथों में पत्थर की बनी कुल्हाड़ी होती थी, पूंजीवादी सम्बंधों या उस समाज का निर्माण नहीं कर सकते थे। उसी प्रकार से मजदूरी कमानेवाला और पूंजीपति— जिनके पास भाप के इंजन, आदि वस्तुएं साधनों के रूप में वर्तमान हैं— आदिम साम्य संघ के सम्बंधों को नहीं अपना सकते।

समाज जब एक युग से दूसरे युग में बदलता है, तो उत्पादन के साधन ही क्रान्तिकारी तत्व होते हैं। उत्पादन के साधनों की विशेषता यह है कि वे कभी भी एक ही रूप में स्थिर नहीं रहते—उनमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। वे सदैव बदलते रहते हैं, क्योंकि मनुष्य की सामाजिक क्रियाशीलताएं और और उसकी आवश्यकताएं निरन्तर बदलती हुई आगे की ओर बढ़ती रहती हैं।

समाज के ढांचे अथवा स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए उत्पादन साधनों और उत्पादक शक्तियों में परिवर्तन होना मूल आधार है।

जांगल युग से बर्बर युग तक और बर्बर युग से सभ्यता की अवस्था तक मनुष्य के विकास-क्रम की विशेषताओं का वर्णन एंगेल्स द्वारा बनायी गयी रूप-रेखा के अनुसार सबसे अच्छे रूप में किया जा सकता है। इसी रूपरेखा को आधार बनाकर हम आर्यों के ऐतिहासिक विकास का चित्रण भलीभांति कर सकते हैं।

जांगल युग

१. *निम्न अवस्था*। यह मनुष्य जाति का शिशुकाल है। अभी मनुष्य अपने मूल निवास स्थान में, यानी उष्ण कटिबंध अथवा अर्ध-उष्ण कटिबंध के जंगलों में रहता था, और कम से कम, आंशिक रूप में, पेड़ों के ऊपर निवास करता था। केवल यही कारण है कि बड़े-बड़े हिंसक पशुओं का सामना करते हुए वह जीवित रह सका। कंद, मूल और फल उसके भोजन थे। इस काल की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि मनुष्य बोलना सीख गया। ऐतिहासिक काल में हमें जिन जन-समूहों का परिचय मिलता है, उनमें से कोई भी इस आदिम अवस्था में नहीं था। यद्यपि यह अवस्था हजारों वर्षों तक चली होगी, पर

उसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष सबूत हमारे पास नहीं है। किन्तु यदि एक बार हम यह मान लेते हैं कि मनुष्य का उद्भव पशुलोक से हुआ है, तो इस परिवर्तन-कालीन अवस्था को मानना अनिवार्य हो जाता है।

२. *मध्यम अवस्था*। यह उस समय से आरम्भ होती है जब मनुष्य मछली का (जिसमें हम केंकड़े, घोंघे और दूसरे जलजन्तुओं को भी शामिल करते हैं) अपने भोजन के रूप में उपयोग करने लगा था और आग को इस्तेमाल करना सीख गया था। ये दोनों बातें एक-दूसरे की पूरक हैं, क्योंकि मछली केवल आग के इस्तेमाल से ही पूरी तरह आदमी के भोजन के काम आ सकती है। परन्तु, इस नये भोजन ने मनुष्य को जलवायु और स्थान के बंधनों से मुक्त कर दिया। नदियों और समुद्रों के तटों के साथ-साथ चलता हुआ, मनुष्य अपनी जांगल अवस्था में भी पृथ्वी के अधिकतर भाग में फैल गया। पूर्व-प्रस्तर युग—तथाकथित पैलियोलिथिक युग—के पत्थर के बने कुघड़, खुरदरे औजार, जो पूरी तरह या अधिकतर इसी काल से सम्बंध रखते हैं, सभी महाद्वीपों में बिखरे हुए पाये जाते हैं। उनसे इस काल में संसार के विभिन्न भागों में मनुष्यों के फैल जाने का सबूत मिलता है। नये-नये प्रदेशों पर अधिकार करने, सदा नयी चीज़ों की खोज में लगे रहने तथा रगड़ से आग पैदा करने की कला में निपुण होने के कारण, मनुष्य ने खाने की अनेक नयी चीजें खोज निकालीं—जैसे गांठदार जड़ें, जिनमें श्वेतसार या "स्टार्च" होता था और कंद, जो या तो गर्म राख में या जमीन में खुदी आग की भट्ठियों में पका ली जाती थीं। पहले अस्त्रों—गदा और भाले—के आविष्कार के बाद कभी-कभी शिकार में मारे गये पशुओं का मांस भी भोजन में शामिल होता था। पूर्णतः शिकारी जातियां, जिनका वर्णन प्रायः पुस्तकों में मिलता है—यानी वे लोग जो केवल शिकार के ही सहारे जीते थे, वास्तव में कभी नहीं हुए। यह संभव नहीं था क्योंकि शिकार से भोजन पाना बहुत ही अनिश्चित था। खाने की चीजों का मिलना सदा बड़ा अनिश्चित रहता था, इसलिए ऐसा मालूम होता है कि इसके कारण इस काल में नर-मांस भक्षण भी आरम्भ हो गया और बाद में बहुत समय तक चलता रहा। आस्ट्रेलिया के आदिवासी और पौलीनीशियन जाति के बहुत से लोग आज भी जांगल युग की इस मध्यम अवस्था में रह रहे हैं।

३. *उन्नत अवस्था*। यह अवस्था धनुष और बाण के आविष्कार से आरम्भ होती है, जिनके कारण जंगली पशुओं का शिकार करना एक साधारण पेशा बन गया और उनका मांस भोजन का नियमित अंग हो गया। धनुष, डोरी और बाण मिलकर एक बहुत पेचीदा अस्त्र बन जाते हैं, जिसके आविष्कार के लिए लम्बा संग्रहीत अनुभव और पहले से तेज मानसिक शक्तियों की आवश्यकता हुई होगी, और इसलिए धनुष-बाण के साथ-साथ इस काल का मनुष्य

अन्य अनेक आविष्कारों से भी परिचित रहा होगा। यदि हम इन मनुष्यों की तुलना उनसे करें जो धनुष और बाण से तो परिचित थे, पर मिट्टी के बर्तन बनाने की कला अभी नहीं जान पाये थे (मिट्टी के बर्तन बनाने की कला से ही मौर्गन बर्बर युग का प्रारम्भ मानता है), तो हम पाते हैं कि इस प्रारम्भिक अवस्था में भी मनुष्य ने गांवों में बसना शुरू कर दिया था, और जीवन-निर्वाह के साधनों के उत्पादन पर किसी कदर काबू पा लिया था। वह लकड़ी के बर्तन-भांडे बनाने लगा था, पेड़ों की कोमल छाल से निकले सूत को उंगलियों से (बिना करघे के) बुनना सीख गया था, छाल की और बेंत की टोकरियां बनाने लगा था, और पत्थर के पालिशदार चिकने औजार (जो "निओलिथिक" कहलाते हैं) तैयार करने लगा था। अधिकतर लोगों के पास, आग और पत्थर की कुल्हाड़ी की मदद से पेड़ का तना खोदकर बनायी गयी नाव, और कहीं-कहीं मकान बनाने की लकड़ी और तख्ते भी हो गये थे। उदाहरण के लिए उत्तर-पश्चिमी अमरीका के आदिवासियों में (जिन्हें इंडियन कहा जाता है) हम यह सारी उन्नत वस्तुएं पाते हैं। वे धनुष और बाण से तो परिचित हैं, पर मिट्टी के बर्तन बनाने की कला नहीं जानते। जिस प्रकार लोहे की तलवार बर्बर युग के लिए और बन्दूक-तोप आदि सभ्य युग के लिए निर्णायक अस्त्र सिद्ध हुए, उसी प्रकार जांगल युग के लिए धनुष और बाण निर्णायक अस्त्र साबित हुए।

बर्बर युग

१. *निम्न अवस्था*। यह अवस्था मिट्टी बनाने की कला से आरम्भ होती है। इस कला की शुरूआत अनेक जगहों पर स्पष्ट रूप में, और शायद सब जगह इस तरह हुई कि टोकरियों तथा लकड़ी के बर्तनों को आग से बचाने के लिए उन पर मिट्टी का लेप चढ़ा दिया जाता था। तब जल्द ही यह पता चल गया कि अन्दर का बर्तन निकाल लेने पर भी मिट्टी के सांचे से काम चल सकता है।

हम मान सकते हैं कि यहां तक, एक निश्चित काल तक मानव विकास का क्रम सभी लोगों में एक सा पाया जाता है, और प्रदेश चाहे जो रहा हो, उससे इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु बर्बर युग में प्रवेश करने के बाद हम एक ऐसी अवस्था में पहुंच जाते हैं जिसमें दोनों महाद्वीपों की प्राकृतिक देनों का अन्तर अपना प्रभाव दिखाने लगता है। बर्बर युग की विशेषता है पशुओं को पालना तथा उनकी नस्ल बढ़ाना और पौधों को उगाना। अब पूर्वी महाद्वीप में, जिसे पुरानी दुनिया भी कहा जाता है, पालने के योग्य लगभग सभी पशु, और एक को छोड़कर उगाने के योग्य बाकी सभी अनाज मिल जाते थे, जब कि

पश्चिमी महाद्वीप, यानी अमरीका में, पालने के लायक केवल एक पशु था, जिसे लामा कहते हैं, और उगाने के योग्य केवल एक अनाज, यानी मक्का था, पर वह अनाजों में सर्वश्रेष्ठ था। इन भिन्न प्राकृतिक परिस्थितियों का यह प्रभाव पड़ा कि इस काल से प्रत्येक गोलार्ध की आबादी अपने-अपने रास्ते पर चलने लगी, और दो गोलार्धों में मानव विकास की विभिन्न अवस्थाओं की सीमाओं की विशेषताएं भी अलग-अलग हो गयीं।

२. *मध्यम अवस्था*। यह अवस्था पूर्व में पशु-पालन से, और पश्चिम में खाने लायक पौधों की सिंचाई के सहारे खेती और मकान बनाने के लिए (धूप में सुखायी गयी) ईटों तथा पत्थर के प्रयोग से शुरू होती है।

पूर्व में बर्बर युग की मध्यम अवस्था उस समय आरम्भ हुई जब लोग दूध या मांस देनेवाले पशुओं का पालन करने लगे। पर मालूम होता है कि पौधों की खेती करने का ज्ञान लोगों को इस काल में बहुत समय तक नहीं हुआ। ऐसा लगता है कि चौपायों को पालने और उनकी नस्ल बढ़ाने और पशुओं के बड़े-बड़े झुंड बनाने के कारण ही आर्य और सामी लोग बाकी बर्बर लोगों से भिन्न हो गये थे। योरप और एशिया के आर्य आज भी पशुओं के समान नामों का उपयोग करते हैं, पर उगाने योग्य पौधों के नाम आपस में नहीं मिलते।

उपयुक्त स्थानों में पशुओं के रेवड़ या झुंड बनाने से गड़रियों का जीवन शुरू हो गया। सामी लोगों ने दजला और फरात नदियों के घास के मैदानों में यह जीवन आरम्भ किया, आर्यों ने भारत के मैदानों में, और दोन तथा नीपर नदियों के मैदानों में इस जीवन की शुरूआत की। पशु-पालन पहले-पहल घास के इन मैदानों की सीमाओं पर ही शुरू हुआ होगा। इसलिए बाद में आनेवाली पीढ़ियों को लगा कि पशु चरानेवाली जातियां इन्हीं इलाकों में पैदा हुई थीं, जब कि वास्तव में, ये इलाके ऐसे थे जो मानव जाति का जन्म स्थान होना तो दूर की बात है, उसके जांगल पूर्वजों के, और यहां तक कि बर्बर युग की निम्न अवस्था के लोगों के भी रहने लायक नहीं थे। दूसरी ओर यह बात भी थी कि बर्बर युग की मध्यम अवस्था के लोग एक बार चरागाहों के जीवन में प्रवेश करने के बाद यह कभी नहीं सोच सकते थे कि पानी से हरे-भरे घास के इन मैदानों को अपनी इच्छा से छोड़कर वे फिर उन जंगली इलाकों में चले जायें, जहां उनके पूर्वज रहा करते थे। यहां तक कि जब आर्यों और सामी लोगों को और अधिक उत्तर तथा पश्चिम की ओर खदेड़ दिया गया, तो पश्चिमी एशिया तथा योरप के जंगली इलाकों में बसना उनके लिए असंभव हो गया। वहां वे केवल उसी समय बस पाये जब कम उपजाऊ मिट्टी के बावजूद, अनाज की खेती

करके अपने पशुओं को खिलाना, और विशेषकर, जाड़ों में भी इन इलाकों में रहना उनके लिए संभव हो गया। बहुत संभव है कि शुरू में अनाज की खेती पशुओं को खिलाने के लिए चारे की आवश्यकता के कारण ही आरम्भ हुई हो; और बाद में चलकर ही अनाज ने मनुष्यों के भोजन के रूप में महत्व प्राप्त किया हो।

आर्यों तथा सामी लोगों के पास भोजन के लिए मांस तथा दूध बहुतायत से था, और विशेषकर बच्चों के विकास पर इस भोजन का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। शायद यही कारण है कि इन दो नस्लों का विकास औरों से बेहतर हुआ। बल्कि सच तो यह है कि यदि हम न्यू मैक्सिको में रहनेवाले पुएब्लो इंडियनों को देखें, जो प्रायः पूर्णतः शाकाहारी हो गये थे, तो हम पाते हैं कि बर्बर युग की निम्न अवस्था में मांस और मछली अधिक खानेवाले इंडियनों की तुलना में उनका मस्तिष्क छोटा होता है। बहरहाल, इस अवस्था में नर-मांस भक्षण धीरे-धीरे बन्द हो जाता है, और अगर कहीं-कहीं बाकी भी रहता है तो केवल एक धार्मिक रीति के रूप में, या फिर जादू-टोने के रूप में, जो इस अवस्था में करीब-करीब एक ही चीज थे।

३. *उन्नत अवस्था*। यह अवस्था लोहे की खनिज को गलाने से शुरू होती है और अक्षर लिखने की कला का आविष्कार होने तथा साहित्यिक लेखन में उसका प्रयोग होने लगने पर सभ्यता में परिवर्तित हो जाती है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, इस अवस्था को स्वतंत्र रूप से केवल पूर्वी गोलार्ध के लोग ही पार कर पाये। इस अवस्था में उत्पादन की जितनी उन्नति हुई, उतनी पहले की तमाम अवस्थाओं में कुल मिलाकर भी नहीं हुई थी। वीर काल के यूनानी, रोम की स्थापना से कुछ समय पहले के इटली के कबीले, टैसिटस के जमाने के जर्मन, और वाइकिंग दस्युओं के काल के नौर्मन लोग इसी अवस्था से सम्बंध रखते हैं।

सबसे बड़ी बात यह है कि इस अवस्था में हम पहली बार लोहे के हल द्वारा पशुओं की मदद से भूमि को जुतता हुआ पाते हैं। इसकी मदद से बहुत बड़े पैमाने पर खेती करना—खेतों के रूप में पौधे उगाना—संभव हो गया था, और उस समय की परिस्थितियों में जीवन-निर्वाह के साधनों में एक तरह से असीम वृद्धि हो गयी थी। इसके साथ-साथ ही हम लोगों को जंगलों को काट-काटकर उन्हें खेती की तथा चरागाह की जमीन में बदलते हुए देखते हैं, और यह काम भी लोहे की कुल्हाड़ी और फावड़े की मदद के बिना बड़े पैमाने पर नहीं हो सकता था। परन्तु, इस सबके साथ-साथ जनसंख्या तेजी से बढ़ी और छोटे-छोटे इलाकों में बड़ी घनी बस्तियां आबाद हो गयीं। जब तक खेतों की शक्ल में खेती नहीं शुरू हुई थी, तब तक केवल बहुत असाधारण परिस्थितियों में ही,

पांच लाख आदमी एक केन्द्रीय नेतृत्व के नीचे कभी आये होंगे; बल्कि शायद ऐसा कभी नहीं हो पाया था।

होमर की कविताओं में, और विशेषकर **इलियाड** में, हम बर्बर युग की उन्नत अवस्था को अपने विकास के चरम शिखर पर पाते हैं। लोहे के बने हुए अच्छे औजार, धौंकनी, हाथ से चलनेवाली चक्की, कुम्हार का चाक, तेल और शराब बनाना, धातुओं के काम का एक कला के रूप में विकास, गाड़ियां और युद्ध के रथ, तख्तों और कड़ियों से पानी में चलनेवाले जहाज बनाना, भवन निर्माण का एक कला के रूप में प्रारम्भिक विकास, मीनारों और छतों से घिरे छज्जों से युक्त और चहारदीवारी से घिरे नगर, होमर के जैसे महाकाव्य, और समस्त पौराणिक कथाएं—इन्हीं वस्तुओं की विरासत को लेकर यूनानियों ने बर्बर युग से सभ्यता के युग में प्रवेश किया था। सीजर ने, और यहां तक कि टैसिटस ने भी उन जर्मनों का वर्णन किया है जो संस्कृति की उस अवस्था के द्वार पर खड़े थे, जिसके शिखर पर पहुंचकर होमर के काल के यूनानी अगली अवस्था में प्रवेश करने की तैयारी कर रहे थे। यदि हम उन जर्मनों की इन यूनानियों की अवस्था से तुलना करें, तो हमें पता चलेगा कि बर्बर युग की उन्नत अवस्था में उत्पादन का कितना अधिक विकास हुआ था।

"मौर्गन का अनुसरण करते हुए, जांगल युग तथा बर्बर युग से होकर सभ्यता के आरम्भ तक मानव जाति के विकास का जो चित्र मैंने ऊपर खींचा है, वह अनेक नयी विशेषताओं से भरा है। इससे भी बड़ी बात यह है कि ये विशेषताएं निर्विवाद रूप में सत्य हैं, क्योंकि वे सीधे उत्पादन से ली गयी हैं। फिर भी यह चित्र उस चित्र की अपेक्षा धुंधला और अपर्याप्त ही लगेगा, जो हमारी यात्रा के अन्त में स्पष्ट होगा। उसी समय हमारे लिए इस बात का पूरा चित्र खींचना संभव होगा कि बर्बर युग से सभ्यता के युग में किस प्रकार परिवर्तन हुआं और इन दो युगों के बीच कितना मार्के का अन्तर है। फिलहाल, मौर्गन के युग-विभाजन को सार-रूप में हम इस तरह पेश कर सकते हैं: जांगल युग—यह वह काल था जिसमें मुख्य रूप से खाने-पीने की केवल उन्हीं चीजों को अपनाया गया जो प्रकृति में तैयार मिलती थीं। मनुष्य खुद, मोटे तौर पर, केवल कुछ औजार तैयार करता था, जिनसे प्राकृतिक उपज को अपनाने में मदद मिलती थी। बर्बर युग—यह वह काल था जिसमें पशु-पालन तथा भूमि पर खेती करने का ज्ञान प्राप्त हुआ, और जिसमें मानव क्रियाशीलता के द्वारा प्रकृति की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने के तरीके सीखे गये। सभ्यता का युग—यह वह काल था जिसमें प्रकृति की उपज को और भी बदलने का, उद्योग-धंधों तथा कला का और भी ज्ञान प्राप्त किया गया।" (एंगेल्स, **परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति**, हिन्दी संस्करण, पृष्ठ २९-३३)

सभ्यता का युग

मनुष्य समाज ने जब सभ्यता के युग में प्रवेश किया, तो इसका मतलब यह था कि आदिम साम्य संघ का अन्त हो चुका था। बर्बर युग और सभ्यता के युग के अन्तर को एंगेल्स ने इस प्रकार बताया है :

> "सभ्यता समाज के विकास की वह अवस्था है, जिसमें श्रम का विभाजन, उसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों के बीच में होनेवाला विनिमय, और इन दोनों चीजों को मिलानेवाला बिकाऊ माल का उत्पादन अपने पूर्ण विकास पर पहुंच जाते हैं, और पहले से चलते आये पूरे समाज में क्रान्ति कर डालते हैं।" (**उपरोक्त पुस्तक,** पृष्ठ २४३)

विनिमय और बिकाऊ माल का उत्पादन निजी सम्पत्ति को जन्म देता है। उसीसे अमीर और गरीब का अन्तर पैदा होता है; वर्ग का और एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण, दासता, नारी के ऊपर पुरुष का शासन, नगरों और गांवों का विरोध, और अन्त में, शोषक वर्ग के एक अस्त्र के रूप में शोषित वर्ग को निरन्तर दबाये रखने के लिए शासन-सत्ता का जन्म होता है।

> "इस विधान को अपनी नींव बनाकर सभ्यता ने ऐसे-ऐसे काम कर दिखाये हैं, जिन्हें पुराना गण समाज हरगिज नहीं कर सकता था। परन्तु इन्हें करने के लिए सभ्यता ने मनुष्य की सबसे नीच भावनाओं और मनोवृत्तियों को उभारा, और उसके अन्य तमाम गुणों को नीचे दबाकर इन अवगुणों को विकसित किया। सभ्यता के अस्तित्व के पहले दिन से लेकर आज तक नग्न लोभ ही उसकी मूल प्रेरणा रहा है। धन कमाओ, और धन कमाओ और जितना बन सके उतना कमाओ! समाज का धन नहीं, एक अकेले क्षुद्र व्यक्ति का धन—बस यही सभ्यता का एकमात्र और निर्णायिक उद्देश्य रहा है। यदि इस उद्देश्य को पूरा करने की कोशिशों के दौरान में विज्ञान का अधिकाधिक विकास होता गया, और समय-समय पर कला के पूर्णतम विकास के युग भी बार-बार आते रहे, तो इसका कारण केवल यह था कि धन बटोरने में आज जो भारी सफफता प्राप्त हुई है, वह विज्ञान और कला की इन सफलताओं के बिना प्राप्त नहीं की जा सकती थी।" (**उपरोक्त पुस्तक,** पृष्ठ २४७)

इसलिए जब हम आर्यों के प्राचीन इतिहास को देखते हैं, तो सबसे पहले हमें उन औजारों को देखना होगा जो उनके पास थे और जिनसे वे उत्पादन करते थे। उन्हीं से उनके सामाजिक संगठनों का—उनके उत्पादन सम्बंधों का, और फिर उनके आचार-विचार, नैतिक सिद्धान्त, परिवार के सम्बंध, आदि का भी ज्ञान हो सकता है।

तीसरा अध्याय

"यज्ञ"—आर्य साम्य संघ की सामूहिक उत्पादन प्रणाली

वैदिक साहित्य और **महाभारत** महाकाव्य में सृष्टि की उत्पत्ति और भूमि पर प्राचीन मनुष्य जीवन के बारे में बहुत सी कथाएं मिलती हैं। जांगल युग के मनुष्य में उत्पन्न कल्पनाओं और स्वप्नों को छोड़कर, **वैदिक** परम्परा ने अपने पूर्वजों की आरम्भिक जीवन प्रणाली, उनके रहन-सहन, क्रिया-कलाप और उनकी प्रगति की स्मृति को जीवित रखा है। आगे चलकर हिन्दू आर्यों ने सामाजिक (आर्यों के) विकास के बारे में तथा मनुष्य और तमाम सृष्टि के बारे में स्वयं अपने सिद्धान्त बना लिये थे। इस गति को समझने के लिए उन्होंने **युग** और **मन्वंतरों** के सिद्धान्त की रचना की थी। ये सिद्धान्त केवल कल्पना या स्वप्न ही नहीं थे। समाज में चली आती हुई स्मृतियों द्वारा उन्हें सामाजिक परिवर्तनों का ज्ञान हुआ था। उस ज्ञान को उन्होंने जांगल या वर्बर युग की कल्पनाओं के रूपों में उपस्थित किया था। उस अवस्था में मनुष्य का यह स्वभाव था कि वह हर वस्तु को, हर प्राकृतिक घटना को, जीवन और बुद्धि या चेतना का रूप प्रदान कर देता था। अपनी चेतना के अनुरूप ही वह दुनिया को देखता था। प्रकृति से अभी तक उसका आन्तरिक सम्बंध नहीं छूटा था। वह अभी तक पूरी प्रकृति का ही अंग था। इसलिए उसने सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, ऋतुओं, वृक्ष, पत्थर, नदी, भूमि—इन सबको अपने ही समान जीवन और चेतना सौंपकर उनका व्यक्तीकरण किया और उन्हें शक्ति, देवता और देवी के रूपों में देखा। मृत व्यक्ति को वे अभी तक मरा हुआ नहीं मानते थे। यद्यपि उसे जमीन में दफना दिया जाता था या जला दिया जाता था, फिर भी वे मानते थे कि भोजन करते समय वह उनके साथ बैठकर खा रहा है। उस काल में विज्ञान, प्रकृति और समाज का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण इस प्रकार की चिन्तनाएं, सिद्धान्त और कल्पनाएं अनिवार्य रूप से उठती थीं। इस तरह के सिद्धान्त प्रत्येक आदिम समाज में उठे हैं। लेकिन इसके सिवा सामाजिक जीवन, उत्पादन की प्रणाली,

उत्पादन शक्तियों का स्तर और उत्पादन सम्बंध भी इस प्रकार के सिद्धान्तों के कारण थे। प्राचीन कथाएं और पौराणिक कहानियां इन सामाजिक सम्बंधों को बिना अपने में व्यक्त किये हुए नहीं चल सकती थीं। वास्तव में ये सामाजिक सम्बंध ही इन कथाओं के तत्व हैं।

हिन्दू सिद्धान्त के अनुसार इतिहास अथवा विश्व एक स्थान पर रुका हुआ या जड़ नहीं है, बल्कि सदैव परिवर्तनशील है। इन परिवर्तनों के साथ-साथ संघर्ष और ध्वंस भी तब तक चलता रहता है, जब तक एक ऐसी नयी व्यवस्था का उदय न हो जाय, जो कुछ समय के लिए स्थिर रह सके। ये परिवर्तन मनुष्य और उसके सामाजिक जीवन पर मुख्य रूप से प्रभाव डालते हैं। ये प्रभाव इस सीमा तक बढ़ जाते हैं कि एक युग की विशेषता दूसरे युग में उसकी विरोधिनी बन जाती है। इस विषय का हम यहां ज्यादा विस्तृत वर्णन नहीं करेंगे। लेकिन यह बात ध्यान देने योग्य है कि परिवर्तन और इतिहास के बारे में यह गतिशील दृष्टिकोण धीरे-धीरे अपनी सारी महत्ता उस समय खो बैठा, जब उस गति को ईश्वर या भाग्य से नियंत्रित एक न टूटनेवाले चक्कर में, यंत्र के समान घूमनेवाली वस्तु मान लिया गया। इस तरह के अंध-विश्वास के स्तर तक पहुंचने से पहले हिन्दू इतिहासकारों ने उन परिवर्तनों का बड़ी सचाई से उल्लेख किया, जिन्हें सामाजिक स्मृति के द्वारा उन्होंने जाना था।

सम्पूर्ण काल अथवा सामाजिक इतिहास को चार युगों में बांटा गया है। इन युगों के नाम हैं—**कृत** (सत), **त्रेता, द्वापर** और **कलि**। मानव या आर्यों के समाज का आरम्भ **कृत** युग (या सत युग) से होता है—दूसरे दो युगों को पारकर महाभारत की लड़ाई के बाद उसने **कलि** युग में प्रवेश किया था। इस युग का अन्त अभी नहीं हुआ है।

इस प्रकार से हिन्दू इतिहासकार के मतानुसार मानव समाज ने, या उसके समाज ने, विकास के चार निश्चित और पृथक युगों को पार किया है। इन चार युगों में से हर एक के अपने सामाजिक संगठन के अलग नियम होते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि हर युग में सम्पत्ति का उत्पादन और वितरण, सामाजिक सम्बंध, विवाह, परिवार और आचार-विचार के तथा पूजा के नियम अलग-अलग होते थे।

हिन्दू साहित्य इस बात पर खास जोर देता है कि हर **युग** में मनुष्य के अंदर जिस वस्तु का परिवर्तन होता है, वह **धर्म** है। और **धर्म** क्या है ? धर्म उसके रहन-सहन का ढंग, उसकी सत्ता* का नियम है। और इस सत्ता का विशेष लक्षण क्या है ? धन की उत्पत्ति और अपने-आपको उत्पन्न करना (सन्तान

---

* धृ धारयति इति धर्मः।

उत्पन्न करना—अनु.), यानी यौन सम्बंध या विवाह। हिन्दू इतिहासकार इन्हें **अर्थ** और **काम** कहते हैं।

आदर्शवादी हिन्दू कुछ भी उपदेश दिया करें, पर उनके प्राचीन पूर्वज मनुष्य जीवन और समाज की सत्ता के लिए भौतिक तत्व को आधार मानकर उसे महत्व प्रदान करते थे।

इतिहास के हिन्दू दार्शनिक सामाजिक विकास के इन चार युगों का वर्णन किस प्रकार करते थे ?

एतरेय ब्राह्मण में इसका वर्णन इस तरह से है (सात–१५):

*कृत युग चलता है।**
त्रेता युग खड़ा रहता है।
द्वापर युग धीरे-धीरे चलता है।
कलि लेट जाता है या सो जाता है।

पहले तीन युगों और **कलि** का अन्तर बहुत स्पष्ट है। चूंकि लेखक की आंखों के आगे यही युग चल रहा है, इसलिए उस पर विशेष ध्यान दिया गया है और उसका वर्णन अनेक ग्रंथों में विशेष विस्तार के साथ किया गया है। इसे हम आगे देखेंगे।

इन युगों को पार करते हुए मनुष्य के विकास को **वेदों** ने किस तरह से दिखाया है ? क्या उन्होंने समाज में उत्पादन के साधनों और उत्पादन के सामाजिक सम्बंधों को बदलते हुए दिखाया है ? इन सवालों के जवाब में **वेद** के लेखकों ने सामाजिक विकास को किस रूप में उपस्थित किया है ?

पूरा **वेद** साहित्य सिर्फ एक मांग उपस्थित करता है। और उस मांग को पूरा करने के लिए उपायों को खोजता है। वह मांग **धन** है। इस **धन** के दो रूप हैं। एक है **अन्न** और दूसरा है **प्रजा** (मनुष्य)। **धन** या **अन्न** उस समाज के उत्पादन के साधनों, आर्थिक उत्पादन की क्रियाशीलता का द्योतक है जिसका सीधा सम्बंध **प्रजा** से जुड़ा हुआ है। इन दो प्रश्नों पर सभी **वेद संहिताओं** में बहुत मात्रा में सामग्री मिल जाती है।

अन्न के लिए संघर्ष उन दिनों बहुत कठिन था। पत्थर के औजारों के कारण इस संघर्ष को इतना अधिक कठिन होना पड़ा था। आर्य लोग जांगल युग के उन लोगों की दशा यादकर कांप उठते होंगे, जो संकट में पड़े अपने जीवन को लेकर इधर-उधर भटका करते थे, भोजन के लिए जिनके पास कोई

---

* कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥

निश्चिन्तता नहीं थी, जिनके पास रहने के लिए घर नहीं थे, आग नहीं थी, और प्रकृति तथा जंगली पशुओं से बचने के लिए जिनके पास कोई साधन नहीं थे। समाज के अनेकों गिरोह भोजन पाने के इस संघर्ष में नष्ट हो गये। कभी-कभी मनुष्य को यह सोचना पड़ जाता था कि उसकी पूरी जाति कहीं इस संघर्ष में समाप्त तो नहीं हो जायगी ? **वेद** के दार्शनिकों ने इस भय को अपनी भाषा में बताया है। भोजन के लिए, अपनी सत्ता के लिए और उत्पन्न करने के लिए वे जो श्रम या संघर्ष करते थे, वह किसी सृष्टिकर्ता या **प्रजापति** के श्रम या संघर्ष से कम नहीं था। आर्यों के **प्रजापति** के सामने भी यही समस्या और यही संघर्ष था। सृष्टि करते समय **प्रजापति** को अनेक बार "गर्भपात" हुआ और उन्हें भी यही भय हुआ कि अन्न या भोजन की कमी से कहीं उनका विनाश न हो जाय।

लेकिन तभी दूध की उत्पत्ति हुई। **प्रजापति** को दूध पिलाया गया। इससे उनकी जीवन-शक्ति फिर लौट आयी। तब उन्होंने चुने हुए ग्यारह पशुओं को आग पर सेंककर खाया।[1] इस तरह से विश्व पैदा हुआ और जीवित रहा। अगर यह दशा सृष्टि करनेवाले ईश्वर की थी, तो आप मानव दशा की कल्पना आसानी से कर सकते हैं !

इसलिए आर्यों के देवताओं ने अपने नेता इन्द्र से कहा था कि वह पत्थर और हड्डियों के हथियारों से—**वज्र** और **अस्थि** से—युद्ध करें। वे पैनी हड्डियां **दधीचि** की थीं। **वृत्र** या **विश्वरूप** के विरोध में इन हथियारों की सहायता से लड़ने के लिए उनसे सभी देवताओं ने कहा था, क्योंकि वे दूसरों को जीवित रहने के साधन नहीं दे रहे थे।

कृत युग की जांगल अवस्था में हजारों वर्षों तक मनुष्य जाति इधर-उधर भटकती घूमती रही। वे बहुत से प्रदेशों में गये। कहीं पर भोजन की कमी के कारण, कहीं पर रोगों के कारण, कहीं पर शत्रुओं के हमलों के कारण उन्हें उन प्रदेशों से बाहर निकलना पड़ा। इस विषय में एक बहुत प्राचीन संकेत **वेन्दीदाद** में है। उसमें सोलह प्रदेशों के नाम गिनाये गये हैं जिनमें आर्यों को एक स्थान पर स्थिर होने से पहले घूमना पड़ा था। **वेन्दीदाद** में जिस यात्रा का वर्णन मिलता है, उसका सम्बंध सिर्फ जांगल युग से ही नहीं, बल्कि उसके बाद के युगों की यात्राओं से भी है। हां, **कलि** युग या सभ्य अवस्था के विषय में उसमें कुछ नहीं लिखा है।

ऐसी दशा में व्यक्तिगत सम्पत्ति के ऊपर अधिकार करने, दासों को रखने और राजसत्ता को बनाने की समस्या नहीं उठती; संक्षेप में यह कि ऐसे समाज

---

१. ऋग्वेद : ३–६–१–१; २–५

की रचना करना जिसका आधार शोषक और शोषित वर्गों पर हो—इसका भी प्रश्न नहीं उठ सकता था। उस समय जो कुछ भी पैदा किया जाता था, या जिस पर अधिकार किया जाता था, वह सामूहिक श्रम द्वारा ही उत्पन्न होता था, इसलिए उसका उपभोग भी सामूहिक होता था। प्रकृति के विरोध में संघर्ष करने और जीवित रहने में अकेला मनुष्य दुर्बल साबित होता था।

विकास की दूसरी अवस्था वह है, जहां मनुष्य ने **आग** का पता लगाया और **पशुओं को पालने** की कला को अपना लिया था। सबसे प्राचीन जांगल अवस्था के मनुष्य को न तो आग का पता था और न उसे पशुओं को पालना ही आता था। **आग** के आविष्कार ने और पशु-पालन ने मनुष्य के सामाजिक संगठन और जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया।

> "इन दोनों प्रगतियों ने मनुष्य को प्रत्यक्ष रूप से मुक्त करने में सहायता दी थी।"[२]

आग का ज्ञान अवश्य ही जंगल में हुआ होगा। बादलों से बिजली वृक्षों पर गिरकर किस प्रकार उन्हें नष्ट कर देती थी, यह उन्होंने देखा होगा। आग को मनुष्य ने सबसे पहले एक नाशकारी भयंकर प्राकृतिक शक्ति के रूप में देखा था, जो हर वस्तु का नाश भीषण क्रोध में आकर कर देती थी।[3] लेकिन समस्या यह थी कि उसे अपनी इच्छा के अनुसार कैसे बनाया जाय? किस प्रकार से मानव के हित में उसका प्रयोग एक नियंत्रित शक्ति या साधन के रूप में किया जाय? आर्य जाति में इस समस्या का समाधान अंगिरस नाम के व्यक्ति या अंगिरस नाम के गोत्र ने किया था। अंगिरस आर्य जाति के उन प्राचीन पूर्वजों में से एक थे जिनको **प्रवर** कहा जाता है। अंगिरस ने आग की खोज सबसे पहले की थी। इसका पता **ऋग्वेद** के अनेक मंत्रों से लगता है।*

आग का ज्ञान हो जाने से आर्यों के पास एक ऐसा साधन हो गया जिसने उनके जीवन में शीघ्र ही एक महान क्रान्ति पैदा कर दी। यह क्रान्ति इतनी महान थी कि आर्यों का इसके बाद का पूरा जीवन मानो आग से ही उत्पन्न हुआ था, उसीके चारों ओर घूम रहा था और वही उनका आधार थी। सृष्टि,

---

२. कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, "संग्रहीत ग्रंथावली", भाग २, मास्को संस्करण, पृष्ठ ८० पर, एंगेल्स की रचना "वनमानुष से आदमी बनने में श्रम की भूमिका" से।

३. ऋग्वेद : १–१४३–५; १–६५–४

* त्वाम् अग्ने अंगिरसो गुहाहितम् अन्वविन्दन् शिश्रियाणं वने वने।
स जायसे मथ्यमानः सनो महत्तमाहुः ॥

ऋग्वेद : ५–२–८; १०–३२–६; ५–११–६

अस्तित्व, उन्नति, धन, सुख, आदि सभी वस्तुएं **अग्नि** से पैदा होती थीं। उसके द्वारा दो महत्वपूर्ण परिवर्तनों का जन्म हुआ। एक तो पशुओं में धन की उत्पत्ति और दूसरे मनुष्य की जनसंख्या में धन की उत्पत्ति (**प्रजा-पशवाः**)।

आग के द्वारा यह संभव हो सका कि शिकार में मारे गये पशु के मांस और मछली को भून या पकाकर आसानी से पचाया जा सके। इसलिए महान देवता **अग्नि** को **अमद** या कच्ची वस्तुओं को खानेवाला कहा गया है। उसे **क्रव्यद** भी कहा गया है, जिसका अर्थ होता है मृत मांस का खानेवाला। आग जंगली पशुओं, शत्रुता करनेवाले भूत-प्रेतादि को दूर भगाती है।[४] जलती हुई लकड़ी या मशाल के रूप में आग से जंगली पशुओं[५] या उन शत्रुओं के विरुद्ध, जिनके पास आग नहीं थी, हथियार का काम भी लिया जा सकता था, और उसे उनके ऊपर फेंका जा सकता था। ऋतुओं के कष्टों से आग ने मनुष्य को छुटकारा दिलाया। रात के अंधकार में भी इसके कारण मनुष्य की गति संभव हो सकी। साइबेरिया जैसे क्षेत्रों में यह रात बहुत लम्बी और ठंडी भी हो सकती थी।

आग की सहायता के साथ-साथ पशुओं को पालने की कला को भी मनुष्य ने अपना लिया। नियमित भोजन के कठोर प्रश्न को उसने बहुत सीमा तक हल किया।[६] शिकार खेलना और मछली मारकर भोजन के रूप में प्राप्त करना इतना कठिन था कि मनुष्य को नर-मांस भक्षण का सहारा लेना पड़ता था। लेकिन एक बार जैसे ही स्वर्ग से **अग्नि** मनुष्य के घर में आ गयी और जब उन पशुओं को स्थायी रूप से अपने पालतू साथियों के रूप में रखना संभव हो गया, जो उसे दूध और मांस देते थे, वस्त्रों के लिए अपनी खाल और रोम देते थे, जिनसे मनुष्य गरमी का अनुभव करता था, जिनकी हड्डियों और सींगों से उपयोगी औजार बनते थे—वैसे ही मनुष्य का जीवन एक नये और अधिक ऊंचे युग में आ गया। **युग** में परिवर्तन हो गया।

इन सब परिवर्तनों की नेत्री फिर वही **अग्नि** थी। इसी **अग्नि** ने आगे चलकर कच्चे लोहे को पिघलाना संभव बनाया, जिससे मानव समाज में एक और नयी क्रान्ति हुई। लेकिन यह घटना बाद में संभव हुई थी, इस काल में नहीं। इसलिए **ऋग्वेद** में अग्नि को बस्तियों का नेता और रक्षक कहा गया है। अग्नि **विशपति** है—**विश** का अर्थ है बस्ती। केवल अग्नि ने ही गृहस्थ जीवन को संभव बनाया। देवताओं ने उसे मनुष्यों के कल्याण के लिए भेजा था।

---

४. ऋग्वेद : ३–१५–१

५. ऋग्वेद : ३–१५–१

६. ऋग्वेद : ६–६६–२; ५–२६–७; १–५८–५; आदि।

वह मनुष्य जाति की सबसे पुरानी और सबसे महान सखी थी। वास्तव में उसके द्वारा ही देवता भी अपना भोजन पाते थे।

"व्यावहारिक रूप में यांत्रिक गति को ताप में परिणत करने का अन्वेषण इतना प्राचीन है कि यह माना जा सकता है कि इसका आरम्भ मनुष्य के इतिहास के साथ-साथ हुआ होगा। औजारों को बनाने और पशुओं को पालने के रूप में इस आविष्कार के पहले चाहे जितने और आविष्कार हुए हों, लेकिन रगड़ द्वारा आग पैदा करना वह पहला आविष्कार था जिसने प्रकृति की जड़-शक्ति को मनुष्य की भलाई के लिए उसके अधिकार में दे दिया था। मनुष्य जाति की इस महान प्रगति का प्रभाव उसके मस्तिष्क पर बहुत पड़ा। आज तक इस प्रभाव के चिन्हों को हम साधारण जनों के काल्पनिक विश्वासों में देख सकते हैं। कांसे और लोहे को प्रयोग में लाने के बहुत बाद भी लोग पत्थर के चाकू को नहीं भूले थे। प्राचीन युग के एक औजार होने के नाते उसकी प्रतिष्ठा की पूजा सभी धार्मिक बलिदानों में की जाती थी। धार्मिक बलिदानों में लोग उसी का प्रयोग करते थे। एक यहूदी कहानी के अनुसार जोशुआ ने यह आज्ञा दी थी कि जिसका जन्म धर्म के अनुसार न हुआ हो, उसका खतना पत्थर के चाकू से करना चाहिए। कैल्ट और जर्मन जब नर-बलि देते थे, तो खास तौर से पत्थर का चाकू काम में लाते थे। लेकिन इन सब बातों को बहुत दिनों पहले लोग भूल गये थे। परन्तु रगड़कर आग बनानेवाली बात दूसरी थी। आग बनाने के अनेक उपायों को जान लेने के बहुत बाद भी प्रत्येक जाति में पूजा की अग्नि या पवित्र अग्नि को रगड़कर ही पैदा किया जाता था। यहां तक कि आज भी योरप के बहुसंख्यक देशों में जन-साधारण के अंध-विश्वास इस बात का हठ करते हैं कि चमत्कारपूर्ण शक्तिवाली अग्नि (जैसे हमारे जर्मनी में संक्रामक रोगों को दूर करने के लिए पवित्र उत्सव-अग्नि) को रगड़कर ही पैदा करना चाहिए। इस तरह से हम यह देखते हैं कि हमारे युग तक प्रकृति के ऊपर मनुष्य की पहली महान विजय—जाने-अनजाने में—स्मृति के रूप में, अंध-विश्वासों के रूप में चली आ रही है। इस स्मृति के चिन्ह पौराणिक कथाओं और दुनिया के सबसे ज्यादा शिक्षित लोगों में भी मिलते हैं।" (एंगेल्स, **प्रकृति का द्वंद्ववाद,** पृष्ठ ७९–८०)

इस प्रकार आर्यों ने अपने नये जीवन का निर्माण आग और पशुओं को केन्द्र बनाकर किया। उत्पादन के नये साधनों द्वारा समाज की रचना की गयी जिसमें उत्पादन की शक्तियां नये स्तर पर पहुंच गयी थीं। एक ऐसी उत्पादन

प्रणाली का जन्म हुआ जिसने मनुष्य के इतिहास में पहली बार बीते युगों की अपेक्षा बहुत ज्यादा धन तथा अन्य वस्तुओं का उत्पादन किया था। इससे पहले के युग में जीवन आधार दुर्बल और अस्थिर था—लोग एक जगह से दूसरी जगह भटकते फिरते थे—विनाश और मृत्यु फैले हुए थे। सृष्टि और सृष्टिकर्ता का "गर्भपात" हो रहा था। उत्पादन की नयी प्रणाली, और नयी शक्तियों ने मनुष्य को जांगल युग से निकालकर बर्बर अवस्था में ला दिया था। **कृत** युग से मनुष्य समाज **त्रेता** युग में आ गया, यायावरीय जीवन को छोड़ वह बस्तियों में रहने लगा। भुखमरी और कभी-कभी होनेवाले नर-मांस भक्षण को छोड़ वह नियमित भोजन, आश्रय और सुरक्षा का जीवन बिताने लगा। नंगे रहने के स्थान पर उसके पास वस्त्र हो गये। प्रकृति के सामने जिस दुर्बलता और निस्सहायता का अनुभव वह कर रहा था, उसे छोड़ वह शक्तिवान और उन्नत अवस्था की ओर बढ़ने लगा। पहले वह घूम रहा था और थकावट के कारण लम्बी-लम्बी सासें ले रहा था—लेकिन अब वह विश्वास के साथ खड़ा था और आनन्द, मुस्कराहट तथा गीतों से दीप्त हो उठा था।

उत्पादन की इस नयी प्रणाली, नये सामाजिक संगठन और नूतन कला को उसने किस नाम से पुकारा ?

वैदिक परम्परा कहती है कि आग, पशु-पालन, तथा बस्तियों (**विश** या **व्रज**) के निर्माण के साथ-साथ **यज्ञ** की उत्पत्ति हुई। **त्रेता** युग † में **ब्रह्म** ने—जो सृष्टिकर्ता था—मनुष्य* को **यज्ञ** प्रदान किया। **यज्ञ कृत** युग में नहीं था। परम्परा का यह भी कहना है कि **ब्रह्म** ने मनुष्य को जितनी वस्तुएं भेंट की हैं, **यज्ञ** उन सबमें श्रेष्ठ है। इसने मनुष्य को एक **युग** से निकालकर दूसरे में पहुंचा दिया था।

आग का पता लगने के बाद **यज्ञ** उत्पादन की नयी प्रणाली बन गया, जिसमें आर्यों के समाज ने प्रवेश किया। इस **यज्ञ** प्रणाली में नयी रीति से रहता हुआ मनुष्य **ब्रह्म** को विकास और वैभव की ओर ले गया था। जब **यज्ञ** किया जाता था तो **ब्रह्म** यानी सृष्टि का अस्तित्व होना आरम्भ हो जाता था। यह **ब्रह्म** बिना इस **यज्ञ** के नहीं रह सकता और न उसके बाहर ही रह सकता था। उसके अस्तित्व का रूप ही **यज्ञ** था। इसलिए हम आरम्भ के **यज्ञ** और **ब्रह्म** की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं : **आर्यों के साम्य संघ का नाम** *ब्रह्म* **है और**

---

† त्रेतायुगे विधिरतुएष यज्ञानाम्
न कृतयुगे—महाभारत, शांति पर्व (२३८–१०१)
त्रेतादौ यज्ञाः—महाभारत, शांति पर्व (२४४–१४)

* सह यज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा।

यज्ञ उस समाज की उत्पादन प्रणाली है—आदिम साम्य संघ और उत्पादन की सामूहिक प्रणाली का यही रूप था। उत्पादन की इस प्रणाली तथा **विराट ब्रह्म** के जीवन अथवा साम्य संघ का ज्ञान वेद है। हिन्दू परम्परा ने इतिहास को इसी तरह से लेखबद्ध किया है। और आर्य इतिहास के सबसे प्राचीन युग—आदिम साम्यवाद के युग—को समझने के लिए यही एक कुंजी है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद का यह मत है कि आदिम साम्यवाद, सामाजिक मनुष्य के ऊपर, उत्पादक शक्तियों के बहुत अधिक **पिछड़े** होने और उत्पादन की **दरिद्रता** के कारण अनिवार्य रूप से लादा जाता है। उत्पादन की अधिकता के कारण आदिम साम्यवाद की स्थापना नहीं होती। आदिम साम्यवादी व्यवस्था में जो भी उत्पादन होता है, वह सामूहिक श्रम से ही संभव होता है—निजी उत्पादन, निजी उपभोग तथा निजी गृहस्थी का जीवन वहां संभव नहीं होता। इसी आवश्यकता के आधार पर मनुष्यों के परस्पर सम्बंध नियंत्रित होते हैं। आदिम साम्यवादी व्यवस्था के ये विशेष गुण हैं। क्या **यज्ञ** की उत्पादन प्रणाली में ये विशेषाताएं मिलती हैं ? जिस तरह सभी प्राचीन जन-समूहों के इतिहासों में आदिम साम्यवाद या सामूहिकतावाद की अवस्था में विशेषताएं रही हैं, क्या उसी प्रकार की विशेषताएं **ब्रह्म** या आदिम साम्य संघ के जीवन, संस्कृति, दर्शन, आचारशास्त्र और नैतिकता में रही हैं ? क्या **यज्ञ** की उत्पादन प्रणाली और **ब्रह्म** में हमें आदिम साम्यवादी व्यवस्था के वे मूल तत्व मिलते हैं, जिन्हें मौर्गन ने लिखा है, जिन्हें मार्क्स और एंगेल्स ने समझाया है और जिन्हें ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त को न माननेवाले पूंजीवादी विद्वान भी किसी सीमा तक मानने को बाध्य हो जाते हैं ? हां, वे मूल तत्व मिलते हैं। आगे हम इसे दिखाने की कोशिश करेंगे।

आदिम साम्यवादी व्यवस्था की उत्पादन प्रणाली, उसके जीवन के मूल तत्व इस प्रकार हैं — उस व्यवस्था में सामूहिक श्रम और सामूहिक उपभोग होता था। व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। आरम्भ में श्रम विभाजन नहीं था, पर बाद में उत्पादन शक्तियों के बढ़ने पर वह प्रकट होने लगा था। वर्गों का अस्तित्व नहीं था — सामाजिक संगठन का रूप गण संगठन होता था, जिसका आधार मातृसत्ता थी; उसके सभी सदस्य आपस में सम्बंधी होते थे। व्यक्तिगत कुटुम्ब और विवाह का वह अर्थ जो बाद की सभ्यताओं में लगाया जाता है, उस समय नहीं था। जितनी भी क्रियाशीलताएं थीं वे साम्य संघ के मतानुसार होती थीं। उस व्यवस्था में उत्पादन के सम्बंधों को या सम्पत्ति के सम्बंधों को जबर्दस्ती लादने के लिए कोई ऐसी शासन-सत्ता नहीं थी जिसके पास सेना और पुलिस हो या जो कर लगाती हो — इसलिए शासन-सत्ता के किसी नियम को लागू करने के लिए सत्ता के यंत्र का अस्तित्व भी नहीं था।

इन सब वस्तुओं के होने पर साम्य संघ टूट जाता है और उसकी सामूहिकता नष्ट हो जाती है।

वैदिक साहित्य में ये सब विशेषताएं—हिन्दू आर्यों के समाज के अनेक **यज्ञों** का वर्णन करते हुए—अपनी शैली में कही गयी हैं। **वेद की संहिताओं** में अनेक युगों की स्मृतियां और तत्व संकलित हैं। जब देवता **यज्ञ** करते थे, उसमें रहते थे, और उसके द्वारा जीवित रहते थे, तब **यज्ञ** वह तत्व था जो सम्पूर्ण जीवन का नियंत्रण करता था। उनमें उन **यज्ञों** का भी वर्णन मिलता है जो किसी युग में आकर विधि-मात्र ही रह गये थे। राजा, धनी तथा दरिद्र गृहस्थ, इन विधियों को ब्राह्मण-पुरोहितों की सहायता से करते थे। इनके द्वारा देवताओं को प्रसन्नकर वे अपनी मनोकामना पूरा करने की चेष्टा करते थे। यह हमारा काम है कि हम प्राचीनतम **यज्ञ** को, जिनमें पुरातन जीवन और उस युग की उत्पादन प्रणाली के रूपों की यथार्थता प्रतिबिम्बित होती थी, बाद की विधियों से अलग करके देखें। कहने का मतलब यह है कि हमें जीवित **यज्ञ** और मृत विधि-कर्म के भेद को सदैव ध्यान में रखना होगा।

वैदिक साहित्य के विद्वानों ने किसी हद तक इस भेद को देखा है, पर वे इतिहास में उसे समुचित स्थान नहीं दे सके हैं। यह स्वाभाविक है कि सबसे ज्यादा उलझन उस रहस्यमय **यज्ञ** के विषय में हो जिसके बारे में यह कहा जाता है कि उसे देवताओं ने किया था। रहस्यमय यह इसलिए है कि साहित्य में इसका वर्णन इस तरह से मिलता है जिससे यह मालूम होता है कि जिस समय **वैदिक** विधि-कर्म लिखा गया, उस समय इसका अस्तित्व नहीं था। ये रहस्यमय **यज्ञ सत्र** और **क्रतु** हैं। ये **सत्र** और **क्रतु** क्या हैं? किस समय में इनका अस्तित्व था और इनकी विशेषताएं क्या थीं?

सत्र और **क्रतु** उस समय अपने चरम शिखर पर थे जिस समय देवता **यज्ञ** करते थे। उसके बाद आर्य लोग शायद ही कभी इन **यज्ञों** का अनुकरण कर सके। लेकिन अपने **यज्ञों** का लगातार विकास वे इस प्राचीन **यज्ञ** से अवश्य करते रहे थे। आर्यों की धार्मिक कथाओं में देवता अपने पूर्वज माने जाते हैं—ऐसे देवता प्राकृतिक शक्तियों के व्यक्ति रूप भी हैं। इन दोनों प्रकार के देवताओं को किसी सीमा तक अलग-अलग भी पहचाना जा सकता है। **देवताओं द्वारा किया गया *सत्र* यज्ञ, प्राचीन आर्यों का सामूहिक रूप में किया गया श्रम है।**

सत्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें भाग लेनेवाले सभी लोग **रित्विज** और **यजमान** होते हैं। इसका अर्थ क्या हुआ? बाद के विधि-कर्मवाले **यज्ञों** में भाग लेनेवाले लोग विभिन्न **रित्विज** श्रेणियों में बंटे हुए थे—गृहस्थ लोग उनसे **यज्ञ** करवाते थे। जो **यज्ञ** कराते थे उनको **यजमान** कहा जाता था। **यजमान यज्ञ** करने के उपलक्ष में **रित्विजों** को दक्षिणा देते थे। पर **सत्र** में यह

सब नहीं होता था। प्राचीन प्रणाली के अनुसार यह **यज्ञ** एक सामूहिक आयोजन था। सामूहिक श्रम के रूप में सभी लोग इसमें भाग लेते थे। उनमें कोई श्रेणी विभाजन अथवा श्रम विभाजन नहीं था। परवर्ती आर्यों के समय में **रित्विजों** का जो विभाजन सत्रह श्रेणियों में हुआ, उसका अस्तित्व इस युग में नहीं था।

सत्र की दूसरी विशेषता जो बाद के अन्य **यज्ञों** में नहीं पायी जाती—**यज्ञफल** है। **यज्ञ** में किये गये सामूहिक श्रम का फल **यज्ञफल** कहलाता था। यह समान रूप से सब लोगों में बांटा जाता था और समान रूप से सभी लोग उसका उपभोग करते थे। **समाख्या** नामक विधि इस समान उपभोग की प्रतीक है। **समाख्या** का अर्थ एक ही बर्तन से सोमरस का पान करना था। **सोमयाग यज्ञ** के **अग्निष्टोम में यह समाख्या** की जाती थी। किसी दूसरे **यज्ञ** में यह नहीं होती थी। इसलिए **सत्र** की यह विशेषता अपना एक गंभीर अर्थ रखती है।

सत्र की तीसरी विशेषता यह है कि उसमें भाग लेनेवाले सभी लोग एक ही **गोत्र** के होते थे—उन सब लोगों में रक्त सम्बंध होता था। अन्य **यज्ञों** में ऐसा नहीं था। अर्थ यह हुआ कि साम्य संघ के सभी सदस्य एक ही रक्त से सम्बंधित थे और कोई ऐसा व्यक्ति जो उससे बाहर होता था, उसमें भाग नहीं ले सकता था। **सत्र** श्रम या सामाजिक काम आरम्भ करने से पहले सभी लोग (वेदी पर—अनु.) अपने हाथों को रखकर यह प्रतिज्ञा करते थे कि अडिग होकर और एक मन से अन्त तक सभी लोग साथ रहेंगे। इस विधि को **तानूनपत्रप्रचार** कहा जाता था।

प्रत्येक साम्य सांघिक श्रम में इस बात की आवश्यकता रहती थी कि एक व्यक्ति को अलग बैठा दिया जाय जो योजना के अनुसार श्रम की प्रक्रियाओं का संगठन कर सके और उन्हें ठीक रास्ते पर ले जा सके। इसलिए **सत्र** की चौथी विशेषता यह थी कि किसी विशेष कार्य को सम्पन्न करने के वास्ते कुछ समय के लिए व्यक्तियों का **चुनाव** किया जाता था। कार्यों की विविधता एवं उत्पादक शक्तियों के उन्नत होने पर इसका प्रयोग हुआ था। इसीसे **प्रवरण विधि** या चुनाव का जन्म हुआ था। काम पूरा हो जाने पर साम्य संघ की साम्यता में सभी प्रमुख कार्यकर्ता मिलकर एक हो जाते थे।

इसकी पांचवीं विशेषता यह थी कि पुरुष और स्त्रियां दोनों ही **सत्र यज्ञ** या श्रम में भाग लेते थे। बाद के **यज्ञों** में यह विधि नहीं मिलती।

सत्र यज्ञ या **सत्र** श्रम की ये सब विशेषताएं इस बात को बताती है कि प्राचीन आर्यों में आदिम साम्य संघ का अस्तित्व था।

वेद साहित्य के कुछ विद्वान यहां यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या **सत्र** केवल गृहस्थ लोगों का सामान्य **यज्ञ** नहीं था, जिसके विषय में **वैदिक** परम्परा के

अनुसार **सूत्र** साहित्य में इतना सब लिखा हुआ मिलता है ? नहीं, ऐसा नहीं था। **सत्र** की पहली, तीसरी, चौथी और पांचवीं विशेषता गृहस्थ **यज्ञों** में किसी के अन्दर भी नहीं पायी जाती थी।

कुछ लोग यह प्रश्न भी कर सकते हैं कि क्या **सत्र** किसी खास **अवसर के** लिए कोई विशेष उत्सव तो नहीं होता था ? बाल गंगाधर तिलक ने अपने ग्रंथ **वेदों में उत्तरी ध्रुव का प्रदेश** (आर्कटिक होम इन दि वेदाज) में इन **सत्र यज्ञों** की ओर ध्यान दिया है। वह इन **यज्ञों** को सत्रसे अधिक प्राचीन मानते थे। यह भी मानते थे कि **सत्र** उन **यज्ञों** के समूह का नाम है जिन्हें आर्य लोग अनेक दिनों में और महीनों में बार-बार करते थे। बाल गंगाधर तिलक आदिम साम्य संघ के जीवन की सामूहिक उत्पादन प्रणाली को नहीं मानते हैं। लेकिन **वेद साहित्य** के उन सभी विद्वानों के—जो **यज्ञ** के विषय में थोड़ा भी सामाजिक दृष्टिकोण रखते हैं—विवादों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने जीवन की रक्षा और उसकी पुनरोत्पत्ति करने के लिए साम्य संघ जिन क्रियाओं को दिन-प्रति-दिन करता था, उन क्रियाओं के समूह को **सत्र** कहते थे। इसीलिए संस्कृत भाषा में **सत्र** शब्द का अर्थ "एक साथ", "मिलकर", "समूह"* लगाया जाता है।

उदाहरण के लिए हम **त्रिरात्रक्रतु** को लें, जिसको करने से देवताओं ने बहुत सा धन पा लिया था। इस **क्रतु** से हमें यह पता लगता है कि सबसे अधिक प्राचीन काल में आर्य लोग अपने पशु-धन को कैसे उत्पन्न करते थे और उसे बढ़ाते थे। **यज्ञ-कथा** अथवा **आख्यायिका** द्वारा हमें यह मालूम होता है कि **यज्ञ** का जन्म किस तरह हुआ था और उसे किन विधियों से किया गया था ? **त्रिरात्रक्रतु** की विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत तीन **क्रतु** सम्मिलित थे। एकता में आबद्ध होकर उनको सामूहिक रीति से किया जाता था। इस **यज्ञ** की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है : देवताओं में तीन देव साम्य संघ (**देव गण**) थे। उनके नाम वसु, रुद्र और आदित्य थे। **प्रजापति** ने इन तीन समूहों को उत्पन्न किया था। **आख्यायिका** में इन तीन समूहों के लिए **गण** और **संघ** शब्द का प्रयोग किया गया है। **प्रजापति** ने तीनों को एक-एक अग्नि दी और उसकी पूजा करने के लिए कहा। तीनों ने मिलकर उस अग्नि की पूजा एक वर्ष तक की और उसमें से एक गाय उत्पन्न किया। उनके इस महान परिश्रम से **प्रजापति** बहुत हुए प्रसन्न और और उन्होंने गाय को **वसु गण** को दे दिया जिससे कि वे उत्पादन कर सकें। उस एक गाय से उन्होंने तीन सौ तेंतीस गायों को पाला। तब **प्रजापति** ने पहली गाय को **वसु गण** से ले लिया

---

* साकं सत्रा समं सह इति अमरः।

और उसे **रुद्र गण** को दे दिया। उस एक गाय से उनके पास भी तीन सौ तैंतीस गायें हो गयीं। तब **प्रजापति** ने उस पहली गाय को **रुद्र** से लेकर **आदित्य गण** को दे दिया। उस गण के पास भी तीन सौ तैंतीस गायें हो गयीं। तब उन्होंने उन नौ सौ निन्यानवे गायों को और उस पहली एक गाय को मिलाकर एक हजार गायों से **यज्ञ** किया और उन सभी गायों को **दक्षिणा** के रूप में भेंट कर दिया (जैसा कि बाद के भाष्यकार कहते हैं)।

आर्य गणों के बीच प्राचीन काल में सामूहिक उत्पादन किस तरह होता था, उसके मूल तत्वों को इस कथा (**आख्यायिका**) में स्पष्ट और सरल शैली में कहा गया है। इस उत्पादन प्रणाली की पहली विशेषता यह है कि जो **ऋतु यज्ञ** करते हैं, वे **गण संघ** के देवता हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे देवता प्राचीन जनवादी आदिम साम्य संघ या गण संगठन के सदस्य हैं। दूसरी विशेषता यह है कि तीन **अग्नियों** को लेकर उन्होंने सामूहिक श्रम किया, जिससे यह ज्ञात होता है कि उन दिनों में व्यक्तिगत वितरण अथवा व्यक्तिगत अधिकार असंभव था। कथा में एक गाय को धन के उत्पादन का कारण कहा गया है। अगर वे इससे आगे धन उत्पन्न करना चाहते थे, तो इस एक गाय को तीन भागों में नहीं बांट सकते थे। तीसरी विशेषता यह है कि **गण संघों** के पास जब धन हो जाता है, तो उनके बीच उत्पादन की समानता को गायों की एक समान संख्या से बता दिया जाता है। यह समानता इस बात से भी मालूम होती है कि तीनों **गणों** को बारी-बारी से गाय दी गयी थी। चौथी विशेषता यह है कि जितना भी उत्पादन इस तरह से हुआ था, उन्हें एक साथ मिला दिया गया और तीनों **गणों** ने मिलकर इस उत्पादन का उपभोग किया, जिसे **यज्ञ** कहा गया है। इससे अधिक और स्पष्ट रूप में सामूहिक **यज्ञ** की उत्पादन और वितरण प्रणाली का वर्णन नहीं किया जा सकता।

अब हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि उत्पादन की इस **यज्ञ** प्रणाली में पूरा साम्य संघ दिन-प्रति-दिन कौन-कौन से काम या श्रम करता था? सत्र श्रम की विशेष क्रियाशीलताओं को आसानी से **सोमयाग के अग्निष्टोम, षडांग ऋतु और देवसत्र** के आधार पर समझा जा सकता है।

आदिम साम्य संघ एक बहुत छोटी इकाई थी—ठीक उसी तरह की जैसी कि हम पौलीनिशियन कबीलों की झोंपड़ोंवाली छोटी बस्तियों में या भारत के कुछ गांवों में आज भी पाते हैं। इस साम्य संघ का प्रमुख धन पशु था। इसलिए उनकी सुरक्षा का प्रबंध खास तौर से किया जाता था। पत्थरों का बाड़ा उनके लिए बनाया जाता था। पत्थरों का बाड़ा कभी-कभी इतना बड़ा बनाया जाता कि पूरी बस्ती को वह घेर लेता था। उन्हें **अश्मव्रज** कहते थे। प्राचीन योरप में उसी के समान पत्थरों के बाड़े होते थे। **समिध** नाम की जलाई जानेवाली

लकड़ी से प्रज्वलित अग्नि उनके जीवन का केन्द्र थी। लकड़ी के बने एक चतुर्भुज आकार[७] में, जिसकी लम्बाई ४८ फीट और चौड़ाई ३६ फीट होती थी, यह अग्नि रखी जाती थी। साम्य संघ के लिए यह लकड़ी का बाड़ा सामूहिक रसोई घर का भी काम देता था। उसी के निकट साम्य संघ का एक घर और होता था जिसमें दूध के बर्तन, दही, घी, अन्न, आदि रखे जाते थे। एक विशेष संस्थान की रचना भी की जाती थी जहां पर वह वनस्पति या घास रखी जाती थी जिससे **सोमरस** निकलता था। उसे पीने के लिए विशेष बर्तन होते थे जिनको **ग्राह** कहते थे। वे भी वहीं रखे जाते थे। साम्य संघ के लिए उस स्थान पर **सोमरस** निकाला जाता था। सबके लिए एक साथ बैठने की जगह अलग होती थी। बैठने के लिए उस स्थान पर मिट्टी के छोटे-छोटे चबूतरे बने होते थे। इन चबूतरों को **चत्वल** कहते थे। इन पर **बर्ही** घास बिछा दी जाती थी। इसी विस्तृत भूमि पर सब लोग एकत्र होते थे। इस भूमि को **महा-वेदी** कहा जाता था। यहीं पर मिलकर सब लोग दिन भर काम करते, भोजन करते और अग्नि देवता की कृपा से जो कुछ मिल जाता, उसका उपभोग करते थे।

ऐसा लगता है कि जनसंख्या काफी थी क्योंकि उसको उतने विस्तृत भूखंड की आवश्यकता पड़ती थी जिसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम १०८ फीट, पूर्वी कोने पर उत्तर-दक्षिण की चौड़ाई ७२ फीट और पश्चिमी कोने पर ९० फीट होती थी। उसके पास ही कुछ जगह ऐसी अलग बनी होती थी जहां कूड़ा-करकट डाला जाता था।

प्रातःकाल में **होता (होतृ)** का यह काम था कि वह देवताओं और मनुष्यों को पुकारकर एकत्र करे। तब हर एक को काम बांट दिया जाता था। कुछ लोग **सोम**-वनस्पति लेने जाते थे। उनका काम उसे पीसकर उसमें से रस निकालना होता था। कुछ लोगों को वह घास लाने के लिए भेजा जाता था जिस पर बैठा जा सके अथवा जिसका प्रयोग "वस्त्र" के स्थान पर या सर को ढंकने के लिए किया जा सके। उस घास को भी लोग लाने जाते थे जिससे पशुओं को बांधने के लिए रस्सियां बनती थीं। उस घास की भी जरूरत पड़ती थी जिससे मकानों को ढंका जाता था। कुछ लोग आग के लिए लकड़ियां काटने जाते थे। **दुहिता** गायों और भेड़ों के दूध दुहती थी। **शमिता** भोजन के लिए पशुओं को काटती थी, खाल अलग करती थी और मांस को पकाने के लिए आग पर रखती थी। अन्न को पत्थर पर पीसा जाता था जिसके चारों ओर लकड़ी का बर्तन सा लगा होता था। चक्की का चलन नहीं हुआ था। मिट्टी से बर्तनों को बनाना पड़ता था। अभी तक धातुओं के पिघलने का आवि-

---

७. यह "यज्ञांश-मंडप" कहलाता था।

ष्कार भी नहीं हुआ था। बेंत, लकड़ी या घास की टोकरियां बनायी जाती थीं। **गृहपति** चुना हुआ व्यक्ति होता था। वह पुरुष और नारियों को अपने-अपने कामों पर नियुक्त करता था। अनेक **अध्वर्यु** काम देखते थे, उसे कैसे करना चाहिए यह बताते थे और काम में स्वयं भाग लेते थे। **ब्रह्मन्** हर काम का निरीक्षण करते थे और जो गलती इधर-उधर होती थी, उसकी ओर संकेत करते रहते थे। **उद्गाता** गीत गाते और काम करनेवालों में उत्साह भरा करते थे। प्रत्येक सामूहिक श्रम एक तरह का लय या ताल चाहता था। **उद्गाता** के गीतों में वह ताल या लय रहती थी। श्रम आसान नहीं था, फिर भी उसमें नीरसता नहीं थी। श्रम आसान नहीं था, यह इस बात से मालूम होता है कि चक्की के न होने के कारण अन्न को पीसकर आंटा नहीं निकाला जा सकता था और घास काटने के लिए घोड़े की पसली के कोनों को तेज करके काम में लाना पड़ता था। उन दिनों में पशु को तलवार जैसे हथियार से मारा नहीं जा सकता था और न चाकू से उसकी खाल ही खींची जा सकती थी, क्योंकि उस समय तक लोहे को पिघलाना लोग नहीं जानते थे। इसलिए या तो उसे डंडे से मारते थे या गला घोंटकर मारते थे। उसकी खाल अलग करने के लिए हड्डी को काम में लाना पड़ता था। इस तरह से उत्पादन के साधनों का पिछड़ापन ज्ञात होता है—और इससे **यज्ञ** श्रम और साम्य संघ का पिछड़ापन मालूम हो जाता है।

इस रीति से जो कुछ उत्पन्न होता था, उसका उपभोग करने के लिए उसे **महा-वेदी** पर लाया जाता था। **धर्म** की ऐसी ही आज्ञा थी। देवताओं और **पितरों** को उनका भाग दे देने के बाद (इसे **हवि** कहते थे जिसके बिना देवता और **पितर** जीवित नहीं रह सकते—अवश्य ही यह उस **यज्ञ** में होता था जिसका सम्बंध मनुष्यों से था), जो कुछ बचता था और जिसे **हुताशेष** कहते थे, वह सबके उपभोग के लिए होता था। प्रति दिन जो **हवन** होता था, वह भोजन के वितरण की प्रणाली के सिवा और कुछ नहीं था। सामूहिक ढंग से भोजन का उत्पादन किया जाता था और वह पूरे साम्य संघ में बांटा जाता था। इसलिए **हवन, यज्ञ** का ही अंग होता था।

यह सब काम **सोमरस** पान के साथ प्रारम्भ होता था और उसी के साथ समाप्त होता था। **सोमरस** के साथ-साथ वे आंटे के पके हुए **पुरोडाश,** उबले हुए जौ और चावल—जिसमें दूध और दही मिलाया जाता था—खाते थे। दिन का सबसे अधिक आनन्द देनेवाला और प्रमुख भोजन मांस का सहभोज होता था। इस मामले में आर्य लोग कोई संकोच नहीं करते थे। मांस खाने के विषय में वे शायद ही किसी पशु को छोड़ देते हों—यद्यपि साधारण रूप से वे बकरा, भेड़ और हिरण का ही मांस खाते थे। गाय और बैल का मांस भी

खाया जाता था। पर गाय और बैल बहुत मूल्यवान होते थे, इसलिए उनकी बारी बहुत दिनों के बाद आती थी। इस तरह से खूब खा-पीकर वे लोग अग्नि के चारों ओर लेटते थे। बहुत दिनों तक तो अनियमित संभोग की प्रथा चलती रही, पर बाद में जब युग्म परिवार का जन्म हो गया, तो एक स्त्री और एक पुरुष अपने-अपने झोंपड़ों में सोने के लिए चले जाते थे। मनुष्य और **अग्नि** दोनों ही प्रसन्न थे। इस प्रकार से **ब्रह्मन्** या साम्य संघ रहता था, काम करता था, आनन्द मनाता था और अपनी संख्या बढ़ाता था।

चौथा अध्याय

यज्ञ, ब्रह्म और वेद

यहां पर यदि हम "**यज्ञ**" शब्द के अर्थ और उसकी उत्पत्ति की ओर ध्यान दें तो अनुचित नहीं होगा। "**यज्ञ**" शब्द वास्तव में एक शब्द नहीं है, बल्कि एक वाक्य है। इस वाक्य के तीन अंश हैं—**य, ज** और **न**। **य** अथवा **इ** धातु का अर्थ "जाना या एकत्र होना" है। **ज** का अर्थ पैदा करना या उत्पादन करना है। **न, अन्, अन्त,** ये तीन प्रत्यय धातुओं के अन्य पुरुष बहुवचन के रूप में लगाये जाते हैं। सब मिलाकर वाक्य का यह अर्थ है कि "वे आपस में मिलते हैं और उत्पन्न करते हैं।" क्या उत्पन्न करते हैं? वस्तुएं और सन्तान उत्पन्न करते हैं। उसी तरह से **यजुर्वेद** में "**यजुस्**" अथवा "**यजुर्**" शब्द भी एक वाक्य है। **यज** और **उस्** या **उर्**। यह **उर्** भी अन्य पुरुष बहुवचन के रूप का प्रत्यय है। पूरे वाक्य का अर्थ फिर यह होता है कि "वे एकत्र होकर मिलते हैं और उत्पन्न करते हैं।" बाद में यह वाक्य केवल संज्ञा मात्र ही रह गया। **यज्ञ** संज्ञा है। इसका अर्थ हुआ वस्तुओं और सन्तानों का सामूहिक रूप से उत्पादन करने की प्रणाली। इस प्रणाली का ज्ञान **वेद** है।

इसलिए आर्यों ने जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति, वर्ग और शासन-सत्ता को जन्म नहीं दिया था, उस समय तक की उनकी प्राचीन सामूहिक उत्पादन प्रणाली का नाम **यज्ञ** है। और जैसे ही व्यक्तिगत सम्पत्ति, वर्ग और शासन-सत्ता का जन्म हो गया, वैसे ही **सत्र** और **क्रतु यज्ञ** का अस्तित्व मिट गया। उसके बाद जिस **यज्ञ** का अस्तित्व रहा, वह सिर्फ शुद्ध विधि-कर्म, पूजा अथवा सामाजिक स्मृति का एक रूप मात्र था। परवर्ती आर्यों ने **यज्ञ** पर जिस तरह से विश्वास किया, उससे यह मालूम होता है कि उनका समाज **यज्ञ** के कारण समुन्नत हुआ था। **यज्ञ** और आदिम साम्य संघ से ही बाद के समाज का जन्म हुआ जिसमें वर्ग और जातियां थीं। उस समाज का यथार्थ, उसका विचारधारा और उसके विश्वास सामाजिक परम्परा के अंग बन गये थे। इसलिए जब यथार्थ नहीं रहा, तब विचारधारा केवल एक विधि-कर्म या संस्कार के रूप में रह गयी। और जो नया वर्ग उत्पन्न हो गया था, उसने इन विधि-

कर्मों या संस्कारों के विश्वास को अपना अस्त्र बना लिया। इन विश्वासों के बल पर उस वर्ग ने अपनी उस शक्ति का संचय किया जिससे वह उन साधारण लोगों को दबा सका जिनका शोषण वह नयी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में करने लगा था। तब साधारण लोगों को यह विश्वास दिलाया गया कि अगर प्राचीन आर्यों द्वारा किये गये किसी **यज्ञ** का विधिवत, हूबहू अनुकरण किया जाय तो उसी प्रकार का वैभव और धन प्राप्त हो सकता है। विधि-कर्म का **यज्ञ**, असल **यज्ञ** का अनुकरण मात्र रह गया। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह कैसे संभव हुआ था। यहां पर विशेष बात देखने की यह है कि **वैदिक** साहित्य के योरोपीय और भारतीय विद्वान यह तो साधारण रूप से मानते हैं कि **यज्ञ** के विधि-कर्मों में कुछ ऐसे अंश हैं जो प्राचीन आर्यों के जीवन को व्यक्त करते हैं।[1] फिर भी वे इसे साफ तौर पर बता नहीं सके कि **सत्र** और **क्रतु** क्या हैं, और बाद के विधि-कर्मों में आर्यों का विशेष जीवन कैसे व्यक्त हुआ। और भी दूसरी बातों को वे स्पष्ट नहीं कर सके—जैसे कि **गोत्र** और **प्रवर** में जो उलझन है, उसे भी सुलझाने में वे असफल रहे (इन समस्याओं के बारे में हम आगे लिखेंगे)। **यज्ञ** को वे मूलतः या तो देवताओं की पूजा समझते हैं या प्राकृतिक शक्तियों को देवत्व सौंपकर उनकी अर्चना करना मानते हैं, जिनके अन्दर सामाजिक व्यवहार और अवस्था का थोड़ा बहुत अंश प्रतीकों के रूप में आ जाया करता था। अगर **यज्ञ** कर्म-कांड में हड्डी से घास काटी जाती थी या पत्थर से अन्न पीसा जाता था, तो वे इस निर्णय पर पहुंच जाते हैं कि तब खुरपा और चक्की नहीं रही होगी। केवल इतना ही "सामाजिक" निष्कर्ष ये विद्वान निकाल पाते हैं। पर इस तरह से उस **यज्ञ** के अर्थ को स्पष्ट नहीं किया जा सकता जिसका आर्य जाति पर इतना महान प्रभाव था, जिसे आर्य लोग जीवन और धन का जन्मदाता समझते थे, जो आर्यों के जीवन में पूरी तरह से व्याप्त हो गया था; जब तक कि यह न मान लिया जाय कि बर्बर युग के लोग अलौकिक शक्तियों पर इसी तरह से विश्वास करते थे। हमारे **वैदिक** इतिहासकार

१. श्री कुन्ते ने एक पूरा अध्याय इस बात को समझाने के लिए लिखा है कि किस तरह से "सोमयाग" में अपने मूल प्रदेश से आर्यों की यात्रा व्यक्त की गयी है। इस विषय को प्रमाणित करने के लिए वह जिस प्रमुख बात का प्रमाण देते हैं, वह यह है कि आज की "यज्ञ" विधि में वह "पंडाल" जिसके नीचे "अग्नि" रखी जाती है, चार पहियों के ऊपर बनाया जाता है और "यूप" (लकड़ी का वह खम्भा जिससे बलि-पशु बांधा जाता था) जमीन में नहीं गाड़ा जाता, बल्कि एक चौड़े आधार पर उसकी रचना की जाती है जिससे वह आसानी से खड़ा रहता है और सरलता से अपने स्थान से हटाया जा सकता है।

इस बात को नहीं समझ सके कि हड्डी और पत्थर के औजारों तथा अग्नि के नये आविष्कारों ने समाज में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया था और उससे उत्पादन की सामूहिक प्रणाली का विकास हो गया था। वे यह भी नहीं समझ सके कि इन दो आविष्कारों ने साम्य संघ पर अपना बहुत बड़ा प्रभाव डाला था और इसलिए स्वाभाविक तौर से लोगों में उसकी विचारधारा व्याप्त थी। हम आर्यों के प्राचीन इतिहास को तभी स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं जब कि **यज्ञ** को एक उत्पादन प्रणाली मान लें। जांगल से बर्बर अवस्था तक और बर्बर से सभ्य अवस्था तक के विकास का एक अर्थ है—यद्यपि उसमें अलौकिक अर्थ-हीनता को मिला दिया गया है। केवल कल्पना के स्वप्नों और पूजा की विधियों पर सामाजिक जीवन का निर्माण नहीं हुआ करता। और हमारा काम यह होना चाहिए कि कर्म-कांड और कल्पना की धुंध को पार कर हम सामाजिक जीवन तक पहुंचें।

दूसरी चीज जो हमारे विद्वानों को विचलित कर देती है, वह "**ब्रह्मन्**" या **ब्रह्म** है। **यज्ञ** की प्रक्रियाओं में, सृष्टि और सामाजिक विकास की कथाओं में यह **ब्रह्मन्** बार-बार आता है, पर हमारे इतिहास के विद्वान उसे ठीक तरह से समझकर उसका अर्थ निश्चित नहीं कर पा रहे हैं।

वे इसे तो स्पष्ट रूप से देखते हैं कि **वेद-कालीन** आर्यों का **ब्रह्मन्** वह नहीं है जो **उपनिषद** के दार्शनिकों का **ब्रह्मन्** है। इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। **वेद-कालीन** बर्बर अवस्था के आर्य लोगों ने अपने आदिम साम्य संघ में न तो समाज के आत्म-विरोधों को देखा और न वर्ग संघर्ष तथा शोषण का ही अनुभव किया था। इसलिए बाद के **उपनिषदों** में हम जिस आदर्शवादी दर्शन और शब्दाडम्बर को पाते हैं, उसका विकास करना उन लोगों के लिए असंभव था। **उपनिषदों** में **ब्रह्मन्** को मौलिक बुद्धि, चेतना अथवा आत्मा कहा गया है, विश्व या सृष्टि उसका आभास मात्र है। यह **ब्रह्मन् निर्गुण** है—अथवा यों कहें कि सब गुणों के परे है। लेकिन **वैदिक ब्रह्मन्** बाह्य सत्ता का एक यथार्थ है। वह **सगुण** है। **उपनिषद** के **ब्रह्मन्** का साक्षात्कार केवल ध्यान की उन आन्तरिक प्रक्रियाओं द्वारा ही संभव है जिनका वर्णन हम **योग** या **वेदान्त** के दर्शन में पाते हैं—जब कि **वैदिक ब्रह्मन्** एक यथार्थ और वास्तविक बाह्य सत्य है जिसका आनन्द मनुष्य अपने भौतिक श्रम द्वारा प्राप्त कर सकता था। **वैदिक ब्रह्मन्** जीवन का आनन्द लेता है, खाता है, पीता है, नाचता है, आनन्दित होता और समुन्नत होता है। **उपनिषद** का **ब्रह्मन्** इन्द्रियों के परे और ज्ञान के भी परे है। उसमें कोई भावना या अनुभूति नहीं है। उसके लिए खाना, पीना, आनन्द मनाना निषिद्ध है। इस निषेध और क्षुधा को अपनाकर ही उस तक पहुंचा जा सकता है! स्वस्थ और जीवन में बढ़ते हुए **वैदिक आर्यों** के लिए अस्तित्वहीन आन्त-

रिक, अर्थहीन और "उदासीन" **ब्रह्मन्** का कोई प्रयोजन नहीं है। **वैदिक** आर्यों की दृष्टि में **ब्रह्मन्** सामूहिक साम्य संघ में रहता हुआ पूरे **ब्रह्माण्ड** में रहता है—इसलिए वह स्वयं उसका एक अंग है। **वैदिक** आर्यों के लिए **ब्रह्मन्** का अर्थ साम्य संघ और उसके सभी सदस्य होते थे। बर्बर अवस्था में रहनेवालों की तरह उसने भी चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी और अन्य वस्तुओं का सम्बंध अपने साम्य संघ से जोड़ लिया था। **अग्नि** के साथ मिलकर यह साम्य संघ उसके सम्पूर्ण जीवन का केन्द्र था।

वैदिक विद्वानों ने साहित्य में यह सब पढ़ा है। लेकिन आदर्शवादी दर्शन से प्रभावित होने के कारण वे इस **ब्रह्मन्** को रहस्यमय वस्तु बनाना चाहते हैं। हॉग, एगिलिंग, हिलेब्रांट, केतकर, बाल गंगाधर तिलक और अन्य विद्वान इस **ब्रह्मन्** की परिक्रमा बार-बार करते हैं, पर उसे ठीक तरह से पहचान नहीं पाते हैं—उसी तरह से जैसे कि वे **यज्ञ** को नहीं पहचान पाये। हॉग ने **ब्रह्मन्** शब्द के उन तमाम अर्थों को एक स्थान पर एकत्रित किया है, जिन्हें वेदों के विख्यात भाष्यकार सायरा ने लिखा है। वे इस प्रकार हैं: (क) अन्न या अन्न-बलि,[२] (ख) **सामवेद** के गायक का संगीत अथवा वेदपाठ, (ग) अभिचार (जादू) का एक सूत्र, (घ) विधिवत पूरे हुए संस्कार, (च) वेदपाठ और दक्षिणा, (छ) **होतृ** का वेदपाठ, (ज) महान।

ब्रह्मन् शब्द के इन सभी अर्थों में से एक भी ऐसा नहीं है जिसे किसी आदर्शवादी दार्शनिक ने बताया हो। सभी अर्थ या तो साम्य संघ से सीधे सम्बंधित हैं या साम्य संघ की क्रियाशीलता से निकलते हैं। हिलेब्रांट इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि **ऋग्वेद में ब्रह्मन्** को एक नयी सत्ता कहा गया है—"जिसका अस्तित्व अभी तक नहीं था" और जैसा कि वह "पूर्वजों से जन्म लेता आ रहा था।" **यज्ञ** की ध्वनि सुनते ही यह **ब्रह्मन्** उत्पन्न हो जाता है। जब **सोमरस** खींचा जाता है और **हवन** करते समय छंदों का पाठ होता है, तो उसका अस्तित्व वास्तविक हो उठता है। दूसरे देवताओं के साथ वह युद्ध का भी सामना

---

२. ये विद्वान सायरा का अनुकरण करते हुए गलत रास्ते पर चले जाते हैं। "ऋग्वेद" के उस सूक्त में जहां पर "ब्रह्मणस्पति" की स्तुति आती है, वहां पर सायरा "ब्रह्मन्" का अर्थ अन्न लगाते हैं जो ठीक नहीं है। श्री राजवादे ने इस पर शंका उठायी और यह कहा है कि "ब्रह्मन्" को यहां पर "अन्न का स्वामी" या "स्तुतियों का स्वामी" बताना गलत है—"ब्रह्मन्" का वास्तविक अर्थ है "ब्राह्मणों का नेता" अथवा "ऋषि"। राजवादे से कुछ आगे बढ़कर हम कह सकते हैं कि "ब्रह्मन्" का अर्थ है—"यज्ञ साम्य संघ के सदस्यों का नेतृत्व करनेवाला...।" (देखिए "राधामाधव चम्पू," लेखक राजवादे, पृष्ठ १०७)।

करता है। **सोम** उसका रक्षक है।[3] इन प्रमाणों के आधार पर हॉग के इस अनुमान का समर्थन हिलेब्रांट करते हैं कि **ब्रह्मन्** एक रहस्यमयी शक्ति है जिसे अनेक विधि-कर्मों द्वारा बुलाया जा सकता है। हॉग की दी हुई **ब्रह्मन्** की इस परिभाषा का भी वे समर्थन करते हैं कि वह एक अलौकिक शक्ति है जिसे विधिवत मंत्रों के पाठ करने से, स्तुतियों और दक्षिणा के सहयोग से बुलाया जा सकता है।[4]

इन सब उद्धरणों के सहारे कोई भी स्पष्ट रूप से यह देख सकता है कि **वैदिक** आर्य अपनी हर क्रियाशीलता और जीवन के हर क्षेत्र में साम्य संघ की सत्ता का अनुभव करते थे। **यज्ञ** करते समय अथवा सामूहिक रूप से श्रम करते हुए, गाते हुए, और **सोमरस** पीते हुए वे अपने सामूहिक अस्तित्व की भावना और चेतना को विराट **ब्रह्मन्** के रूप में प्रकट करते थे। यह **ब्रह्मन्** वास्तव में केवल साम्य संघ को छोड़कर और कुछ नहीं होता था। विकास की जिस अवस्था में ये आर्य अपना जीवन बिता रहे थे, उस अवस्था में वह उन्हें एक रहस्यमय शक्ति लगती थी — ऐसी शक्ति जो **यज्ञ** से जन्म लेकर उसीमें निवास करती, और उसीके आवाहन पर आती थी। सामूहिक श्रम में पशु-चेतना का उत्थान और जागरण वर्बर अवस्था में एक रहस्यमय चमत्कार लगता था। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि आज भी वह हमारी बुद्धि को रहस्यमय लगे।

अग्नि के आविष्कार और पशु-पालन के आरम्भ होने के बाद **यज्ञ** का जन्म हुआ था। इस **यज्ञ** ने आर्यों के साम्य संघ को समुन्नत, धनवान और वैभवशाली बनाकर उसे नष्ट होने से बचा लिया था। इसलिए आर्यों के समाज के लिए सब कुछ **अग्नि** में तथा **अग्नि** पर आधारित **यज्ञ** में ही केन्द्रित था। जब मानव समाज प्रगति के पथ पर और आगे बढ़ा और उसने धातुओं को पिघलाना सीखकर हंसिया या खुरपी बनाना सीख लिया, तब भी आर्यों के धार्मिक विधि-कर्म अपने पूर्वजों की भांति देवताओं को प्रसन्न करने के लिए और उन्हीं की

---

३. ऋग्वेद : ८-३७-१, ७-६६-६, ६-२३-५, १-४७-२, ७-२६-६, ६-५२-३, आदि।

४. श्री दास गुप्ता लिखित "दर्शन के इतिहास" में उद्धृत (भाग १, पृष्ठ २०-२२, संस्करण १६३२)।

देखिए, मार्क्स द्वारा लिखित श्रम की प्रक्रिया पर सहयोग का प्रभाव — "उस नयी शक्ति को अलग छोड़कर जिसका जन्म अनेक शक्तियों को एक शक्ति में मिलाने से हो जाता है, हम यह भी पाते हैं कि अनेक उद्योगों में केवल सामाजिक संसर्ग या सम्बंध से पशु-चेतना उद्भूत होती है जिससे प्रत्येक मजदूर की काम करने की शक्ति तथा योग्यता और भी अधिक बढ़ जाती है।"

("कैपिटल," भाग १, मास्को, १६५४, पृष्ठ ३२६)

भांति धन प्राप्त करने के लिए उन पूर्वजों के कार्यों का अनुकरण करते रह थे—वे उन्हीं छंदों को गाते थे, और **यज्ञ** के लिए घास को नयी खुरपी से न काट कर घोड़े की पसलियों की हड्डी से ही काटते थे। वह साम्य संघ अब नहीं रह गया था—वह पसली भी औजार के रूप नहीं रह गयी थी। फिर भी वास्तविक **यज्ञ** और साम्य संघ के न रहने पर भी उन कार्यों को प्रतीक के रूप में दोहराया जा सकता था। वे छंद भी गाये जा सकते थे, पर प्राचीन सामूहिक तथा वास्तव में आनन्दित **ब्रह्मन्** को जीवन-दान नहीं दिया जा सकता था। प्राचीन काल में **यज्ञ** एक यथार्थ था। बाद में वह एक मिथ्या वस्तु हो गयी थी। उसका अस्तित्व नहीं रहा, लेकिन जिस समाज के लिए **यज्ञ** एक यथार्थ था, उस समाज के उत्तराधिकारियों ने इस अस्तित्वहीन **यज्ञ** को अपने उत्तराधिकार में पाया। इन उत्तराधिकारियों में अतीत काल की विचारधारा और उसके व्यवहार के कुछ अवशेष थे। वे उस **यज्ञ** को विधि रूप में और मंत्रों के छंदों को इस आशामय विश्वास से अपने साथ लिये रहे मानो उसके अनुकरण द्वारा धन और आनन्द की उपलब्धि हो सकती है।

इसीलिए बाद की आर्य पीढ़ियों ने **वेद** के मंत्रों का उस रूप में संकलन किया जिस रूप में वे इतिहास द्वारा विकसित होकर उन्हें प्राप्त हुए थे। आर्यों के समाज के विकास की विभिन्न अवस्थाएं इन मंत्रों से प्रकट होती हैं। साम्य संघ से लेकर संघर्ष तक और संघर्ष से लेकर उसके टूटने तक की अवस्था उन मंत्रों में व्यक्त हुई है। उन्होंने उन मंत्रों को अपने विधि-कर्मों में बदल दिया। उन्होंने प्राचीन **यज्ञ** को सामाजिक संगठन के एकदम नये नियमों के प्रमाणों में बदल दिया। वास्तव में ये नये नियम **यज्ञ** के नियमों के एकदम विपरीत थे। यह ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुरूप हुआ था जिसके स्वरूप की विवेचना हम आगे करेंगे। यहां जिस बात की ओर हम संकेत करना चाहते हैं, वह यह है कि आज हम जिन **वेद संहिताओं** को देखते हैं, वे उस काल में संकलित की गयी थीं, जब वास्तविक **यज्ञ** समाज का अस्तित्व नहीं रह गया था। वर्ग संघर्षों और आत्म-विरोधों का समाज में जन्म हो चुका था और प्राचीन समाज के गर्भ से नये समाज का जन्म हो रहा था, फिर भी किसी वर्ग शासन-सत्ता की कोई ऐसी विजय नहीं हुई थी जिससे कि वह अपने को सर्वोपरि बनाकर प्रतिष्ठित कर देती।

इस दशा में **वेद संहिताएं** स्वयं एक शक्ति बन गयीं। पहले यह शक्ति उनमें नहीं थी। उन प्राचीन आर्यों के लिए जो सच में **यज्ञ प्रणाली** में रहते थे, पवित्र **वेद** ऐसी कोई वस्तु नहीं थी। वे स्वयं नयी **रिचाओं और मंत्रों** की रचना करते थे। अपनी सृजनात्मक क्रियाशीलता और शब्दों के द्वारा, अपने अनुभव और अपनी भावनाओं को औरों तक पहुंचाने के द्वारा वे इन गीतों की रचना

करने में सफल होते थे। इसलिए वे लोग इन छंदों में कोई रहस्य नहीं देखते थे। अतएव प्राचीन **वेद** में हम इन्द्र की पूजा होते और "नये मंत्रों" द्वारा **यज्ञ** सम्पन्न होते देखते हैं। बाद के **यज्ञों** में या कर्म-कांडों में नये मंत्रों का आना एकदम बंद हो गया था और प्राचीन छंदों में किसी प्रकार का परिवर्तन करना धर्म का सबसे बड़ा अपमान समझा जाता था। यह स्वाभाविक भी था। वर्ग समाज में आकर ये प्राचीन छंद और विधि-कर्म पवित्र माने जाने लगे थे। इस तरह से **वेद**, धार्मिक विधि-कर्मों के लिए ऐसे पाठ-मात्र रह गये थे, जिनमें न तो कुछ जोड़ा जा सकता था और न बदला ही जा सकता था।

प्राचीन आर्यों के **यज्ञों** से **वेदों** को उत्तराधिकार में पाया गया था, इसलिए उन्हें धन की, सही माने में भौतिक धन की उपलब्धि के लिए एक साधन मान लिया गया। सायण ने ईसा के बाद चौदहवीं सदी में **वेदों** का भाष्य लिखा। उन्होंने कहा था कि वह ऐसा ग्रंथ है जो "इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट को दूर करने के लिए अलौकिक साधनों का ज्ञान मनुष्य को देता है।"* **ऋग्वेद** में उस शब्द का अर्थ "धन" है जो "**विद्**" धातु से बना है और जिसका अर्थ पाना या ग्रहण करना है। यह धातु छठे गण की है। अगर "**विद्**" का अर्थ धन प्राप्त करना है तो उन उपायों को भी जानना चाहिए जिनसे धन प्राप्त हो सकता है। उन्हें जानना या उनका ज्ञान भी "**विद्**" हो जाता है। ज्ञान और "जानने" का कुछ भी अर्थ या महत्व नहीं हो सकता, यदि उसका लक्ष्य धन का उत्पादन या ग्रहण करना नहीं हो। इसलिए "**विद्**" धातु से **वेद** शब्द की उत्पत्ति हुई, जिसका अर्थ "जानना" है। यह धातु दूसरे गण की है जिसका अर्थ "**ज्ञान**" है। पर किस वस्तु का ज्ञान? प्राप्त करने, उत्पादन करने और ग्रहण करने का ज्ञान। पर किस वस्तु को प्राप्त करना? प्राचीन लोग बिना किसी संकोच के यह उत्तर देते थे: "**प्रजा पश्वादिः**"—अर्थात सन्तान और पशु, आदि को प्राप्त करने का ज्ञान।

समुन्नत होते हुए महान (**ब्रह्मन्**) प्राचीन साम्य संघ की स्मृति यह बताती थी कि यह **यज्ञ** प्रणाली और यह ज्ञान उनके पास तब से था जब सृष्टि आरम्भ होकर स्थिर हो गयी थी। अपने अस्तित्व के साथ ही साथ उन्होंने इस ज्ञान को प्राप्त कर लिया था, क्योंकि उनका अस्तित्व ही इसके साथ आरम्भ हुआ था। इसलिए किसी ने, और विशेषतया **वेदों** पर विश्वास करनेवाले परवर्ती वर्ग समाज ने, **वेदों** को रचा जाते हुए नहीं देखा था। अतएव उन्होंने **वेदों** को

---

* इष्टप्राप्ति—अनिष्ट परिहारयोः अलौकिक उपायं यो ग्रंथो वेदयति स वेदः।
—सायणाचार्य

अनादि, नित्य—सदैव रहनेवाला और **अपौरुषेय**[५] (किसी साधारण व्यक्ति द्वारा न रचे गये) घोषित किया था। बिना भौतिक सम्पत्ति या धन के मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। जैसे ही मनुष्य का उद्भव हुआ था, वैसे ही धन का जन्म हुआ था—अथवा उसके पहले ही धन का जन्म हो चुका था और इसलिए **वेदों** का जन्म भी तभी हो चुका था। परवर्ती आर्य लोग इसी तरह से तर्क करते थे।

लेकिन प्राचीन और परवर्ती आर्यों ने **वेदों** को **उस अर्थ में** रहस्यमय नहीं समझा **जिस अर्थ में** आदर्शवादी दार्शनिक आत्मा को, अस्तित्व के साथ उसके सम्बंध को और जीवन के बंधनों से उसकी मुक्ति को रहस्यमय समझते थे। जिन आर्यों ने इन **वेदों** का संकलन किया था, वे इतने सत्यवादी थे कि उन्होंने यह बताया था कि वास्तव में जिन्हें हम **वेद** कहते हैं, उन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक भाग में यथार्थ का चित्रण है और दूसरे भाग में किंचित वास्तविकता के साथ कल्पना का वर्णन है। और यह कल्पना मिश्रित यथार्थ बाद में तब शुद्ध काल्पनिक हो जाता है जब कि वह एक आत्म-विरोधी यथार्थ को प्राचीन पवित्र वास्तविकता के आधार पर ठीक प्रमाणित करने की चेष्टा करता है। इस बात को वे हिन्दुओं के सम्पूर्ण ज्ञान को तीन भागों में विभक्त करते हुए बताते हैं। **वेद** के वे छंद जिनका सम्बंध यथार्थ से था, उनको **ऋषियों** ने स्वयं "देखा" था। इसीलिए उन **ऋषियों** को **मंत्र-द्रष्टा** कहा गया है। देखने (**दृष्टि**) के बाद वह "कानों से सुनाई" दिया, यानी "श्रुति" हो गया। **श्रुति** में यथार्थ और कल्पना का मिश्रण है। अंत में **स्मृति** का युग आता है—जहां पर सिर्फ यादगार ही बाकी बच रहती है। अगर कोई हिन्दू परम्परा, उसके धार्मिक साहित्य और बाद में उसके व्यावहारिक साहित्य की इन तीन अवस्थाओं को ध्यान से देखे, तो यह मालूम होगा कि किस प्रकार ये आर्यों के बदलते हुए सामाजिक संगठनों के प्रतिबिम्ब के सिवा और कुछ नहीं हैं। आर्यों का सामाजिक संगठन आदिम साम्यवादी (**मंत्र-दृष्टि** का युग, जिसमें **वेद** देखे गये) अवस्था से उस व्यवस्था में बदल रहा था, जिसमें वर्ग-विरोधों की अतिशयता थी और आदिम साम्य संघ टूटने लगा था—यद्यपि वह पूर्ण रूप से नहीं टूट पाया था (यह वह समाज था जो **श्रौत धर्म** या **वेदों** को सुनने से परिचालित होता था); और अन्त में यह सामाजिक संगठन वर्ग-सत्ता के रूप में बदल गया था, जिसमें साम्य संघ का नाश पूर्ण रूप से हो गया था और **स्मृति** व्यव-

---

५. "अपौरुषेय" का अर्थ यह भी हो सकता है कि इसकी रचना "पुरुष" के (बाद का वह वर्ग समाज जिसका वर्णन "पुरुषसूक्त" में किया गया है) जन्म से पहले की गयी थी।

हार का प्रवेश हो चुका था। इस **स्मृति** व्यवहार और **वैदिक यज्ञ** तथा उसके समाज में कोई समानता नहीं थी।

यहां पाठक एक प्रश्न उठा सकते हैं। क्या सम्पूर्ण **वैदिक यज्ञ** अपने विधि-कर्मों, परम्पराओं और कथाओं के द्वारा **सामाजिक-प्राकृतिक यथार्थ** को काल्पनिक रूपों में प्रतिबिम्बित करता है? अथवा उसकी **संहिताओं** में कोई अंश ऐसा भी है जो सर्वथा **निरर्थक** है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हम बिना किसी विस्तृत वाद-विवाद के एंगेल्स के ग्रंथ से उद्धरण देना चाहेंगे। वह लिखते हैं:

> "समस्त धर्म मनुष्य के मस्तिष्क में उन बाहरी शक्तियों के काल्पनिक प्रतिबिम्ब के सिवा और कुछ नहीं हैं, जो उसके दैनिक जीवन को नियंत्रित करती हैं। इस प्रतिबिम्ब में भौतिक शक्तियां आध्यात्मिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। इतिहास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में प्राकृतिक शक्तियां ही इस प्रकार से प्रतिबिम्बित होती थीं— और विकास के अग्रसर होने के साथ-साथ विभिन्न लोगों में इन शक्तियों का चैतन्यारोपण विविध और अनेक रूपों में होता था। तुलनात्मक धर्मकथा विज्ञान ने इस प्रथम प्रक्रिया के स्रोत को, जहां तक भारत-योरोपीय राष्ट्रों और जातियों का प्रश्न है वहां तक, भारतीय **वेदों** में पा लिया है, और इसके विस्तृत विकास का वर्णन भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, रोमवासियों और जर्मनों के बीच में, तथा अब तक प्राप्त सामग्री के आधार पर केल्ट, लीथुआनियन और स्लाव जातियों के बीच में भी किया है।"
>
> (**ड्यूरिंग मत-खंडन**, पृष्ठ ४७०, मास्को संस्करण, १९४७)

किन्तु प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिबिम्बित होने की **पहली** प्रक्रिया के साथ-साथ शीघ्र ही सामाजिक शक्तियों के प्रतिबिम्बित होने की प्रक्रिया भी आरम्भ हो गयी थी। एंगेल्स कहते हैं:

> "परन्तु शीघ्र ही प्राकृतिक शक्तियों के साथ-साथ सामाजिक शक्तियां भी क्रियाशील हो उठती हैं। ये सामाजिक शक्तियां भी मनुष्य के सामने प्राकृतिक शक्तियों की भांति बाह्य और आरम्भ में अबोध्य रूपों में प्रकट होती हैं तथा उसी प्रकार की प्रत्यक्ष आवश्यकता द्वारा मनुष्य पर शासन करती हैं। वे काल्पनिक चैतन्यारोपण जो पहले केवल प्राकृतिक शक्तियों के विषय में ही किये जाते हैं, इस अवस्था में आकर

उनमें सामाजिक गुणों का भी समावेश होने लगता है, और वे इतिहास की शक्तियों का प्रतिनिधित्व भी करने लग जाते हैं।"

(**उपरोक्त पुस्तक**, पृष्ठ ४७०-७१)

अभी तक **वैदिक** साहित्य का विश्लेषण करते हुए पूंजीवादी विद्वानों ने पहली प्रक्रिया पर ही जोर दिया है और दूसरी प्रक्रिया की उपेक्षा की है। धार्मिक कथाओं में आये हुए देवताओं के सामाजिक गुणों और क्रियाशीलताओं का विश्लेषण यदि ठीक-ठीक किया जाय और उनके काल्पनिक स्वरूप को हटा दिया जाय, जिसकी चेष्टा हम आगे करेंगे, तो उससे आदिम साम्य संघ का चित्र स्पष्ट किया जा सकता है। अपने समय में एंगेल्स ने इस पर ध्यान देते हुए यह लिखा था :

"तुलनात्मक धर्म-कथा परवर्ती युगों में देवताओं द्वारा अपनाये गये इस दोहरे चरित्र की (प्राकृतिक और सामाजिक—अनु.) उपेक्षा कर देता था। आज भी वह अपना सम्पूर्ण ध्यान इस बात पर लगा देता है कि प्राकृतिक शक्तियों के रूपों का प्रतिबिम्ब उनके चरित्रों पर किस सीमा तक पड़ा है। यद्यपि इस दोहरे चरित्र के कारण ही धर्म-कथाओं में सारी उलझनें पैदा हो जाती हैं।"

(**उपरोक्त पुस्तक**, पृष्ठ ४७१, फुटनोट)

वेद के विषय में बहुत से भारतीय और योरोपीय लेखकों ने भी "अपना सम्पूर्ण ध्यान" देवताओं के प्राकृतिक पक्ष पर ही लगा दिया है।

हम इस बात की चेष्टा करेंगे कि **वैदिक** साहित्य में प्राप्त धार्मिक कथाओं और देवताओं के विश्लेषण द्वारा आर्यों के साम्य संघ के जीवन का ज्ञान प्राप्त हो सके। जैसा कि कार्ल मार्क्स ने कहा है : "समस्त धर्म-कथाएं कल्पना में और कल्पना के द्वारा प्रकृति की शक्तियों पर अधिकार तथा शासन करती हैं और उनको रूप देती हैं।" सामाजिक अस्तित्व की आवश्यकता के अनुरूप यह कल्पना भी क्रियाशील होती है, इसलिए इसके द्वारा उस समाज के स्वरूप का ज्ञान भी हो सकता है जिसमें वह क्रियाशील है। अतः इस विश्लेषण की सहायता से हम आदिम आर्यों के साम्य संघ को उसके टूटने के समय तक समझ सकते हैं।

इसके साथ-साथ यह भी याद रखना चाहिए कि **यज्ञ**, देवता, धर्म-कथाएं और अलौकिक कार्यों के विषय में जो सामग्री उपलब्ध है, उन **सबका** कोई स्पष्ट निश्चित अर्थ नहीं है। इनमें से कुछ सामग्री तो **एकदम निरर्थक** है। एंगेल्स ने कहा है :

"जहां तक विचारों के उन लोकों का प्रश्न है जो इससे भी ज्यादा ऊंचे हवा में उड़ते हैं—जैसे धर्म और दर्शन, आदि—उनमें प्रागैतिहासिक सामग्री भी संचित रहती है। एक अवस्था में इस सामग्री के अनुरूप यथार्थ का अस्तित्व होता है, और इतिहास उसको अपना भी लेता है—पर बाद में वह बिलकुल मिथ्या और निरर्थक हो जाता है। प्रकृति, मनुष्य के अपने अस्तित्व, चेतना, अलौकिक शक्तियों, आदि के विषय में विभिन्न मिथ्या धारणाओं का अधिकांश रूप में केवल नकारात्मक आर्थिक आधार होता है। परन्तु प्रकृति विषयक ये मिथ्या धारणाएं प्रागैतिहासिक युग के आर्थिक निम्न-विकास की पूरक, आंशिक रूप से नियंत्रक और कारण भी हो जाती थीं। यद्यपि आर्थिक आवश्यकताएं प्रकृति विषयक प्रगतिशील ज्ञान की मुख्य उत्प्रेरक शक्ति होती थीं और दिनोंदिन ज्यादा होती जा रही हैं, फिर भी हर आदिम निरर्थक बात के लिए आर्थिक कारणों की खोज करने की चेष्टा करना निश्चित रूप से विद्याडम्बर होगा।" (कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, **संग्रहीत ग्रंथावली**, भाग २, मास्को संस्करण, पृष्ठ ४४८-४९)

हम निरर्थक सामग्री को एक ओर रखकर यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि बर्बर युग के प्राचीन आर्य लोग अपने साम्य संघ में किस प्रकार रहते थे और सत्र तथा क्रतु सामूहिक श्रम के अन्तर्गत किस तरह मिलकर काम करते थे।

पांचवां अध्याय

गण-गोत्र — आर्य साम्य संघ (कम्यून) का सामाजिक-आर्थिक और कुल संगठन

अग्नि के आविष्कार और पशु-पालन के साथ-साथ साम्य संघ का जीवन अपने नष्ट होने के उस दिन-प्रति-दिन के भय से मुक्त हो गया जो उसे प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करने में सदैव लगा रहता था। यद्यपि समय के साथ उत्पादक शक्तियों का पिछड़ापन कम होता जा रहा था, फिर भी उसके कारण जीवन पर दरिद्रता छायी थी और कठिन परिश्रम करना पड़ता था। इसीलिए सत्र श्रम द्वारा जो कुछ उत्पन्न होता था, उसका उपभोग तुरन्त हो जाता था। उत्पादन के साधन उस सीमा तक विकसित नहीं हो सके थे जिनसे व्यक्ति के श्रम को अतिरिक्त उत्पादन करने की शक्ति मिल जाती—अर्थात वह अपने श्रम से इतना उत्पन्न कर सकता जिसे मृत्यु से अपने जीवन की रक्षा करने की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद वह बचाकर रख सकता। इसलिए उस समय तक वे यह भी नहीं जान सके थे कि मानव श्रम में अपने उपभोग से अधिक उत्पादन करने की भी शक्ति वर्तमान है। आदिम साम्य संघ अपनी इस उत्पादन प्रणाली को लेकर यह नहीं जान सका था कि मानव की श्रम शक्ति अतिरिक्त उत्पादन कर सकती है और उसके द्वारा दूसरों के श्रम के बल पर बिना स्वयं परिश्रम किये हुए जीवित रहा जा सकता है। फिर पशु-पालन की वृद्धि तथा अन्य आविष्कारों के कारण शीघ्र ही यह अवस्था बदलने जा रही थी। इस अवस्था में दूसरों के श्रम के सहारे जीवित रहने का विचार तक नहीं जाग सका था। ऐसे विचारों को उठने का आधार अभी तक उत्पादन शक्तियों ने नहीं दिया था।

इन प्रारम्भिक अवस्थाओं में उत्पादन के साधनों के अविकसित होने के कारण, अतिरिक्त एवं विभिन्न उत्पादनों के अभाव में जो कुछ भी उत्पन्न होता था, उसका सीधा उपभोग कर लिया जाता था। उत्पादित वस्तुओं के विनिमय का प्रश्न ही नहीं उठता था। इसलिए उत्पादन पर उत्पादकों का नियंत्रण होता

था, वह उनके पास रहता था। विनिमय द्वारा उनसे वे वस्तुएं कभी अलग नहीं होती थीं—इसलिए बाजार, मुद्रा, आदि के जादू को वे विकसित नहीं कर सके थे। उत्पादन को संचित रखने अथवा उत्पादन करने का स्थान, महावेदी, और बाड़ों तथा चरागाहों से घिरी हुई बस्ती के मध्य में स्थापित अग्नि देवता—यही उस छोटे आदिम साम्य संघ का पूरा संसार था। इस सीमा के बाहर जो जीवन था, वह विरोधी और इसलिए पाप-रूप था।

साम्य संघ की इस अवस्था में उत्पादन के अविकसित साधनों के कारण कोई श्रम विभाजन भी संभव नहीं हो सका था। अति प्राचीन काल के सत्र श्रम में जो थोड़ा बहुत श्रम विभाजन था, वह अल्पकालीन होता था और उसके द्वारा किसी चिरकालीन आर्थिक हित का विकास नहीं हो सकता था। इसीलिए आदिम साम्य संघ में कोई वर्ण भेद अथवा जाति-वर्ग भेद भी संभव नहीं था। पूरे साम्य संघ का निर्माण विशों द्वारा होता था जो उस बस्ती के निवासी होते थे। चिरकालीन श्रम विभाजन इसलिए भी संभव नहीं हो सकता था क्योंकि जातिगत समाज का आकार बहुत छोटा था। समाज में श्रम विभाजन की उत्पत्ति के लिए यथेष्ट रूप से बढ़ी हुई जनसंख्या की आवश्यकता होती है। इसलिए सत्र अथवा प्राचीन गण समाज में जातियों अथवा तीन-चार वर्णों का प्रश्न अभी नहीं उठ पाया था, यद्यपि शीघ्र ही इसके उठने की संभावना उत्पन्न हो गयी थी।

इसे सभी मानते हैं कि आर्यों के समाज में वर्णों का उदय विकास की किसी विशेष अवस्था में ही संभव हुआ था—पहले उनका अस्तित्व नहीं था। इसलिए इस विषय में हम अधिक समय नहीं खर्च करेंगे। यह भी मान लिया गया है—और वास्तव में यह यथेष्ट रूप से स्पष्ट है—कि समाज में वर्णों का उदय श्रम विभाजन के रूप में हुआ है। यह किस तरह से संभव हुआ, इसे हम आगे चलकर उस समय देखेंगे जब श्रम विभाजन के युग का वर्णन करेंगे।

यहां पर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि आर्यों के समाज ने अग्नि के आविष्कार और पशु-पालन के बीच में कुछ समय लिया होगा। लेकिन पशु-पालन की अवस्था से विनिमय के विकास, श्रम का विभाजन, वर्णों की रचना और सामाजिक संगठनों के अन्य परिवर्तनों तक पहुंचने में प्रगति बहुत तेजी से हुई और आर्यों का आदिम साम्य संघ बहुत शीघ्रता से परिवर्तित होने लगा।

अग्नि को केन्द्र मानकर सत्र श्रम के अन्तर्गत सामूहिक ढंग से उत्पादन और उपभोग करते हुए आदिम साम्य संघ को हम देख चुके हैं। वे लोग कुछ-कुछ उसी भांति रहते और श्रम करते होंगे, जिस तरह आज भी हम भारत के कुछ गांवों में बड़े परिवारों को रहते और करते देखते हैं। यह जरूर था कि उनमें पिता की शासन-सत्ता और श्रम की विविधता नहीं थी, जैसा कि हम इन

बड़े परिवारों में आज पाते हैं। जहां तक श्रम विभाजन का सवाल था, वहां हम उस समय केवल पुरुष और नारी के श्रमों में अन्तर पाते हैं। पुरुष शिकार करता था, युद्ध में जाता था और पशुओं को पालता था; नारी घर का प्रबंध करती थी, भोजन पकाती थी, दूध दुहती थी और बस्ती के आसपास चारों ओर अन्न उपजाती थी। दोनों का श्रम सामाजिक श्रम था। सामूहिक ढंग से वह किया जाता था और उसी ढंग से उसका उपभोग भी होता था। इसलिए निजी गृहस्थियां नहीं थीं और पुरुष तथा नारी की मर्यादा में कोई अन्तर नहीं था।

समाज का जनसंख्या में कम होना, श्रम के विविध रूपों और उसके विभाजन का अभाव, उत्पादन के विनिमय की गैर-मौजूदगी, समाज का शोषक और शोषित या धनी और दरिद्र वर्गों में विभाजन के अभाव के कारण किसी ऐसे शासनात्मक संगठन का जन्म नहीं हुआ था जो समाज के ऊपर प्रतिष्ठित होकर कहने को तो सबके कल्याण के लिए, पर वास्तव में शोषकों के हितों की रक्षा करता हुआ पूरे समाज पर शासन करता। इसकी आवश्यकता उन दिनों में नहीं थी, इसलिए इसका अस्तित्व भी नहीं था। कोई ऐसी शक्ति न थी जो वर्ग शासन-सत्ता का अंग बनकर पूरे समाज पर शासन करती। इसलिए सेना, पुलिस और कर भी नहीं थे। ऐसे किसी यंत्र की आवश्यकता समाज को नहीं थी।

तब फिर आन्तरिक नियम और वाह्य सुरक्षा का संचालन करने के लिए साम्य संघ का क्या विधान था? प्राचीन हिन्दू आर्य विद्वानों ने स्वयं इस प्रश्न को उठाकर इसका उत्तर दिया है।

वेद साहित्य के विद्वानों ने यह विशेषता देखी थी और आज कोई भी उसे बड़ी स्पष्टता से स्वयं देख सकता है कि प्राचीन **वेद साहित्य** में साम्य संघ के आन्तरिक विधान के बारे में कोई प्रश्न नहीं उठाया गया है। साम्य संघ के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार, समूह से उनका सम्बंध, उन सम्बंधों में गलतियां और दंड तथा दंड-विधान को चलाने के लिए धन, आदि की चर्चा उनमें नहीं की गयी है। अधिकतर विवाद और प्रश्न इस विषय में उठाये गये हैं कि सृष्टि कैसे हुई तथा विश्व, मनुष्य, **अग्नि**, पशु-धन, आदि की उत्पत्ति किस प्रकार और कहां से हुई? बाद के **ब्राह्मण साहित्य** में सत्ता, आचार और व्यवहार के बारे में प्रश्न उठाये गये हैं। प्राचीन **वैदिक** साहित्य में सृष्टि के बारे में प्रश्नों के साथ-साथ युद्ध, संघर्ष और उनके फलों की भी चर्चा की गयी है। कभी-कभी आचरण शास्त्र का अकेला प्रश्न यौन सम्बंधों के विषय में उठ खड़ा होता था। राजा और शासन-सत्ता, शासक और शासित, व्यक्ति के कर्त्तव्य और अधिकार, आदि विषयों पर कोई विवाद नहीं किया जाता था।

इसलिए इन साम्य संघों के आन्तरिक संगठन के विषय में—जिसके कारण वे परवर्ती आर्यों के समाज से भिन्न थे—बाद के लेखकों ने लिखा है।

जब ये साम्य संघ टूट चुके थे और उनके स्थान पर वर्ग शासन-सत्ता और नये युद्धों का जन्म हो चुका था, यानी जब गृहयुद्ध तथा शासन-शक्ति, कर, कानून और आचार के आन्तरिक संगठन को बनाने का प्रश्न समाज के सामने आ चुका था, तब उन नियमों की ओर देखने की आवश्यकता अनुभव की गयी जिनसे प्राचीन साम्य संघ संचालित हो रहा था। वैदिक साहित्य से अधिक इस विषय पर महाकाव्यों में, विशेष रूप से **महाभारत** में तथा **स्मृतियों** में लिखा मिलता है। इन ग्रंथों के तुलनात्मक विवादों में यह प्रश्न उठाया गया है कि प्राचीन और आधुनिक सामाजिक संगठनों में क्या अन्तर है? और वहां हमें इस बात का ज्ञान मिल जाता है कि जहां तक आदिम साम्य संघ के आन्तरिक स्वरूप का सम्बंध है, वे कैसे संचालित होते थे। इन साम्य संघों का यह आन्तरिक रूप बहुत सरल था, जो उस युग की उत्पादन शक्तियों के अनुरूप था।

जैसा हम पहले कह चुके हैं **त्रिरात्र** परम्परा के अनुसार इन साम्य संघों का संगठन **गण** संगठन था। एंगेल्स के शब्दों में इसे हम मनुष्यों का "स्वयं संचालित सशस्त्र संगठन" कह सकते हैं। इस संगठन के पास काम चलाने के लिए किसी विशेष शक्ति-यंत्र अथवा शासन-सत्ता की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि यह संगठन व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर दो आम-विरोधी और परस्पर-विरोधी वर्गों में नहीं बंटा था। साम्य संघ का जनमत और प्राकृतिक आवश्यकताएं हर व्यक्ति को समाज के सामूहिक काम में लगाये रहते थे। कोई भी छोटी सी उपेक्षा या गलती जन-अपवाद या निन्दा द्वारा सुधार दी जाती थी। एक **गण** सदस्य की दूसरे द्वारा हत्या सबसे बड़ा अपराध माना जाता था। ऐसे अपराधों का दंड **गण** से निष्कासन होता था। उस जांगल अवस्था के युग में इस निष्कासन का वास्तविक अर्थ मरण होता था। कोई कानून लागू करने के लिए उस युग में सेना और बड़े अफसर नहीं रखे जाते थे, इसलिए कोई कर भी नहीं देना पड़ता था। सामूहिक श्रम के संचालन के समय कुछ विशेष लोगों को किसी खास काम के लिए चुन लिया जाता था। ये लोग ऐसे थे जो प्रत्यक्ष रूप में उत्पादन के अन्दर कोई भाग नहीं लेते थे, फिर भी उन्हें सामूहिक उत्पादन से हिस्सा मिलता था—ठीक उसी तरह जैसे कि वृद्ध और बालक को मिला करता था।

गण संघ की सदस्यता किस प्रकार निर्धारित होती थी? वर्ग शासन-सत्ता और आधुनिक समाजवाद में सदस्यता किसी प्रदेश में निवास करने अथवा किसी प्रदेश की शासन-सत्ता को मानने के आधार पर निर्धारित की जाती है। पर **गण** नियम के अनुसार ऐसा नहीं होता था। शासन-सत्ता या प्रादेशिक संगठन की व्यापकता की तरह **गण** संगठन की व्यापकता नहीं थी। इसकी सदस्यता का निर्णय कुल या रक्त के सम्बंध के आधार पर होता था।

इसीलिए उत्पादन की **यज्ञ** प्रणालीवाला आर्यों का प्राचीन समाज एक **गण** संगठन था। उस संगठन के सभी सदस्य रक्त से सम्बंधित होते थे, जिसमें एकदम प्रारम्भिक अवस्था में ही सामूहिक श्रम और सामूहिक सम्पत्ति का अस्तित्व था। जाति और वर्गों का कोई भेद नहीं था। कोई शासन-सत्ता नहीं थी। कोई राजा नहीं था। कोई शोषक नहीं था। कोई शोषित नहीं था। यह जनता का स्वयं संचालित सशस्त्र संगठन था।

इस प्रकार से हिन्दुओं के परवर्ती ग्रंथों ने हमारे लिए **गणों** का वर्णन किया है। **वेद** के प्राचीन देवता और मनुष्य सभी **गणों** में रहते थे।

परवर्ती काल में राजा, शासन-सत्ता, **वर्ण** भेद और गृहयुद्धों का जन्म होना पहले के समय की व्यवस्था से इतना अधिक प्रतिकूल था कि सभी लोगों ने यह जानना चाहा कि इन वस्तुओं का उदय किन कारणों से हुआ है? जो उत्तर दिये गये हैं, उनमें ठीक कारण तो नहीं मिलते, पर ठीक कारणों तक पहुंचने का मार्ग मिल जाता है।

जब कोई नया व्यवहार, परम्परा या रूढ़ि से मेल नहीं खाता, तब बराबर प्राचीन परम्परा के बारे में **महाभारत** में भीष्म पितामह से प्रश्न पूछे गये हैं। पांडवों में अग्रणी युधिष्ठर ने **शासन-सत्ता** की उत्पत्ति के बारे में एक प्रश्न किया था। एक ही कुटुम्ब के होते हुए भी पांडवों और कौरवों में युद्ध हुआ था जिसमें पांडव विजयी हुए थे। युधिष्ठर का प्रश्न इस प्रकार से था : "इस पृथ्वी पर हाथ, पांव, मुख, उदर, ग्रीवा, शुक्र, हड्डी, मांस, मज्जा, रुधिर, बुद्धि, इंद्रिय, आत्मा, सुख, इच्छा, निश्वास, शरीर, जन्म, मृत्यु और अन्य गुणों के मनुष्य में समान होने पर भी किस कारण से एक ही पुरुष अपने से अधिक शूरवीर और बुद्धिमान लोगों पर शासन करने के लिए शक्तिवान हो जाता है?"*

---

* समान जन्म मरणं समः सर्वैर्गुणैर्नृणाम् !
विशिष्ट बुद्धीन् शूरांश्च कथमेकोऽतिष्ठति। शांति ५८-८।
न वै राज्यं न राजाऽसीन्न न दण्डो न दण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षंति स्म परस्परम् ॥ ५८-१४।
श्रूयन्ते हि पुराणेषु प्रजा धिग्दण्डशासनाः ॥ ३००-८।
पाल्यमाना स्तथा ऽन्योऽन्यं ॥ ५८-१५।
पुराधिग्दण्ड एव आसीत् वधदण्डोऽद्य वर्तते ॥ २७३-१६।
संहत्य धर्मं चरतां पुरासीत सुखमेव तत्।
तेषा नासीद्विधातन्न प्रायश्चित कथंचन ॥ २७६-१२।

इन श्लोकों में आदिम साम्य संघ के, जहां तक उसके आन्तरिक नियंत्रण का प्रश्न है, सभी मूल गुणों को कहा गया है।

इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामह राजसत्ता की उत्पत्ति के बारे में अपनी समझ के अनुसार कथा कहते हैं। राजा या राजसत्ता के विषय में भीष्म ने जो सबसे मुख्य बात कही है, वह यह है कि एक समय ऐसा था जब राजसत्ता नहीं थी, राजा नहीं थे (**राजन्** शब्द का अर्थ यहां पर राजसत्ता से है)। **कृतयुग** में या उससे भी पहले "कोई राजा नहीं था, कोई राज्य नहीं था, कोई दंड देनेवाला नहीं था, और कोई दंडित नहीं था (यानी शासन-सत्ता और शोषण नहीं था)। केवल अपने अस्तित्व के नियमों से लोग एक-दूसरे की रक्षा करते थे।" और दूसरी जगह उन्होंने कहा है कि "उनके अपराध लोगों द्वारा निन्दित हो जाने पर ही वे दंडित हो जाया करते थे।" **गण** संघ के मुख्य शत्रुओं और संकटों को बताते हुए उन्होंने यह कहा कि परस्पर कलह, लोभ (सम्पत्ति का संचय करना) और एकता के भंग होने के कारण **गण** संघ की व्यवस्था खतरे में थी। उनके परस्पर सम्बंध के विषय में वे कहते हैं कि "वे सब कुल में और जाति में समान थे।"* परस्पर युद्ध का मतलब **गण** सिद्धान्त को तोड़ना था। **गण संघ** में रक्त के सम्बंध को और उनसे उत्पन्न कर्तव्यों को तोड़ना महान अपराधों में एक समझा जाता था।† आपस के युद्ध में यह सिद्धान्त सबसे पहले टूट जाता था। सभी लेखक जो **गण** संघ के तत्वों का वर्णन करते हैं—और **कृतयुग** के तत्व भी वही थे—उनका मत है कि वहां पर "मेरा और तुम्हारा" का भेद नहीं था। यह केवल कल्पना ही नहीं है वरन एक यथार्थ है। इस यथार्थ का जन्म आदिम युग की सामूहिकता द्वारा हुआ था। वास्तव में, साम्राजी राज्य और दृढ़ सामन्ती एकाधिपत्य के संस्थापक और सबसे महान संगठनकर्ता कौटिल्य ने कहा था कि **गण** वह है जहां **वैराज्य** (जिसका वर्णन **एतरेय ब्राह्मण** में किया गया है) का अस्तित्व होता है, "वहां कोई भी किसी वस्तु को अपना नहीं मानता।" इसलिए वे यह कहते हैं—जैसा कि आज के पूंजीपति समाजवाद के बारे में कहते हैं—कि ऐसे राज्य का कोई भी नागरिक अपने देश और अपनी सरकार को दूसरों के हाथों में बेच देगा, और अपने देश की सरकार के प्रति अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करेगा!‡ यद्यपि ये लोग

---

* जात्या च सदृशा सर्वे कुलेन सदृशास्तथा। शान्ति पर्व १०७-३०।

† रक्ताश्च नाभ्यजनन्त कार्यां कार्ये। शान्ति पर्व ५८-५६।

‡ वैराज्ये तु जीवतः परस्याच्छिद्य नैतन्ममेति मान्यमानः
कर्शयति, अपवाह्यति, पण्यं वा करोति। अर्थशास्त्र ८-२।

"अराजक" अथवा राजाविहीन शासन-सत्ता के बारे में यह कहा गया है कि वहां किसी को सम्पत्ति का अधिकार नहीं होता था—"न हि वित्तेषु प्रभुत्वं कस्यचित्तदा।" शान्ति पर्व ४८-७१।

आदिम जनवाद की जड़ खोदते थे और उसे भ्रष्ट बताकर उसका विरोध करते थे, तब भी वे आदिम जनवाद से डरते थे क्योंकि अपनी आन्तरिक सरलता और एकता के कारण वह अपने शत्रुओं से ज्यादा बली था। वर्ग-सत्ता और व्यक्तिगत सम्पत्ति के बारे में वर्गीय दृष्टिकोण रखने के कारण वे आत्म-विरोधी बातें करते थे। वे यह नहीं समझ सके कि गणों का अस्तित्व कैसे संभव हो सका था? पर उनकी सत्ता थी, और अच्छी खासी सत्ता थी। कुछ लोगों ने इसे स्वीकार भी किया—जैसे भीष्म ने।

गण संगठन और कुलत्व एक ही वस्तु हैं। जिस धातु से **गण** शब्द बना है, उसके अर्थ से यह स्पष्ट होता है। अपने मूल स्थान को छोड़ने के पहले हिन्दू आर्यों की भाषा में यह धातु वर्तमान थी। महाभारत और वेदों में इसका वर्णन एक सामाजिक-आर्थिक संगठन कहकर किया गया है। (बाद में, **स्मृति** काल में इसका वर्णन एक राजनीतिक संगठन के रूप में भी किया गया है।) इस **गण** शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के **जन** धातु से हुई है। **जन** धातु का अर्थ उत्पन्न करना या पैदा करना है। आर्थिक और यौन सम्बंधी दोनों अर्थों में इसका प्रयोग होता रहा है। **जन** और **गण** शब्द एक ही धातु से बने हैं। **यज्ञ** शब्द की उत्पत्ति भी इसी धातु से हुई थी—इसे हम पहले देख चुके हैं। इसलिए आर्यों की भाषा में उनके सामाजिक, आर्थिक और यौन सम्बंधी इन तीनों प्रकार के सम्बंधों या संगठनों को व्यक्त करनेवाली एक ही धातु थी। **यज्ञ** प्रणाली के उत्पादन में **गण** संगठन ही हो सकता था और यह **गण** अपने वास्तविक रूप में **जन** से बना हुआ था जो एक ही कुल के सम्बंधी होते थे। **अग्नि** और यज्ञ प्रणाली के जीवन के चारों ओर संगठित पुरुष-नारियों के सम्बंध से उत्पन्न लोग ही इस **गण** संगठन के सदस्य थे। ये पुरुष और नारियां जीवन और जीविका को सामूहिक ढंग से मिल-जुलकर उत्पन्न करते थे। मौर्गन के सम्बंध में इस विषय पर लिखते हुए एंगेल्स ने कहा था :

> "मौर्गन ने **सगोत्रता** पर **आधारित** इस संगठन के लिए साधारण रूप से जिस लैटिन शब्द **जेंस** का प्रयोग किया है, वह यूनानी भाषा में **जेनोस** हो जाता है; और ये दोनों शब्द आर्य धातु **जन** (जो जर्मन भाषा में, आर्य भाषा के **ज** के **क** बन जाने के नियम के अनुसार **कन** हो जाती है) से बने हैं, जिसका अर्थ उत्पन्न करना होता है। **जेंस, जेनोस,** संस्कृत भाषा का **जन**, गौथिक भाषा का **कुनि** (यह शब्द भी उपरोक्त नियम के अनुसार बना है), प्राचीन नौर्दिक और एंग्लो-सेक्सन भाषा का **क्यिन**, अंग्रेजी भाषा का **किन**, और मध्य-कालीन ऊंची जर्मन भाषा का **कून्ने**—इन सब शब्दों का एक ही अर्थ है, और वह है : **रक्त सम्बंध**

या कुल-परम्परा। परन्तु लैटिन भाषा में जेंस और यूनानी भाषा में **जेनोस** (और संस्कृत भाषा का शब्द **गण-गोत्र** इस सूची में मैं जोड़ देता हूं — लेखक) विशेष रूप से **एक गोत्र** के उन लोगों के लिए प्रयोग होते हैं जो एक वंश के होने का (यहां एक समान पुरुष के वंशज होने का) दावा करते हैं और जो कुछ विशेष सामाजिक एवं धार्मिक रीतियों से बंधकर एक विशिष्ट जन-समुदाय बन गये हैं...।"

(परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति, पृष्ठ १४४)

आर्यों ने इस बात को बार-बार अनेक रूपों में व्यक्त किया है कि उनका सबसे प्राचीन संगठन का आधार कौटुम्बिक सम्बंध था और इस संगठन के आधार पर परवर्ती युग में सब "राष्ट्रों" का जन्म हुआ था। लगभग आधे भारत के धरा-तल पर और बाहर तक फैले हुए वे विख्यात दस **गण**, परस्पर कुल के आधार पर सम्बंधित थे। यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अणु और पुरु ये पांच **गण** एक पिता ययाति और उसकी दो पत्नियां देवयानी और शर्मिष्ठा से उत्पन्न हुए थे। अंग, बंग, कलिंग, पुंड्र और सुम्ह ये पांच **गण** पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी भारत के **गण** थे और बलि के पुत्र कहे जाते थे। इनका जन्म दीर्घतमा नामक अंधे ऋषि द्वारा उनकी (बलि की) पत्नी से हुआ था। जिस बात पर खास जोर दिया गया है, वह यह है कि इन लोगों में सामाजिक-आर्थिक सम्बंधों के साथ-साथ एक रक्त का भी सम्बंध था।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि *गण* विधान के अनुसार प्राचीन सामूहिकतावाद के अन्तर्गत जनों का संगठन था, जहां उत्पादन के सम्बंध साथ-साथ रक्त के सम्बंध भी होते थे।

इस बात की सत्यता का प्रमाण हमें मूल रक्त सम्बंधों के नामों से ही मिल जाता है। साम्य संघ की क्रियाशीलता में रक्त सम्बंध और व्यावहारिक आर्थिक सम्बंध माता, पुत्री, पिता, पति और पत्नी द्वारा व्यक्त होते हैं।

माता (**मा-त्रु**) वह होती थी जिसका काम नापना (धातु : **मा** — मात्रा का मालूम करना) और अन्न, मांस, आदि सबको बांटना होता था; जो सन्तानों को जन्म देती थी यानी जो अधिक जीवन प्रदान करती थी। अन्न और माता के द्वारा साम्य संघ अथवा **ब्रह्मन्** बार-बार उत्पन्न होकर जीवित रहता था। पिता (**पि-पा-त्रु**) वह होता था जिसका काम शिकार करना, सुरक्षा के लिए सावधान रहना (**पा** = रक्षा करना) होता था। कन्या या दुहिता (**दुहि-त्रु**) वह होती थी जो पशुओं का दूध दुहती थी (धातु : दुह् = दुहना)। भोजन के वितरण का मुख्य काम सबसे अधिक माता करती थी। **पति और पत्नी** के यौन सम्बंधों से, जो बाद में पिता और माता में बदल जाते थे, यह भी ज्ञात होता है कि वे एक साथ रहते थे और बस्तियों को बसाते थे। यह शब्द **स्तयी**

से बना है जिसका अर्थ एक साथ रखना या एकत्र करना होता है। पर किस वस्तु को एक साथ रखना या एकत्र करना ? अवश्य ही इसका मतलब बस्तियों से होता था—बाद में यह गृह या निजी कुटुम्ब को एक साथ रखना हो गया था।* साम्य संघ को जो पुरुष और नारी एकत्रित करते थे, उन सबको **पस्त्यु, स्त्री और पत्नी** शब्दों से व्यक्त किया जाता था। शायद यह शब्द, आर्यों के इस निर्णय के पहले वर्तमान था कि पुरुष और नारी के लिए सामाजिक-आर्थिक क्रियाओं से पृथक यौन क्रियाशीलता के आधार पर दो भिन्न शब्दों की रचना की जाय। इसीलिए निजी गृहस्थी या कुटुम्ब के उदय होने के पहले **गृहपति** शब्द का प्रयोग नारी और पुरुष दोनों अर्थों में किया जाता था (**गृहपति-स्त्री** —पाणिनी ने कहा है)।

परवर्ती युगों में आर्थिक भूमिका और सम्बंध, कुल-सम्बंधों से नियंत्रित होना बंद हो गये। जब आदिम साम्य संघ टूट गया, तब भी माता-पिता वैसे ही होते थे, चाहे वे गृह का निर्माण करें या न करें, अथवा रक्षा करें या न करें और चाहे अन्न की मात्रा को नापें या न नापें। इन कामों को सामन्ती ज़मींदारों ने, पूंजीपति घर-मालिकों ने और पुलिस ने अपने हाथों में ले लिया था, जब कि माता और दुहिता, पिता और पुत्र विश्व के खेतों और कारखानों में इसलिए छोड़ दिये गये कि वे अपना अन्न और **पस्त्यम** या जीविका, जैसे हो कमायें। उन्हें यद्यपि कठोर श्रम करना पड़ता था, उत्पादन भी बड़ी मात्रा में होता था, पर उनको उसका थोड़ा सा ही अंश कभी-कभी मिल जाया करता था।

आर्यों के समूह के संगठनात्मक आधार को व्यक्त करनेवाला दूसरा शब्द **गोत्र** था। जब कि **गण** शब्द के अर्थ का आधार उत्पादन की क्रियाशीलता और उत्पादक (**जन**) था, तब **गोत्र** शब्द के अर्थ का आधार उत्पादन का मुख्य स्रोत था जिससे धन और अन्न की प्राप्ति होती थी (संस्कृत भाषा में **गो** का अर्थ गाय या बैल है)। यद्यपि यहां पर भी इस शब्द के अर्थ का मूल तत्व आर्थिक है, फिर भी हिन्दुओं में **गोत्र** संगठन और उसमें व्याप्त सम्बंधों का अर्थ यौन सम्बंधों अथवा कुल सम्बंधों के आधार पर चला आ रहा है। और इस विषय पर हिन्दू विद्वानों में खूब वाद-विवाद होता है। हिन्दुओं का विवाह सम्बंधी कानून एक **गोत्र** के नर-नारियों में विवाह करने की आज्ञा नहीं देता। सभी **गोत्रों** का विभाजन नौ **प्रवरों** में किया गया है। (कुछ विद्वानों के मतानुसार एक ही **प्रवर** के नर-नारियों के विवाह पर कोई खास रोक नहीं लगायी गयी है।) **वैदिक** साहित्य के विद्वान कहते हैं कि एक ही **गोत्र** में विवाह न करने की प्रथा **वेदों** में और प्राचीन इतिहास में नहीं थी। इसका जन्म बहुत बाद में हुआ था।

---

* अपस्त्यायते संघाती भवति पस्त्यम्।

लेकिन वे हमें यह नहीं बता सके कि इस प्रथा का उदय क्यों हुआ। इस काम को असंभव समझकर उन्होंने छोड़ दिया है। **गोत्र-प्रवर** की उलझन ऐसी है, जिसे वे सुलझा नहीं सके।

आर्यों के लिए **गण-जन** और **गोत्र** एक ही वस्तु थे। वे उनके आर्थिक और वैवाहिक सम्बंधों के आधार थे। **गण** अर्थ-व्यवस्था एक ही कुल के सदस्यों की अर्थ-व्यवस्था थी, और कुल के सभी सदस्य एक सामान्य और सामूहिक अर्थ-व्यवस्था में रहते थे। साम्य संघ या **गण** के बाहर जो कुछ था, वह शत्रु के समान प्रतिकूल था। जो कुल में नहीं था, वह शत्रु था, इसलिए वह साम्य संघ का सदस्य नहीं हो सकता था और **यज्ञ** प्रणाली में भाग भी नहीं ले सकता था। जो **यज्ञ** की क्रियाशीलता में भाग नहीं लेता था, वह विदेशी था, जिसका नाश करना और जिसकी सम्पत्ति पर अधिकार कर लेना उचित माना जाता था। शत्रुओं के पक्ष में अपना कोई कुल-सम्बंधी नहीं जा सकता था। केवल **गोत्र** था और वही सब कुछ था। इसलिए जीवन और जीविका का उत्पादन करने के लिए **गोत्र** ही उसकी सीमा और उसका आधार था। अतएव **गोत्र** में ही विवाह हो सकता था। प्राचीन आर्यों की **यज्ञ** प्रणाली में बंधे हुए समाज के प्राणी **गोत्र** के या अपनी **अग्नि** के बाहर विवाह करने की बात को विचार में ही नहीं ला सकते थे। अपनी जांगल और बर्बर दोनों अवस्थाओं में आर्यों ने सैकड़ों वर्षों के जीवन के अनुभव और निरीक्षण द्वारा देखा होगा कि **सगोत्र** अथवा सपिंड विवाह **गोत्र** के विकास के लिए अहितकर है और अपने ही सगे-सम्बंधियों में यौन सम्बंध स्थापित करने से इस समस्या का समाधान नहीं होता। हम लोगों में कुल-सम्बंधियों के बीच विवाह न करने की जो प्रथा प्रचलित है, उसका विकास इतिहास के हजारों वर्षों में हुआ है। अपनी आदिम अवस्था में आर्य लोग **गोत्र** के अन्दर ही विवाह करते थे। बाद में इस **सगोत्र** विवाह को निषिद्ध ठहराया गया। यह निषेध उस युग में संभव हुआ जब आर्य लोग जनसंख्या में बढ़कर क्षेत्रों में फैल रहे थे और उनकी ज्ञान-सीमा तथा अर्थ-व्यवस्था का विस्तार हो रहा था।

गण-गोत्र अथवा पारिवारिक तथा आर्थिक सम्बंधों ने यौन-सम्बंधों के प्रश्नों को—अर्थात आदिम साम्य संघ में विवाह सम्बंधी प्रश्नों को—सामने ला दिया था। इस विषय में भी उत्पादन शक्तियों की अति प्राचीनता द्वारा प्रारम्भिक आर्य समाज के सदस्यों के बीच यौन सम्बंध निश्चित हुए थे। उस **यज्ञ** समाज की नैतिकता और आचार-विचार परवर्ती हिन्दू समाज से तथा वर्तमान और आधुनिक समाजवादी समाज से सर्वथा भिन्न थे।

छठा अध्याय

आदिम साम्य संघ में विवाह

आज के पूंजीवादी समाज में विवाह संस्था के विकास को लेकर जो विवाद चल रहा है, तथा जिस नैतिकता और आचार-विचार की कसमें पूंजीपति वर्ग दिन-रात खाया करता है, पर जिन्हें व्यवहार में वह कभी नहीं लाता—वह हमेशा से हर देश में तीव्र मतभेद का विषय रहा है। तलाक, बहु-विवाह, एकनिष्ठ विवाह, "सम्पत्ति-विवाह" और प्रणय-विवाह के तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों ने तेजी से बदलते हुए भारतीय समाज में एक आंधी सी उठा दी है, और हमारे पढ़े-लिखे बुद्धिजीवियों को इस बात के लिए विवस कर दिया है कि वे पुरुष और नारी के सम्बंधों को दो प्रकार से देखें। पुरुष और नारी समाज की इकाई हैं—एक तो इस दृष्टिकोण से और दूसरे इस दृष्टिकोण से कि प्रकृति के अनुसार एक पुरुष है और दूसरी नारी है। सामाजिक और प्राकृतिक दोनों भूमिकाओं में रखकर ही इनके सम्बंधों की समस्या को हल किया जा सकता है। विवाह संस्था के इतिहासकारों ने यह दिखाने की कोशिश की है कि एकनिष्ठ विवाह, एक-पति और बहु-पत्नी विवाह, एक-पत्नी और बहु-पति विवाह का मानव समाज में विकास पशुओं की कुछ जातियों, जैसे बन्दर या हिरण, आदि के आधार पर हुआ है। वे मनुष्यों के यौन सम्बंधों की तुलना इन प्राकृतिक पशु जातियों के यौन सम्बंधों से करते हैं। इस प्रकार की सारी कोशिशें मिथ्या और हास्यास्पद हैं, क्योंकि किसी भी पशु ने कभी भी सामाजिक संगठन में अपने को संगठित नहीं किया (झुंड समाज नहीं होता)। और फिर मनुष्य पशु मात्र तो नहीं है! अपने उत्पादन के साधनों को उन्नत बनाकर उसने प्राकृतिक शक्तियों पर उत्तरोत्तर अधिकार प्राप्त किया है—और इस तरह से उसने अपने को ज्यादा ऊंचे उठाकर मानव समाज की रचना की है। इसलिए मनुष्यों के यौन सम्बंध, जो पुरुष और नारी के बीच स्थापित हुए थे, आरम्भ से ही समाज द्वारा नियंत्रित होते और उसी के अनुरूप बनते आये हैं। इसलिए वे एक साथ और एक समय में ही प्राकृतिक यौन सम्बंध एवं सामाजिक सम्बंध भी हैं।

प्रकृति और मनुष्य दोनों विकासशील और परिवर्तनशील हैं—अतः इन दोनों का एक इतिहास है। वे गतिहीन या अचल वस्तुएं नहीं हैं जो किसी भी समय में बदली न जा सकें। इसलिए उनको इतिहास के दृष्टिकोण से देखना पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पुरुष और नारी के सम्बंधों की नैतिकता या आचार-विचार का नियंत्रण किसी ईश्वर या प्रकृति के हाथों से नहीं होता—हर युग में वे एक से नहीं रहते, वे लगातार बदलते रहते हैं और नीचे से ऊंचे स्तर की ओर, पूर्णता की ओर बढ़ते रहते हैं।

पूंजीवादी बुद्धिजीवियों ने यह भी मान लिया कि सभी समाजों में एक से यौन सम्बंध नहीं होते और एक समाज में भी सभी युगों में ये सम्बंध एक से नहीं रहते। लेकिन ये बुद्धिजीवी इन सम्बंधों के बदलने के कारणों के विषय में और उनके नीचे या ऊंचे स्तर के विषय में कभी एकमत नहीं होते तथा एक-दूसरे का घोर विरोध करते हुए वाद-विवाद करते हैं। प्रत्येक शासक वर्ग की तरह ही पूंजीपति और उसके बुद्धिजीवी वर्तमान यौन सम्बंधों को उच्चतम और श्रेष्ठतम समझते हैं।

इसलिए जब हम इतिहास के क्षेत्र में खोज करते हुए आर्यों के सामाजिक जीवन के इस पहलू और उसके इतिहास की बात उठाते हैं, तब हम सम्पत्ति विषयक प्रश्नों से भी बहुत अधिक तेजी के साथ इस प्रश्न को अपने सामने उठते हुए देखते हैं। जब इस विषय का अध्ययन पहले-पहल योरप में उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में शुरू हुआ और इतिहासकारों ने विभिन्न कबीलों के समाज में अनेक रूपों के विवाहों का पता लगा लिया, जिनके कुछ अवशेष वर्तमान रूढ़ियों में भी मिल जाते हैं, तो उन्होंने यह कहकर उनको टाल दिया कि विवाह के या तो ये अजीब रूप हैं, या पिछड़ी हुई जातियों की अपनी प्रथाएं हैं जिनका इतिहास से अथवा अन्य समाजों से कोई सम्बंध नहीं है। जब बाखोफेन ने यह साबित किया कि प्राचीन समाज में "यूथ-विवाह" से मातृसत्ता का जन्म हुआ और विवाह का यही रूप सभी सामाजिक यूथों का जनक था, तो लोगों ने इसका विरोध किया। जब मौर्गन, मार्क्स और एंगेल्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्त को विकसित किया और यह बताया कि मनुष्य के सामाजिक-आर्थिक सम्बंधों के अनुसार ही उसका निर्माण होता है अथवा मनुष्य की उत्पादन प्रणाली का प्रत्येक सामाजिक युग उसके परिवार के रूपों को निर्धारित करता है, तब पूंजीवादी योरप ने मार्क्सवाद को यह कहकर बदनाम किया कि यह तो नारी का "राष्ट्रीकरण" करना है। इस तरह की बदनामी उड़ाने की कोशिश भारत के कुछ पूंजीवादी बुद्धिजीवियों ने भी की है। परन्तु कोई भी इस बात को स्पष्ट देख सकता है कि इस तरह का निष्कर्ष निकालना पूंजीपतियों के लिए बिलकुल स्वाभाविक था, क्योंकि नारी को भी वे

एक सम्पत्ति के रूप में देखते हैं। श्रमिक वर्ग इस तरह के निष्कर्षों पर हंसता है।

पूंजीवादी हिन्दू बुद्धिजीवी और उसके समाज के पुरान-पंथियो को तो कम से कम मार्क्सवाद पर इस तरह पत्थर नहीं फेंकना चाहिए, क्योंकि वे सब देवता, जिनकी पूजा प्रति-दिन करने की उन्हें आज्ञा दी गयी है, और बातों में चाहे कुछ भी रहे हों, पर वर्तमान नैतिक दृष्टि से अपने यौन सम्बंधों में वे "नैतिक" नहीं रहे हैं। आधुनिक भारत की सामाजिक नैतिकता जिन आचारों को घृणा से देखती है, उन सब वैवाहिक और यौन सम्बंधी आचारों का वर्णन हिन्दुओं के "धार्मिक" इतिहास में मिलता है। ये यौन सम्बंध और विवाह के ये सब रूप भारत के महापुरुषों और देवताओं में पाये जाते हैं। वास्तव में इस विषय को ऐतिहासिक दृष्टि से देखना चाहिए, जिससे हमें अधिक ऊंचे सामाजिक संगठन के स्तर पर जाने में सहायता मिले। ऐसा सामाजिक संगठन न तो बर्बर युग के आदिम साम्य संघ के समान होगा और न पूंजीवादी संस्कृति के वर्ग-दासता के ही समान।

प्राचीन काल के हिन्दू लेखकों ने यथार्थ के अधिक निकट होने के कारण अपने युग के सामाजिक वर्ग सम्बंधों या बीते हुए काल की स्मृतियों को किसी परदे से ढंकने की कोशिश नहीं की है। न ही उन्होंने इस बात की कोशिश की कि वे सम्पत्ति या यौन सम्बंधों के खटकनेवाले तथ्यों को छिपा लें। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्राचीन समाज के यौन सम्बंध उनके वर्तमान समाज से बिलकुल भिन्न थे। अपनी शैली के अनुसार वे इस बात को कहते हैं कि "सन्तान उत्पन्न करने के लिए" चार विभिन्न युगों में चार भांति के यौन सम्बंध थे — ठीक उसी तरह से जैसे कि "धन उत्पन्न करने के लिए" चारों युगों के सामाजिक-आर्थिक सम्बंधों के रूप भिन्न-भिन्न थे। भीष्म पितामह चारों युगों के यौन सम्बंधों को चार नामों से पुकारते हैं, जिनके द्वारा उनके रूप और चरित्र स्पष्ट हो जाते हैं। चार नामों से यौन सम्बंध ये हैं : **संकल्प, संस्पर्श, मैथुन** और **द्वन्द्व**। **कृतयुग** में **संकल्प, त्रेतायुग** में **संस्पर्श,** द्वापर में **मैथुन** और **कलियुग** में **द्वन्द्व** रूपों में यौन सम्बंध व्यक्त हुए थे।* प्राचीन **गणों** के रूपों में

---

* कृतयुगे—
न चैषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ।
संकल्पादेव चैतेषां गर्भः समुत्पद्यते ॥ शान्ति, २०६–४२।
ततस्त्रेता युगे काले संस्पर्शाज्जायते प्रजा।
न ह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप ॥ ४३ ॥
द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानाम भवन्नृप।
तथा कलियुगे राजन्द्वन्द्वमापेदिरे जनाः ॥ ४४ ॥

रहनेवाली वर्तमान जातियों में वैवाहिक सम्बंध के विकास का ज्ञान प्राप्त होने के बाद, हम भी इन चारों की रूपरेखा स्पष्ट कर सकते हैं। **संकल्प यौन सम्बंध** वे होते थे जिनमें कोई बंधन नहीं था। यह सम्बंध किन्हीं दो व्यक्तियों में हो सकता था, जो इसकी कामना या इच्छा करते थे। इस कामना पर कोई भी सामाजिक या व्यक्तिगत रोक नहीं थी। **संस्पर्श** वह यौन सम्बंध था जिसमें अपने अत्यंत निकट के सम्बंधियों के साथ यौन सम्बंध स्थापित करने पर रोक लगा दी गयी थी और एक ही **गोत्र** में विवाह करने का निषेध कर दिया गया था। उस समय भिन्न-भिन्न **गोत्र** आपस में यह सम्बंध स्थापित करते थे। प्राकृतिक वैवाहिक सम्बंध की अन्तिम अवस्था **मैथुन** है। यहां से यूथ विवाह का अन्त हो जाता है। जब तक पति-पत्नी की इच्छा रहती थी, तब तक वे एक कुटुम्ब में बंधे रहते थे और दूसरे नर-नारियों से यौन सम्बंध नहीं स्थापित करते थे। **द्वन्द्व यौन सम्बंध** का वह रूप है जो **कलियुग** में प्रचलित है और जिसके अनुसार एक पति और एक पत्नी का जोड़ा होता है। यौन सम्बंध के इस रूप के अनुसार नारी पुरुष की दासी होती है। और वह (पुरुष) व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार और एकाधिपत्य की शक्ति लेकर निरन्तर नारी के हितों का विरोधी बना रहता है।

हिन्दुओं के परम्परा से चले आये पूरे साहित्य में यह स्वीकार किया गया है कि विवाह का वर्तमान रूप ही उसका प्राचीन रूप नहीं था। उसका वर्तमान रूप विकास की एक अवस्था में प्रकट हुआ है। इस आरम्भ को शुरू हुए अभी ज्यादा दिन नहीं हुए। राजा पांडु रोगी थे। उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों कुन्ती और माद्री से यह कहा था कि वे अन्य पुरुषों से सन्तान उत्पन्न करें। जब कुन्ती ने कुछ संकोच किया, तो राजा पांडु ने उनको एक लम्बा व्याख्यान दिया जिसमें उन्होंने यह बताया कि प्राचीन काल में इस प्रकार के पति और पत्नी का जोड़ा नहीं होता था, जो अन्य नर-नारियों को छोड़कर एक पति और एक पत्नी तक ही सीमित होता हो।* जब कुन्ती कुमारी थीं, तब उनके पास सूर्य गये थे। पहले तो कुन्ती ने प्राचीन काल की कुमारियों की तरह प्रणय-स्वातंत्र्य की प्रवृत्ति दिखायी। बाद में समागम के फल के कारण संकुचित हुईं, क्योंकि समाज

---

* अथत्विदं प्रवक्ष्यामि धर्मतत्वं निबोध मे।
पुराणमृषिभिर्दृष्टं धर्मज्ञविद्भिर्महात्मभिः॥
अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने।
कामचारविहारिण्यः स्वतंत्र्याश्चारु हासिनी॥
तासां व्यूच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन्।
ना धर्मो भूद् वरारोहे स हि धर्मः पुराऽभवत्॥

तेजी से बदल रहा था और नयीं प्रतिष्ठाएं गुनगुनाने लगी थीं। तब सूर्य ने कुन्ती को पुरानी नैतिकता की याद दिलाते हुए उनके संकोच को दूर किया था। भीष्म की सौतेली मां ने भी ऐसा ही किया था। जब भीष्म के भाई की मृत्यु हो गयी और उनके कोई सन्तान नहीं थी, तब भीष्म की सौतेली मां ने अपनी पुत्रबधू से नियोग द्वारा दूसरे आदमियों से पुत्र उत्पन्न कराया था, जिससे कि वह राज्य और सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सके। महाभारत, पुराण और वेदों में लगातार यह लिखा हुआ मिलता है कि कलियुग के विवाह और परिवार का रूप एक नयी वस्तु है, जो कुछ आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक नया सामाजिक प्रयोग है और यह प्राकृतिक नहीं है।[1] कलियुग के विवाह और परिवार का रूप कैसा था? एक पति और पत्नी की मर्यादा में नारी बांध दी जाती थी और इस मर्यादा को केवल नारी को ही निभाना पड़ता था। इस युग में बच्चे माता के नाम से नहीं, बल्कि पिता के नाम से जाने जाते थे। इस परिवार का निर्माण ऐसे ही वैवाहिक सम्बंधों के आधार पर होता था।

तब फिर प्राचीन सामाजिक-प्राकृतिक सम्बंध क्या था? और परिवार का क्या रूप होता था?

जांगल युग में रहनेवाले सब लोगों की भांति आर्यों ने भी अनियमित और सगोत्र विवाह के प्रभाव को बहुत दिनों बाद देखा होगा। नर और नारियों का छोटा सा समाज, विकट प्रकृति के विरोध के कारण एकत्र, सामूहिक ढंग से काम करते हुए जीवित रहता था। वे सगोत्र में ही विवाह करते हुए अपनी सन्तानों को उत्पन्न करते थे। जैसी अवस्था उनकी आर्थिक क्षेत्र में थी, वैसी ही उनकी दशा यौन सम्बंधों में भी थी। दोनों क्षेत्रों में वे जांगल-युगीन, यानी आधे मनुष्य और आधे पशु ही थे। प्रकृति से ही उत्पन्न होकर वे उसके विरोध में खड़े हो रहे थे। वे उसे समझने और उसके बाद उस पर अधिकार पाने की चेष्टा भी कर रहे थे। इस अवस्था तक नर और नारी के उन यौन सम्बंधों में वे कोई अनौचित्य या बुराई नहीं देख पाये थे, जब कि ये सम्बंध पुत्र और मां, पिता और पुत्री अथवा भाई या बहन के बीच होते थे। इसलिए इन सम्बंधों पर—जो आज उचित नहीं माने जाते और व्यभिचार के अपराध माने जाते हैं—कोई रोक नहीं लगायी गयी थी। इन सामाजिक रीतियों के अवशेष

तं चैव धर्मं पौराणं तिर्यग्योनिगताः प्रजाः।
अद्याप्यनुविधीयन्ते कामक्रोध विवर्जिताः।
प्रमाणादृष्टोधर्मोयं पूज्यते च महर्षिभिः।
उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्वद्यापि पूज्यते॥ आदि पर्व, १२२।

१. "महाभारत" में ऐसे बहुत से दृष्टान्त बिखरे हुए मिलते हैं।

आज कहीं नहीं मिलते। परन्तु आर्यों की धार्मिक कथाओं में यौन सम्बंधों की इस अवस्था का वर्णन मिलता है। उन कथाओं में कहा गया है कि अनेक देवताओं, आर्यों के **प्रजापतियों** और सृष्टि की उत्पत्ति ऐसे ही यौन सम्बंधों द्वारा हुई है। इन उदाहरणों का वर्णन कुछ कुत्सित बताकर नहीं किया गया है। सिर्फ इतना ही कहकर उनको समझा दिया गया है कि ये यौन सम्बंध इसलिए उचित थे कि वे देवों के बीच व्यवहार में लाये जाते थे।

सृष्टि कैसे हुई? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए **एतरेय ब्राह्मण** में यह लिखा है: "सृष्टि करने के लिए मूल **प्रजापति** ने अपनी पुत्री से विवाह किया।"* **मत्स्य** और **वायु पुराण** में सृष्टिकर्त्ता **ब्रह्मा** के बारे में भी ऐसी ही कथा कही गयी है। बाद में जब ऐसे यौन सम्बंधों पर रोक लगा दी गयी तो **प्रजापति** को थोड़ा सावधान होना पड़ा था, क्योंकि शायद वे इस सम्बंध को तोड़ना नहीं चाहते थे। इसलिए हिरण का रूप रखकर वे अपनी पुत्री द्यौस के पास गये। उस पुत्री ने भी **रोहित** जाति की हिरणी का रूप धारण कर लिया था। परन्तु अन्य देवता बहुत सजग थे, और अपनी पुत्री के साथ सम्भोग करने के पहले ही देवताओं ने उनको बाण से मार दिया। **ऋग्वेद** इस दुर्घटना पर ज्यादा अप्रसन्न नहीं होता। वह हमें यह विश्वास दिलाता है कि वे दोनों अपराधी आकाश में दो नक्षत्रों के रूप में स्थापित हैं, जिनको **अहेरी** कहते हैं (**एतरेय ब्राह्मण**: ३-३३; ५-३२)। अगर यह भी मान लिया जाय कि नक्षत्रों को समझाने के लिए यह कथा एक रूपक मात्र है, तब भी इस चित्रण और सिद्धान्त को लेकर रूपक बांधने की क्या आवश्यकता थी? कम से कम किसी जीवित यथार्थ का प्रतिबिम्ब उनके मतिष्क पर अवश्य पड़ा होगा, तभी यह बात उनके मतिष्क में जमी रही होगी।

हरिवंश पुराण में इसी कोटि के अनेक विख्यात उदाहरण दिये गये हैं। वशिष्ठ **प्रजापति** की पुत्री शतरूपा युवती होने पर वशिष्ठ की पत्नी बनी (अध्याय २)। मनु ने अपनी पुत्री इला या इड़ा के साथ विवाह किया (अध्याय १०)। जन्हु ने अपनी पुत्री जाह्नवी को ब्याहा (अध्याय २७)। **हरिवंश पुराण** में इनसे भी अधिक जटिल सम्बंधों की कहानी मिलती है। दस प्रचेतस आपस में भाई-भाई थे। इनके सोम नाम का एक पुत्र था। सोम की एक पुत्री थी, जिसका नाम मरीषा था। दसों प्रचेतसों और सोम ने मिलकर उस मरीषा से एक पुत्र उत्पन्न किया जिसका नाम दक्ष प्रजापति था। बाद में इस दक्ष के सत्ताइस पुत्रियां उत्पन्न हुईं जिन्हें उसने अपने पिता सोम को सन्तान उत्पन्न करने के लिए दे दिया। दक्ष को ब्रह्मा का भी पुत्र माना जाता है।

---

* प्रजापतिर्वै स्वाम् दुहितरमध्यायत्।

उस दक्ष ने अपनी पुत्री को ब्रह्मा को दे दिया और उससे सुप्रसिद्ध नारद की उत्पत्ति हुई थी।

अपनी सामाजिक स्मृति के अनुसार जब प्राचीन साहित्यकार व्यास और वैशम्पायन ने राजा जनमेजय को इस प्रकार की ऐतिहासिक कथाओं को सुनाया, तो राजा को आश्चर्य हुआ और उन्होंने यह पूछा कि यह सब कैसे संभव हुआ था? तब आश्चर्य में पड़े हुए जनमेजय को यह बताया गया कि यह तो **पुरातन इतिहास** है और यह सब सच है। उन दिनों में ऐसा ही **धर्म** था। बहुत प्राचीन काल में सामाजिक संगठन की प्रणाली इसी प्रकार की थी और इसलिए यह सब संभव था।

समाज के ऐसे संगठनों में अलग-अलग कोटि के सम्बंधी नहीं होते थे, जिनके आधार पर यौन सम्बंधों में निषेध लगाया जाता। पर सन्तान की उन्नति और प्रगति के लिए यह अनियंत्रित यौन सम्बंध घातक सिद्ध हुआ। इसलिए उन लोगों के विचार में जो पहला निषेध आया और जिसे उन्होंने समाज पर लागू किया, वह सन्तान और उनके माता-पिता के बीच का यौन सम्बंध था। और इस प्रकार से सगोत्र या सपिंड कुटम्ब का अस्तित्व संभव हुआ। इसके अनुसार विवाह का आधार पीढ़ियां होती हैं। सब बाबा और दादियां आपस में पति और पत्नियां हो सकते थे। और उसी प्रकार से उनकी सन्तानें भी अपनी पीढ़ी में विवाह कर सकती थीं, जो स्वयं माता या पिता होते थे। उसी प्रकार से भाई और बहन, चचेरे या ममेरे भाई-बहनें आपस में पति-पत्नियां हुआ करते थे।[२]

दूसरी अवस्था वह थी जब भाई और बहन के यौन सम्बंध का निषेध किया गया। इस निषेध को लागू करने में काफी कठिनाई पड़ी क्योंकि उनकी उम्रों में सबसे ज्यादा समानता होती थी। धीरे-धीरे यह निषेध लागू किया जा सका। सबसे पहले इसे सगी बहन या सगे भाई से शुरू किया गया। यह काम कितना कठिन था, इसे परवर्ती **ऋग्वेद** के मंत्रों में यम और यमी के संवाद में देखा जा सकता है। यम और यमी दोनों भाई और बहन थे। यमी ने अपने भाई यम से प्रणय और सन्तान उत्पन्न करने के लिए कहा। यम ने अस्वीकार कर दिया और कहा कि इससे देवों के कार्यों को देखनेवाले वरुण अप्रसन्न होंगे। यमी ने इस कथन का विरोध किया और विवाद द्वारा सिद्ध किया कि देवता लोग इस सम्बंध को स्वीकार करेंगे।* इस संवाद का फल क्या हुआ? यह **ऋग्वेद** में लिखा नहीं मिलता। लेकिन अगर यह भी मान लिया जाय कि यम

२. एंगेल्स : "परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति," पृष्ठ ४६-४७।
* उशन्ति घा ते अमृत स एतद्।

ने अन्त में उसे अस्वीकार कर दिया, तो भी यह सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन परम्परा के विरुद्ध लड़ना कितना कठिन होता था।

तैत्तराय **ब्राह्मण** में सीता-सावित्री की कथा लिखी मिलती है। सीता-सावित्री प्रजापति की पुत्री थी। वह अपने भाई सोम का प्रणय चाहती थी। पर सोम इसे नहीं चाहता था। वह अपनी दूसरी बहन श्रद्धा से प्रेम करता था। सीता-सावित्री ने अपने पिता से इस विषय में राय ली। उसके पिता ने उसे एक यंत्र दिया जिससे उसने सोम को जीत लिया।[3] **महाभारत** के **आदि पर्व** और हरिवंश में **ब्रह्मन्** से कुटुम्ब की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इन इतिहासों में यह लिखा है कि ब्रह्मा के बाय पैर के अंगूठे से उत्पन्न दक्ष ने उनके दायें पैर के अंगूठे से उत्पन्न दक्ष के साथ विवाह किया — जिसका अर्थ यह हुआ कि दक्ष ने अपनी बहन के साथ विवाह किया। उनसे साठ कन्याएं उत्पन्न हुईं। दक्ष के दो भाई और थे — मरीची और धर्म। दक्ष की साठ पुत्रियों में से दस पुत्रियों के साथ धर्म ने विवाह किया। मरीची के पुत्र कश्यप ने उनमें से तेरह कन्याओं के साथ विवाह किया — वे उसकी चचेरी बहनें थीं। **सगोत्र** विवाह की प्रथा के कारण ही इन सम्बंधों को उचित समझा गया। दूसरे निषेध (बहन और भाई के बीच विवाह का न होना) ने उस सामाजिक संगठन को जन्म दिया जिसे **गण-गोत्र** कहते हैं। **गण-गोत्र** के नर-नारियों में परस्पर विवाह नहीं हो सकता था। अपने पतियों और पत्नियों को **गण-गोत्र** से बाहर खोजना पड़ता था। पहले जहां विवाह एक ही कुल के सदस्यों के बीच हो जाया करता था[4]—अब उस पर रोक लगा दी गयी। इस प्रकार **सगोत्र** विवाह का अन्त हो गया। आदिम साम्य संघ में **गोत्र** वह यौन सम्बंधी संगठन था जिसके अनुसार सभी पति और सब पत्नियां एक-दूसरे के लिए समान होते थे। दूसरे शब्दों में कहें तो कहना होगा कि वहां पर यूथ-विवाह की प्रथा थी। लेकिन अब पत्नियों का पति उनका सगा सम्बंधी नहीं हो सकता था। इसलिए पति और पत्नियों को अलग-अलग उन यूथों का सदस्य होना पड़ता था जो आपस में कोई सगा सम्बंध नहीं रखते थे। इन्हीं यूथों या समूहों को **गोत्र** कहते

---

३. तैत्तरीय ब्राह्मण : ३–१०; ९–४।

४. "महाभारत" में उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु के विषय में ऐसा कहा जाता है कि उसने सगोत्र यूथ-विवाह और युग्म-परिवार पर निषेध लगाया था। जो पुरुष उसकी मरजी से उद्दालक की पत्नी को ले जाना चाहता था, उसने यह कहकर उस नारी पर अधिकार जमाया था कि वह उसके "गोत्र" की है, इसलिए उसकी है। वह कहता है :

प्रजारणिरतु पत्नी ते कुलशील समन्विता।
सदृशी मम गोत्रेण वहाम्येनां चमस्व मे॥ आदि पर्व, १२८–२६।

थे। हिन्दुओं के प्राचीन समाज में **गोत्र** और विवाह का दृढ़ सम्बंध यह प्रमाणित करता है कि पहले एक अवस्था यूथ-विवाह की रही होगी। लेकिन यह यूथ-विवाह ऐसा था कि इसके अनुसार सगे सम्बंधियों में परस्पर विवाह नहीं होता था। **अ-सगोत्र** विवाह इस समस्या का समाधान था। यूथ-विवाह पद्धति के नष्ट हो जाने के बाद और एकनिष्ठ विवाह के आरम्भ होने से **गोत्र-प्रथा** निरर्थक और आधारहीन हो गयी, इसीलिए हिन्दू विवाहों में इसकी पूर्व प्रतिष्ठा शेष नहीं रही—यद्यपि कुछ पुरानपंथी लोग इसे विधि और रूढ़ि समझकर उससे चिपके रहने की चेष्टा करते हैं।

यद्यपि विवाह सम्बंधों को असम्बंधियों, अर्थात असम **गोत्रों** में होना चाहिए, फिर भी यह आवश्यक था कि वे एक राष्ट्र अथवा एक जैसे लोगों में ही सम्पन्न हों। आदिम आर्थिक दशाओं में बंधे हुए छोटे-छोटे सामाजिक दल, जिनके अन्दर प्रारम्भिक युग में केवल सगे सम्बंधी अथवा निकटतम सम्बंधी ही निवास कर सकते थे, इस समस्या को कैसे हल करते थे ?

> "प्रत्येक आदिम परिवार अधिक से अधिक दो-तीन पीढ़ियों तक चलकर बंट जाता था। बर्बर युग की मध्यम अवस्था के बहुत बाद के दिनों तक, हर जगह बिना किसी अपवाद के, आदिम साम्यवादी कुटुम्ब में ही रहने का चलन था। और उसके कारण पारिवारिक समाज के आकार और विस्तार की एक विशेष दीर्घतम सीमा निश्चित हो जाती थी, जो परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती थी, परन्तु प्रत्येक स्थान में बहुत कुछ निश्चित रहती थी। जब एक मां के बच्चों के बीच सम्भोग बुरा समझा जाने लगा, तो लाजिमी था कि इस नये विचार का पुराने पारिवारिक समाजों के विभाजन पर तथा नये पारिवारिक समाजों की स्थापना पर असर पड़े (पर यह जरूरी नहीं था कि ये नये पारिवारिक समाज पुराने परिवार के एकरूप हों)। बहनों का एक अथवा अनेक समूह एक परिवार के मूल केन्द्र बन जाते थे, जब कि उनके सगे भाई दूसरे परिवार के मूल केन्द्र बन जाते थे...।"

(परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति, पृष्ठ ४९)

उनकी बहनें परस्पर सब बहनों के पतियों की पत्नियां होती थीं। पर इस नयी व्यवस्था के अनुसार ये पति उनके सगे भाई नहीं होते थे। इस प्रकार के यूथ विवाहों में माता के जनकत्व को ही पहचाना जा सकता था और **यज्ञ** की अर्थ-व्यवस्था में अपनी प्रमुखता के कारण वह परिवार की स्वामिनी होती थी। इसलिए मातृ परम्परा के अनुसार पीढ़ियां चलती थीं। इस प्रकार से बहनों की संतानें तो **गण-गोत्रों** की उत्तराधिकारिणी होती थीं, जब कि भाइयों

को उस **गण-गोत्र** को छोड़कर अपनी पत्नियों के **गणों** में जाना पड़ता था। सामूहिक अथवा साम्यवादी परिवार प्रथा तथा यूथ-विवाह की पद्धति मातृसत्ता व्यवस्था का आधार थी। इसी प्रकार से सब समाजों की उत्पत्ति हुई और आर्यों का समाज भी इसी प्रकार उत्पन्न हुआ था।

बहनों द्वारा **गण-गोत्रों** की स्थापना का वर्णन दक्ष की साठ पुत्रियों की कथा में मिलता है। दक्ष की साठ पुत्रियों ने अपने को सात समूहों में विभक्त कर लिया था। इन सात समूहों की संख्या क्रम से दस, तेरह, सत्ताइस, चार, दो, दो, दो थी। इन साठ बहनों ने इस प्रकार से अपने को सात समूहों में बांटकर सात **प्रजापतियों** को पति के रूप में लेकर सृष्टि की रचना आरम्भ की थी। इन परिवारों की नींव डालनेवाली नारियों के नाम, जिन्हें **गोत्र** परिवार कहा जा सकता है, **ऋषियों** की वंशावली में यत्र-तत्र मिलते हैं, यद्यपि अधिकतर उनके पुरुष नाम ही परवर्ती युगों में चलते आ रहे हैं।

विवाह और वंश परम्परा की यह पद्धति वर्तमान वैवाहिक सम्बंध और पारिवारिक संगठन के प्रतिकूल है, इसलिए भारत और योरप के पूंजीवादी विद्वान बड़ी कट्टरता के साथ इसके अस्तित्व से ही इनकार कर देते हैं। लेकिन इतिहास का यथार्थ रीति और रिवाजों के रूपों में बहुत बाद के समय तक चला आया है। दुर्भाग्य से उस ऐतिहासिक यथार्थ ने इन पूंजीवादी विद्वानों के साथ विश्वासघात किया। उस समाज के लिए यह बिलकुल स्वाभाविक था कि उस परिवार की सन्तानें और माता की सन्तानें एक में मिला कर पूरे साम्य संघ की प्रजा या सन्तानें मानी जायें। इसलिए उस समाज की सन्तानें सबसे पहले **गोत्र** के नामों से पुकारी जाती थीं, और उसके बाद व्यक्तिगत नाम का प्रयोग किया जाता था। वे सब **गोत्र-अपत्य,** अथवा **गोत्र** की सन्तान कहे जाते थे। जब मातृसत्ता को नष्ट कर दिया गया और एकनिष्ठ वैवाहिक मर्यादा के अनुसार पिता के नाम से वंशावली प्रचलित हो गयी, तो पति-पत्नी के पुत्र को **अनन्तरापत्य** कहा जाने लगा। अनिवार्य रूप से प्राचीन सामूहिक समाज संगठनों में अवैधानिक सन्तान जैसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती थी जिसे कि लोग आज घृणा और अपमान की दृष्टि से देखते हैं और सड़क पर फेंक देते हैं।

भारत में मातृसत्ता दृढ़ होकर बहुत समय तक चली थी। एक पत्नी और अनेक पतियों की वैवाहिक पद्धति के अनुसार द्रौपदी और पांच पांडवों का विवाह एक कल्पित या मिथ्या कथा नहीं है। यही नहीं, उस पद्धति के यथार्थ चिह्न भारत की कुछ जातियों में आज भी मिलते हैं। उनसे यह प्रमाणित होता है कि आदिम आर्य के समाज में यूथ या सामूहिक विवाह की पद्धति बहुत महत्वपूर्ण रूप में थी—जिसके कारण इतिहास के विद्वान न तो उसे छिपा सके और न उसे किसी दूसरे अर्थ ही में समझा सके। वे अपने समाज के इस प्राचीन

यथार्थ को स्वीकार करने में लजाते हैं, क्योंकि वे पवित्र देवों और पूर्वजों के प्राचीन समाज को अपनी पितृसत्ता की दासता के वैधानिक नियमों में ढाल देना चाहते हैं, और उसी दृष्टि से उसकी छान-बीनकर उस पर निर्णय देना चाहते हैं। ऐसी समस्याओं के विषय में इतिहास की सहायता अलौकिकवादी पुराण अधिक करते हैं, क्योंकि उनके अन्दर हमें कुछ यथार्थों के चित्र मिल जाते हैं। और इन यथार्थों का ठीक अर्थ केवल मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर ही स्पष्ट हो सकता है। कार्ल मार्क्स ने इसी दृष्टिकोण द्वारा यह स्पष्टता से समझाया है कि पहले ऐसी व्यवस्था क्यों थी ? वैसी ही व्यवस्था आज क्यों नहीं है ? और भविष्य की साम्यवादी व्यवस्था में यह पद्धति क्यों नही रह सकेगी ? भविष्य में आनेवाली इस साम्यवादी व्यवस्था में नारी का आदर और उसकी स्वतंत्रता, समाज के अधिक उच्च स्तर पर उसे लौटा दी जायेगी।

प्राचीन समाज की उत्पत्ति मातृसत्ता से होने की बात को छिपाने की कोशिश आधुनिक विद्वानों ने ही नहीं, वरन पितृसत्ता के प्राचीन लेखकों ने भी की है। आदिम साम्य संघ में प्रचलित माता के अधिकार और सामूहिक सम्पत्ति की पद्धति को इतिहास के इतने प्राचीन युग में नष्ट कर दिया गया था कि उसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। केवल परम्परा और रूढ़ियों में वे जीवित चले आ रहे हैं। व्यास पितृसत्ता के युग में उत्पन्न हुए थे। माता के नाम से वंश चलने की प्रथा का तब नाश हो चुका था। व्यास ने यह कोशिश की कि वे सृष्टि के इतिहास का आरम्भ **प्रजापति** पिताओं से करें। लेकिन इस चेष्टा में उन्हें सफलता नहीं मिली। जिन मूल **प्रजापतियों** को सृष्टि के इतिहास का आरम्भ माना गया, उनकी वंशावली का नाम स्वयं माता के नाम पर रखना पड़ा। यद्यपि इतिहास का लेखक पुरुष था और उसका समाज नारी को दासी के रूप में बदल चुका था, फिर भी नारी सभी बंधनों को तोड़कर अपनी आदिम सत्ता की प्रतिष्ठा पर आरूढ़ रही। (जानकारी की आसानी के लिए हम उन अठारह माताओं और उनके मातृसत्तात्मक गोत्रों की सूची देते हैं, जिनके संघर्ष, विस्तार और विरोधों से **महाभारत** के **आदि पर्व** और **वेदों** के प्राचीन इतिहास परिपूर्ण हैं—देखिए परिशिष्ट १।)

सोमयाग संस्कार में **गण-गोत्र** के विभाजित होने और एक नये की स्थापना का वर्णन मिलता है। **सोमयाग** संस्कार की प्रथम विधि में प्राचीन मातृसत्ता की नारी-देवता अदिति को केन्द्र में स्थापित किया जाता है। उसकी स्थापना के द्वारा यह दिखाया जाता है कि **गण** के प्रथम विभाजन (**प्रयाणी-येष्टि**) का संकल्प किस प्रकार से किया जाता था। विभाजन के इस संकल्प की अनुमति पांच देवियां—**पथ्या-स्वस्ति**, अग्नि, सोम, सविता और अदिति देती थीं। **पथ्या-स्वस्ति** मार्ग में मंगल या कल्याण करनेवाली देवी है। दूसरी

वह अग्नि है जो गण-अग्नि से निकाल ली गयी है और जिसकी स्थापना नये स्थान पर होगी। सोम अन्न और अन्य आवश्यक वस्तुओं की देवी है। सविता सूर्य की और समय की देवी है। विभाजित **गण** की यात्रा में ये चार देवियां चार कोनों पर रहती थीं—जब कि सृष्टि की आदि-माता अदिति उन चारों के बीच में स्थान पाती थी। इस **यज्ञ** में केवल अदिति को ही चावल और **घी** का विशेष **हवन** दिया जाता था, जब कि अन्य देवियों को भूने हुए अन्न (**आज्य**) के **हवन** से ही संतुष्ट रहने कहा जाता था। परिवार के इतिहास को आप चाहे जैसे तोड़िये-मरोड़िये—मक्लेनन और उसके साथियों के समान पांडित्यदर्शी पूंजीवादी वकीलों की सहायता से आप पितृसत्ता की चाहे जैसी वकालत कीजिये और उसके पक्ष को सबल बनाइये, फिर भी आप इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि आदिम समाज का जन्म और उसका निर्माण मातृसत्ता द्वारा ही हुआ था।

यूथ विवाह अथवा **गोत्र** विवाह में भी एक प्रकार की स्थिर और थोड़े-बहुत समय तक चलनेवाली युग्मता थी। पुरुष अन्य स्त्रियों के अलावा एक नारी को अपनी प्रमुख पत्नी मानता था और वह पुरुष उस स्त्री के लिए अन्य पुरुषों के अलावा प्रमुख पति होता था। जैसे-जैसे **गण-गोत्र** समुन्नत होते हुए आगे बढ़ते गये तथा विवाह योग्य सम्बंधियों से विवाह करने का निषेध होता गया, वैसे-वैसे यूथ विवाह धीरे-धीरे कठिन से कठिनतर होता गया और इस प्रकार की स्वाभाविक युग्मता को भी जगह मिलती गयी। बाद में **युग्म-परिवार** ने गण-कुटम्ब का स्थान ले लिया। इस अवस्था में एक नारी के साथ एक पुरुष रहता था। नारी के पास पुरुष इस प्रकार से रहता था कि कभी वह बहुत सी पत्नियां भी रख लेता था और कभी दूसरे की पत्नी से भी सम्बंध कर लेता था। दोनों में से कोई भी एक वैवाहिक सम्बंध को सरलता से तोड़ सकता था और प्राचीन प्रथा के अनुसार सब सन्तानें माता को ही मिल जाती थीं।

आर्यों के जीवन में युग्म-परिवार के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। परवर्ती **स्मृतियों** में **गंधर्व** विवाह की अनुमति इस बात को सिद्ध करती है। विश्वामित्र और मेनका तथा दुष्यंत और शकुन्तला की कथा अत्यंत प्रसिद्ध है, जिसे यहां लिखने की आवश्यकता नहीं। जरत्कारु ऋषि एक युग्म-परिवार में रहते थे। वासुकी **गोत्र** की नाग-कन्या उनकी पत्नी थी। उन दोनों से कश्यप ऋषि की उत्पत्ति हुई थी। जनमेजय से जब नागों का युद्ध हुआ था, तो कश्यप ने नागों की रक्षा की थी। प्रसिद्ध पांडवों ने तो हर प्रकार के विवाह किये थे और परिवारों का निर्माण किया था। उन पांचों भाइयों ने द्रौपदी से विवाह किया जिसमें यूथ विवाह के चिन्ह वर्तमान थे। द्रौपदी पांचों भाइयों की एक प्रमुख पत्नी थीं। द्रौपदी स्वयं भी इसी तरह उत्पन्न हुई थीं। **महाभारत** में लिखा है कि

उनकी उत्पत्ति साधारण ढंग से (पति-पत्नी के संयोग) से नहीं हुई थी। उनके पिता द्रुपद ने कोई यज्ञ किया था जिसके कारण द्रौपदी अपने एक भाई के साथ वेदी पर अग्नि से* जन्मी थीं। पांडवों का यह बहुपति विवाह कोई अपवाद नहीं था। आज भी भारत के कुछ प्रदेशों में यह प्रथा प्रचलित है।[५] द्रौपदी पांडवों की प्रमुख पत्नी थीं। उसके अलावा प्रत्येक भाई के पास अलग-अलग पत्नियां भी थीं। हिडिम्बा तब तक भीम के साथ युग्म परिवार में रही थी जब तक उसके घटोत्कच नाम का पुत्र नहीं हो गया था। चित्रांगदा तब तक अर्जुन की पत्नी रही जब तक उसके एक लड़का नहीं हो गया। इन सब उदाहरणों में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार से उत्पन्न हुई सन्तानें माता के पास ही रहती थीं। और ये माताएं कुछ निश्चित काल के पश्चात अपने पति से स्वतंत्र हो जाया करती थीं।[६]

---

* कुमारी चापि पांचाली वेदी मध्यात्समुत्थिता। आदि पर्व, १८१-४५।

५. बहुपति विवाह के सम्बंध में बताते हुए एंगेल्स ने भारत और तिब्बत का नाम लिया है और इस बात की ओर संकेत किया है कि इसकी "यूथ-विवाह से उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए, जो सचमुच बड़ी दिलचस्प होगी, अभी और निकट से खोज करने की आवश्यकता है। इसमें शक नहीं कि व्यवहार में यह प्रथा, मुसलमानों के हरमों की प्रथा से, जहां ईर्षा का राज रहता है, अधिक आसानी से सहन की जा सकती है। कम से कम भारत के नायर लोगों में तो निश्चय ही तीन-तीन, चार-चार, या उससे भी अधिक संख्या में पुरुषों के पास केवल एक पत्नी होती थी; परन्तु इनमें से प्रत्येक पुरुष को अधिकार होता था कि वह चाहे तो तीन या चार अन्य पुरुषों के साथ एक दूसरी पत्नी रखे, और तीन या चार अन्य पुरुषों के साथ तीसरी या चौथी पत्नी रखे, और इस प्रकार अपनी पत्नियों की संख्या बढ़ाता जाय। आश्चर्य की बात है कि मक्लेनन ने इन विवाह-मंडलियों को, जिनमें से कई का पुरुष एक साथ सदस्य बन सकता था और जिनका मक्लेनन ने खुद वर्णन किया है, विवाह का एक नया रूप 'मंडली विवाह' नहीं समझा। परन्तु मंडली विवाह की यह प्रथा, वास्तविक बहुपति प्रथा नहीं है, बल्कि इसके विपरीत, और जैसा कि जिरो त्यूलों ने कहा है, यह यूथ-विवाह का एक विशेष रूप है, जिसमें पुरुषों की अनेक पत्नियां होती हैं और स्त्रियों के अनेक पति होते हैं।" ("परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति," पृष्ठ ८०)।

६. अपने पतियों द्वारा बहुपति विवाह की मर्यादा का भंग करना द्रौपदी को इसलिए सहना पड़ा था कि आदिम सामूहिकतवाद के साथ-साथ यूथ विवाह की परम्परा तेजी से मिट रही थी। इसलिए नारी को जो आजादी सामाजिक सामूहिम परिश्रम द्वारा प्राप्त हुई थी और जिसके फल को पुरुष अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं बना सकता था, उसका नाश भी तेजी के साथ हो रहा था। इसीलिए द्रौपदी को जुए के दांव पर रखा जा सका और उन्हें पतियों द्वारा बेचा जा सका।

"रक्त सम्बंधियों के बीच विवाह पर प्रतिबंध बराबर बढ़ते जा रहे थे और उनके बढ़ने में प्राकृतिक चुनाव का भी हाथ था। मौर्गन के शब्दों में, भिन्न गोत्रों के गणों के बीच होनेवाले विवाहों से 'जो सन्तानें पैदा होती थीं, वे शरीर और मस्तिष्क दोनों से अधिक बलवान होती थीं। जब दो प्रगतिशील कबीले मिलकर एक जाति बन जाते हैं... तो एक नयी खोपड़ी और मस्तिष्क की उत्पत्ति होती है जिसकी लम्बाई-चौड़ाई दोनों की योग्यताओं के योग के बराबर होती है।' अतएव गणों के आधार पर जो कबीले बनते हैं, वे अधिक पिछड़े हुए कबीलों से आगे निकल जाते हैं, या अपने उदाहरण के द्वारा उनको भी अपने साथ-साथ खींच ले चलते हैं।

"इस प्रकार प्रागैतिहासिक काल में परिवार का विकास इसी बात में निहित था कि वह दायरा अधिकाधिक सीमित होता जाता था, जिसमें पुरुष और नारी के बीच वैवाहिक सम्बंध की स्वतंत्रता थी। शुरू में, पूरा कबीला इस दायरे में आ जाता था। लेकिन बाद में, पहले इस दायरे से नजदीकी सम्बंधी धीरे-धीरे निकाल दिये गये, फिर दूर के सम्बंधी अलग कर दिये गये, और अन्त में तो उन तमाम सम्बंधियों को भी निकाल दिया गया जिनका केवल विवाह का सम्बंध था। इस तरह अन्त में हर प्रकार का यूथ-विवाह व्यवहार में असंभव बना दिया गया। आखिर में केवल एक, फिलहाल बहुत ढीले बंधनों से जुड़ा, जोड़ा ही बचा, जो एक अणु की भांति होता है, और जिसके भंग हो जाने पर विवाह की प्रथा ही पूरी तरह नष्ट हो जाती है। इसी एक बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि एकनिष्ठ विवाह की उत्पत्ति में, आधुनिक अर्थ के व्यक्तिगत प्रणय का कितना कम हाथ रहा है। इस अवस्था में लोगों का क्या व्यवहार रहता है, यह देखिये तो इसका एक और सबूत मिल जाता है। परिवार के पुराने रूपों के अन्तर्गत पुरुषों को कभी स्त्रियों की कमी नहीं होती थी, बल्कि जरूरत से ज्यादा स्त्रियां उनके पास हुआ करती थीं, लेकिन अब उसके विपरीत, स्त्रियों की कमी होने लगी और उनकी तलाश की जाने लगी। अतएव युग्म-विवाह के साथ-साथ स्त्रियों को भगाना और खरीदना शुरू होता है—ये बातें अपने से कहीं अधिक गंभीर परिवर्तन की सूचक मात्र हैं, जो बहुत व्यापक रूप में दिखायी पड़ती हैं, पर इससे अधिक जिनका महत्व नहीं है।..."

(एंगेल्स, **परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति**, पृष्ठ ६०—६१)

प्राचीन **वैदिक** सम्प्रदाय की परम्परा में इस प्रकार के व्यवहार को व्यक्त करने की आशा नहीं की जा सकती। लेकिन महाकाव्य के युग में इस प्रकार के अनेक व्यवहारों को हम लेखबद्ध पाते हैं। कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण, अर्जुन द्वारा सुभद्रा का हरण, अनिरुद्ध द्वारा उषा का हरण, प्रद्युम्न द्वारा प्रभावती (निकुंभ के भाई वज्रनाभ की पुत्री) का हरण और निकुंभ द्वारा भानुमती का हरण इस व्यवहार के बहुत प्रसिद्ध उदाहरण हैं। इसी अवस्था में **पैशाची** विवाह और प्रसिद्ध **स्वयंवर** विवाह की प्रथा भी चली थी। बहुत से साहसी युवक वीरतापूर्ण कार्यों और पत्नियों की खोज में निकल पड़े थे। इससे नारियों को भी देश के सबसे वीर और पराक्रमी पुरुष मिल जाते थे।

एंगेल्स ने कहा कि "जिस प्रकार यूथ विवाह जांगल युग की विशेषता है और एकनिष्ठ विवाह सभ्यता के युग की, उसी प्रकार परिवार का यह रूप, यानी युग्म-विवाह बर्बर युग की विशेषता है।"

इस युग्म-विवाह अथवा परिवार को आगे बढ़कर दृढ़ एकनिष्ट विवाह और परिवार में विकसित होने के लिए समाज में एक बिलकुल नये तत्व की जरूरत थी—और वह तत्व व्यक्तिगत सम्पत्ति था। हम जानते हैं कि एकनिष्ठ विवाह या परिवार में पुरुष, नारी का शासक होता है, और पति के एकत्व की रक्षा नारी को ही करनी पड़ती है। युग्म-परिवार में आते-आते यूथ अपनी अंतिम इकाई तक कम हो चुका था—जैसे अणु, परमाणु बन गया हो। एक नर और नारी ही अवशेष रह गये थे। जातिगत विवाह के दायरे को लगातार कम करने में प्राकृतिक चुनाव ने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया था। इस युग्म परिवार व्यवस्था से तब तक किसी दूसरी नयी पारिवारिक व्यवस्था का जन्म नहीं हो सकता था, जब तक कि समाज में नयी सामाजिक शक्तियों का उदय न हो जाय। सम्पत्ति, पिता के अधिकार और वर्ग शासन-सत्ता का आविर्भाव नयी सामाजिक शक्तियां थीं। युग्म परिवार ऐतिहासिक दृष्टि से विकास की वह सीमा थी जहां से व्यक्तिगत सम्पत्ति के साथ-साथ एकनिष्ठ परिवार का जन्म हो सकता था। इस नयी व्यवस्था का जन्म बर्बर युग के सामूहिकतावाद और साम्य संघ के खंडहर पर हुआ था।

यहां पर आर्य राष्ट्र के परवर्ती विकास को मानते हुए, हम आसानी के लिए यह कह सकते हैं कि एकनिष्ठ "परिवार, परिवार का वह पहला रूप था जो प्राकृतिक कारणों पर नहीं, बल्कि आर्थिक कारणों पर आधारित था—यानी जो प्राचीन काल की प्राकृतिक ढंग से विकसित सामूहिक सम्पत्ति के ऊपर व्यक्तिगत सम्पति की विजय के आधार पर खड़ा हुआ था। उसका उद्देश्य केवल यह था कि परिवार पर पुरुष का शासन रहे और ऐसे बच्चे पैदा हों जो केवल उसकी अपनी सन्तानें हों और जो उसकी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी

बन सकें।" (एंगेल्स।) वर्गों में विभाजित समाज में एकनिष्ठ परिवार का यही उद्देश्य था (इसका भावी वर्गहीन समाज में दूसरा रूप होगा)। एकनिष्ठ विवाह के इस स्पष्ट और कठोर अर्थ को आर्यों के शास्त्रकारों और लेखकों ने न छिपाया। उनके लिए पत्नी के सतीत्व की भावना बहुत मुख्य समस्या नहीं थी। अगर वे स्वयं अपनी पत्नी से सन्तान उत्पन्न नहीं कर पाते थे, तो जिससे भी संभव हो सकता था, वे सन्तान उत्पन्न करवाते थे—जो उनकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होती थी। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने **नियोग** (दूसरे के संयोग से सन्तान की उत्पत्ति) पद्धति का सहारा लिया था। अपनी पत्नी के साथ यह **नियोग** परिचितों से, दक्षिणा देकर ब्राह्मणों से, बनवासी **ऋषियों** से या और भी किसी अन्य से कराया जाता था। विचित्रवीर्य की पत्नियों के साथ व्यास ने **नियोग** किया था। अगर यह न हुआ होता तो भारत के इतिहास में "महान और आदर्श" पांडवों का नाम न आया होता। बाली की पत्नी के साथ दीर्घतमा का **नियोग** हुआ था। शरदांडायन की पत्नी ने राह चलते एक ब्राह्मण के साथ **नियोग** किया था। पांडु की पत्नियों के साथ **ऋषियों** ने **नियोग** किया था—यद्यपि बाद के इतिहास में बेचारे स्वर्ग के देवताओं को, भूमि के **ऋषियों** के इस कर्म पर परदा डालने के लिए बुलाया गया था। व्यक्तिगत सम्पत्ति के युग या **कलियुग** के शास्त्रकारों ने, चूंकि वे युग्म-परिवार के यथार्थ के बहुत निकट थे, वर्गमय समाज के एकनिष्ठ विवाह के उद्देश्य को बहुत स्पष्टता से बताया है। **कलियुग** के वर्गमय समाज के शास्त्रकार मनु, **धर्म** (कृतयुग) के समूहवाद और **द्वापर** के **मैथुन** या युग्म-परिवार को हटाकर कहते हैं कि पुरुष को स्त्री की रक्षा करने की कोशिश करनी चाहिए, जिससे कि अपनी **प्रामाणिक** और शुद्ध सन्तानों का जन्म हो सके।* सन्तान उत्पन्न करने के साधन बनने में ही नारी का मूल्य है—यह विचार दासता, व्यक्तिगत सम्पत्ति और वर्ग शासन के युग में ही उठ सकता था। आदिम साम्य संघ में भी नारी सन्तान उत्पन्न करती है, लेकिन तब उसकी प्रतिष्ठा "महामाता" कह कर की जाती थी, पुरुष के साथ-साथ उसका भी अधिकार पूरी सम्पत्ति पर होता था, वह उस साम्य संघ को जन्म देनेवाली और उसकी नेता होती थी। उसका मूल्य सिर्फ उसके लिंग के कारण ही नहीं था (जिस तरह से आधुनिक पतनशील पूंजीपतियों में किराये पर पत्नी रखने की प्रथा है), और न वह पशु-सम्पत्ति के समान बच्चे देनेवाली चल-सम्पत्ति ही मानी जाती थी।† एकनिष्ठ विवाह की इस नयी व्यवस्था में नारी

---

* प्रजाविशुध्यर्थम् स्त्रियम् रक्षेत् प्रयत्नतः। मनुस्मृति १३-९-९।

† प्रजनार्थम् महाभागाः पूजार्हा गृह दीप्तयः॥ मनुस्मृति ९-२६।
पुत्रार्थे क्रियते भार्या पुत्र पिण्ड प्रयोजनम्॥ मनु।

का सतीत्व आसानी से लौट आता था। **याज्ञवल्क्य** ने अपनी स्मृति में कहा है कि व्यभिचार द्वारा नष्ट हुआ सतीत्व या तो मासिक धर्म के स्नान के द्वारा या सन्तान उत्पत्ति के बाद लौट आता है।* सम्पति के निश्चित उत्तराधिकारी की प्राप्ति का उद्देश्य दैवी या अलौकिक माना जाता था। इसलिए विवाह में पत्नी पशु के समान मान ली जाती थी। आर्य विवाह की पद्धति में पत्नी के मूल्य के बदले एक गाय और एक बैल (**गोमिथुनम्**) देना पड़ता था। संस्कृत व्याकरण में भी नारी के नये मूल्य का निर्धारण उसके **समाहार द्वंद्व समास** के उदाहरण (**दारागवाम्**) "पत्नी और गाय" से ज्ञात हो जाता है। इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि पत्नी और पशु एक ही स्तर के प्राणी हैं। इस तरह की बात उत्पादन की सामूहिक प्रणाली में असंभव थी, क्योंकि उस व्यवस्था में नारी का सम्पति में अधिकार होता था।

"आदिम काल में आम तौर पर पायी जानेवाली स्त्रियों की सत्ता का भौतिक आधार वह साम्यवादी घराना था, जिसकी अधिकतर स्त्रियां और यहां तक कि सभी स्त्रियां एक गण की होती थीं और पुरुष दूसरे विभिन्न गणों (**गोत्रों**) से आते थे।" (एंगेल्स)। इस प्रकार के कुटुम्ब का आधार वही समाज हो सकता था जिसमें उत्पादनों और उत्पादन के साधनों पर सामूहिक अधिकार हो और जिसमें नारी का श्रम उतना ही महत्वपूर्ण सामाजिक श्रम माना जाता हो जितना कि पुरुष का माना जाता है। पुरुष युद्ध में जाता था, शिकार करता था, मछली पकड़ता था, भोजन के लिए कच्ची सामग्री का प्रबंध करता था और उनका प्रबंध करने के लिए औजारों का निर्माण करता था। नारी गृह का निर्माण और उसका प्रबंध करती थी तथा साम्य संघ के लिए भोजन और वस्त्र तैयार करती थी। साम्य संघ में जिन औजारों का निर्माण और प्रयोग होता था, उन पर सामूहिक ढंग से नर और नारी दोनों का अधिकार था। शिकार और युद्ध (पशु-पालन) के औजारों पर नर का और घर की वस्तुओं पर नारी का अधिकार था। नर और नारी दोनों मिल कर **ब्रह्मन्** कहलाते थे। यह **ब्रह्मन्** ही साम्य संघ का स्वरूप था। **अर्ध-नारी-नटेश्वर** के आलंकारिक स्वरूप में उसी

---

* व्यभिचारात ऋतौ शुद्धिः गर्भे त्यागो विधीयते।। याज्ञवल्क्य स्मृति, १–७२।

एंगेल्स ने कहा है कि "एकनिष्ठ परिवार पुरुष की सर्वोच्च सत्ता पर आधारित होता है। उसका स्पष्ट उद्देश्य ऐसे बच्चे उत्पन्न करना होता है जिनकी वल्दियत के बारे में कोई विवाद न हो। यह इसलिए जरूरी होता है कि समय आने पर ये बच्चे अपने पिता के प्राकृतिक उत्तराधिकारियों के रूप में उसकी दौलत विरासत में पा सकें ...।"

("परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति," पृष्ठ ८१)

"महाभारत" के "अनुशासन पर्व" में अध्याय ४५–९ भी देखिए।

की स्मृति मालूम होती है। गण-गोत्र से अलग किसी उत्पादन या दूसरी विरोधी सत्ता का अस्तित्व नहीं था जिसमें नारी का सहयोग न होता हो। गण-गोत्र की उत्पत्ति ही नारी से हुई थी—उसके सगे सम्बंधी भी उसी नारी के रचे हुए थे। साम्य संघ का विस्तार जब बढ़ने लगा और उसमें से अनेक गण-गोत्र बाहर निकलने लगे, तब नारी ने ही उन गण-गोत्रों का परिचालन और नेतृत्व किया था। पुरातन अदिति की वह महान प्रतिनिधि थी। किन्हीं-किन्हीं स्थानों में वह काली मां के स्वरूप में भी प्रकट हुई। युद्ध और अन्न के, जिसके लिए युद्ध होता था, विषय को लेकर कोई भी सभा ऐसी नहीं होती थी जिसमें नारी न भाग लेती हो। इसलिए अगर प्राचीन पुरुष ने नारी को अलौकिक देवत्व से ढंक दिया था तो इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। हिन्दू धर्म कथाओं में अनेक नारी-देवताओं का अस्तित्व उनकी प्राचीन गौरवमयी सत्ता की साक्षी है—उन कथाओं में उस युग की नारी का वर्णन है जिसका अन्त उत्पादन की **यज्ञ** प्रणाली और **ब्रह्मन्** के साथ-साथ हो चुका था। **तैत्तरीय ब्राह्मण** (१-१-४) में निस्संकोच यह माना गया है कि नारी **यज्ञ** की महान पद्धति को जन्म देनेवाली थी। **सुर**, **असुर** और मनु अथवा मनुष्य इस पद्धति के ज्ञाता थे। मनु की पुत्री और पत्नी इड़ा (इला ?) यह देखने गयी थी कि **सुर** और **असुर** किस प्रकार से **यज्ञ** करते हैं। उसने यह देखा कि उनकी **यज्ञ** पद्धति और साथ ही साथ मनु की **यज्ञ** पद्धति में दोष है। वह मनु के पास गयी और उसने मनु को बताया कि वे इड़ा की बतायी हुई **यज्ञ** पद्धति का अनुकरण करें जिससे कि उत्पादन में वृद्धि हो। मनु ने उसकी इच्छा के अनुसार **यज्ञ** की अग्नि को दुबारा स्थापित करने कहा। फलस्वरूप मनु-मनुष्य ने अधिक मात्रा में **प्रजा** और **पशु** का लाभ किया।

इसी प्रकार से आदिम साम्य संघ अपने उत्पादन, अपने **गण-गोत्र** विवाह और परिवार का संगठन करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करता था। अगर तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो वे दरिद्रता की ही अवस्था में रहते थे, फिर भी उनके अन्दर परस्पर युद्ध या गृहयुद्ध नहीं होते थे। **ब्रह्मन्** का प्रसार हो रहा था, और वह दुनिया में स्थान-स्थान पर फैल गया था। वह उनके विरुद्ध, जो प्रगति में बाधक बनते या उस पर आक्रमण करते थे, युद्ध भी करता था।

इस अवस्था में **गृहयुद्ध** तो नहीं होते थे, लेकिन **गणों** के बीच आपस में युद्ध हो जाया करते थे। इसलिए अब हम यह देखेंगे कि प्रगति की ओर बढ़ते हुए **गण** अपने युद्धों और उनसे मिली सम्पत्ति का प्रबंध किस प्रकार करते थे? किस तरह से समुन्नत होते हुए श्रम के फल और विनिमय के द्वारा **गणों** की वर्ग-हीनता का नाश हो गया था और उसका स्थान वर्ग शासन-सत्ता, व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्पादन की नयी पद्धति ने ले लिया था? जांगल और बर्बर से लेकर सभ्यता तक, **कृत-त्रेता** से लेकर **द्वापर-कलि युग** तक यह विकास कैसे हुआ?

सातवां अध्याय

गण युद्धों का संगठन और युद्ध-सम्पत्ति का प्रबंध; अश्वमेध, पुरुषमेध और दानम्

अभी तक हमने **गण** साम्य संघ के आर्थिक और रक्त से सम्बंधित सम्बंधों का अध्ययन किया है। अब हम यह देखेंगे कि आर्थिक और कुल-सम्बघी नियमों की बाध्यता से **गण** का एक अंश अलग होकर नये साम्य संघ की स्थापना करने के लिए अपने मूल स्थान से दूसरे स्थानों में कैसे जाता था? **गणों** को अपने जीवन काल में अपने चारों ओर फैले हुए शत्रु-कबीलों से युद्ध करना पड़ता था। इसलिए ये युद्ध भी **गण** जीवन की दृष्टि में अत्यंत महत्वशाली होते थे। आर्यों के **गणों** के विकास में इन युद्धों का परिचालन, और उसमें मिली सम्पत्ति का प्रबंध बहुत महत्वपूर्ण वस्तुएं हैं। हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि यह सब कैसे होता था? हम फिर एक बार **यज्ञ** के अध्ययन की ओर लौटते हैं।

जनसंख्या जैसे-जैसे बढ़ती गयी, वैसे-वैसे उत्पादन की दुर्बल और आदिम पद्धतियां बड़े समूहों को अपने में संगठित नहीं रख सकीं — जैसा कि आज उनके लिए संभव हो गया है। **गण-गोत्र** टूटने लगे और पूरे एशिया महाद्वीप के विभिन्न स्थानों में फैलने लगे। जिन स्थानों पर कोई नहीं रहता था, वहां उन्होंने अपना अधिकार जमाया और जहां पर दूसरे लोग थे, वहां अधिकार जमाने के लिए युद्ध भी किया। आर्थिक आवश्यकताओं और सगे सम्बंधियों के आपसी विवाह पर निषेधों के कारण, जिनका वर्णन पिछले अध्याय में किया गया है, **गण-पुत्रों** को अपना मूल स्थान छोड़कर दूसरे स्थानों में यात्रा करनी पड़ी थी। **गण-पुत्रों** की इस यात्रा की विधि को **यज्ञ** पद्धति में स्पष्टता के साथ बताया गया है।

हरिवंश पुराण के अनुसार असिक्नी **गोत्र** में पांच हजार सन्तानें थीं। दूसरे शब्दों में वे साम्य संघ की सामूहिक सन्तानें थीं। इन पांच हजार सन्तानों द्वारा जब और सन्तानों की उत्पत्ति का अवसर आया, तो साम्य संघ में आर्थिक संकट का भय उत्पन्न हो गया। उस समय नारद ने आकर उन लोगों से कहा

कि जब तक नये साम्य संघों की स्थापना करने के लिए वे यात्रा नहीं करेंगे, तब तक दरिद्रता और संकट दूर नहीं हो सकते, क्योंकि इतनी बड़ी जनसंख्या को पालने के लिए अन्न और उत्पादन की सामग्री उपलब्ध नहीं है। इस तरह से **गणों** का विच्छेद हो गया और उसका एक अंश बाहर निकलकर किसी अन्य स्थान में जा बसा। दक्ष **प्रजापति** ने असिक्नी के साथ एक हजार पुत्रों को और जन्म दिया। उन्हें भी उसी प्रकार किसी दूसरे स्थान पर जाकर बसना पड़ा।

इस तरह से नये स्थानों की खोज करना और नये **गणों** का निर्माण करना शान्तिपूर्ण और सीधा काम नहीं था। मानव जाति की उन्नति के लिए पृथ्वी के अनगिनत अवरोधों को हटाना जरूरी था। मनुष्य जाति की शक्तियां बढ़ तो रही थीं, परन्तु प्रकृति की इन रुकावटों को हटाने के लिए यथेष्ट नहीं थीं। आर्यों को उपयुक्त स्थान खोजने के लिए भारत के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में घूमना पड़ता था। ऐसे ही प्राकृतिक अवरोधों में तेज बहती हुई नदियों की बाढ़ भी एक भीषण अवरोध थी। मनुष्य की प्रागैतिहासिक स्मृति के रूप में ही बाढ़ की ऐसी कथाएं सभी प्रमुख धार्मिक ग्रंथों में मिलती हैं। मनु की सभ्यता का नाश पानी की बाढ़ों (जल प्रलय) से हो गया था। लेकिन मनु को एक मछली ने बचा लिया और एक नाव के सहारे हिमालय के पास की भूमि पर वह आ उतरे थे। वहां पर उन्होंने फिर सृष्टि करना आरम्भ किया था। **बाइबिल** में भी ऐसी बाढ़ों की कथाएं—जैसे नोह का बेड़ा, आदि—लिखी मिलती हैं। पारसी धर्म की पुस्तक को **वेंदीदाद** कहते हैं। एक तरह से वह पारसियों के लिए **वेद** के समान ग्रंथ है। ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पहले इस ग्रंथ की रचना हुई होगी। उसके दूसरे भाग में यह लिखा मिलता है कि सोलह प्रदेशों में कबीले निवास करते थे। अपनी अधिक जनसंख्या को बाहर भेजने के अलावा अनेक कारणों से उन लोगों को वे स्थान छोड़ने पड़े और दूसरे प्रदेशों में जाकर बसना पड़ा। उस ग्रंथ में लिखा है—"अंगरा मैन्यु जल-प्रलय को भेजता था। अहुर मज्दा ने ऐरियन वैंजो के शासक यीम को बुलाया और उसे होशियार किया। अपने देश की सीमाओं को तीन बार विस्तृत कर यीम ने मनुष्यों को प्रसन्नता प्रदान की। उसके निवासियों के लिए वे सीमाएं बहुत संकुचित हो गयी थीं। अहुर मज्दा ने सोलह प्रदेशों का सृजन किया और अंगरा मैन्यु ने एक-एक करके उनको नष्ट कर किया।"[1] इन यात्राओं के विस्तृत वर्णन पर हम यहां ध्यान नहीं देंगे। हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि भौतिक साधनों की प्रगति ने किन समस्याओं को जन्म दिया और समाज ने उन समस्याओं को कैसे हल किया?

---

१. "आर्कटिक होम इन दि वेदाज" से उद्धृत।

गण-गोत्रों के विभाजन और प्रगति के कारण उत्पन्न इन प्रस्थानों की विधियों का अध्ययन करना कम मनोरंजक नहीं है। **अग्निष्टोम** और **षड्रात्र क्रतु** में इन विधियों को देखा जा सकता है। इन **यज्ञों** के बारे में इससे पहले भी हम लिख आये हैं। श्री कुन्ते ने अपनी पुस्तक **आर्य सभ्यताओं का अवस्थान्तर** में यह मत प्रकट किया है कि **अग्निष्टोम सोमयाग**—जो एक बहुत लम्बा **यज्ञ** है—आर्यों के प्रस्थानों की विधि को छोड़ और कुछ नहीं है। लेकिन हमारा मत है कि **अग्निष्टोम सोमयाग** केवल प्रस्थान-विधि ही नहीं है, बल्कि उसमें आर्यों के साम्य संघ के दिन-प्रति-दिन होनेवाले कार्य भी सम्मिलित हैं।

इस **यज्ञ** के अनुसार प्रस्थान के लिए वसन्त ऋतु चुनी जाती थी। इसी ऋतु में पशु अपने बच्चे देते थे और प्रकृति फूलों तथा फलों से भर जाया करती थी। प्रस्थान का दिवस या तो **पूर्णमासी** होता या **अमावस्या**। **अमावस्या** की पूरी रात तो अंधेरी होती थी, पर उसके बाद ही शुक्ल पक्ष आरम्भ हो जाता था। साम्य संघ के प्रतिष्ठित व्यक्ति या **ऋत्विज** अग्नि के चारों ओर खड़े होते थे और इस बात का निर्णय होता था कि कौन-कौन लोग किन यूथों में **गण** से बाहर निकलकर प्रस्थान करेंगे। जो लोग प्रस्थान के लिए निर्वाचित करते और निर्वाचित होते, उन्हें **दीक्षा** और नये वस्त्र दिये जाते थे। फिर विधि-कर्म में इस बात की नकल की जाती थी जिससे यह स्पष्ट होता था कि इन लोगों का, नये **गण** के पुत्रों के रूपों में, फिर से नया **जन्म** हो रहा है। नये **गण** को बसाने के लिए उन्हें सब सामग्री दी जाती थी—जैसे बर्तन, भांडे, पशु, बकरियां, आसव (शराब), अन्न, गाड़ी में लदा हुआ डेरा बनाने का सामान, आदि। दूसरी गाड़ी में **अग्नि** रखी जाती थी जिसकी स्थापना नये **गण** में होती थी। प्रस्थान के समय वे लोग सहभोज करते थे और आनन्द मनाते थे। पूरा साम्य संघ आनन्द से भोजन करता और सोमरस पीता था। जो लोग प्रस्थान करते थे, वे सहयोगी और निष्पाप होने की सौगंध लेते थे और अपने मूल **गण** से प्रस्थान कर देते थे। **राक्षसों** और जंगली जन्तुओं से लड़ने के लिए वे पूरी तरह से हथियारबंद होते थे।

वे कितने दिनों तक चला करते थे? और कब, किस स्थान पर ठहरते थे? इस बात का कुछ पता हमें लग सकता है—अगर हम **षड्रात्र क्रतु** अथवा **सारस्वत सत्र** का अध्ययन करें। उन दिनों भूमि का विभाजन न तो व्यक्तिगत आधार पर हुआ था और न शासन-सत्ता ने ही देशों की सीमाओं को बांध दिया था। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि किस प्रदेश की विशेष भूमि की ओर योजना बनाकर वे प्रस्थान करते थे। प्रस्थान करते हुए नये **गण** के लिए यात्रा की दिशा, दूरी और जगह दूसरी बातों से तय होती थी। **सारस्वत सत्र** में यह दिखाया जाता है कि जब नया **गण** प्रस्थान करता था, तब **अध्वर्यु**, **शमी** के

दण्ड (जिसमें अग्नि छिपी रहती थी) को लेकर आगे-आगे चलता था और एक दिन की यात्रा के बाद जो स्थान मिलता था, उसे डेरा डालने के लिए चुन लिया जाता था। **यज्ञ** पद्धति के अनुसार वहां आराम कर वे फिर अपनी यात्रा पर आगे बढ़ते थे। प्रस्थान करनेवालों को दस गायें और एक सांड आरम्भ में दिये जाते थे। वे तब तक यात्रा करते थे जब तक सौ गायों को पालने लायक चरागाह नहीं मिल जाती थी। **गण** को ऐसे स्थान की खोज करनी पड़ती थी जहां पर इतनी जगह या सामग्री मिल सके जिसमें सौ गायों, कुछ सांडों और सौ या दो सौ भेड़ों और बकरियों के आधार पर रहनेवाली एक जनसंख्या आसानी से रह सके। (बाद में जब श्रम की उत्पादन शक्ति बढ़ती गयी, तो गायों की यह सीमा एक हजार गायों तक बढ़ती हुई मालूम होती है। संभवतः, उससे यह भी मालूम होता है कि छोटे-छोटे नगरों का भी जन्म होने लगा था और **गण** पद्धति शिथिल होती जा रही थी।) अत्यंत प्राचीन साम्य संघ में, जिसमें सौ गायें रहती थीं, उनकी जनसंख्या क्या रही होगी ? इसके विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। लेकिन हम अनुमान कर सकते हैं। जैसा हम पहले देख चुके हैं कि आर्ष विवाह के अनुसार एक पत्नी, एक गाय और एक सांड के बराबर मानी जाती थी। अगर एकनिष्ठ विवाह में एक पत्नी या एक स्त्री एक परिवार में रहती थी, तो हम यह कह सकते हैं कि **देवसत्र** के अनुसार ऐसे एक **गण** में ज्यादा से ज्यादा एक सौ परिवार हो सकते थे। मनु ने अपनी स्मृति के एक अध्याय में **कलियुग** के न्यायालयों में गवाही देने के नियमों का वर्णन किया है। मनु यह कहते हैं—जो एक अद्भुत विचार सा लगता है—कि यदि कोई किसी गाय के बारे में झूठी गवाही देता है, तो वह दस सम्बंधियों की हत्या करने के बराबर पाप करता है। मनु के समय में आदमी को दास के रूप में बेचने का मूल्य गिर गया था। साम्य संघ व्यवस्था के समय आदमी का मूल्य इतना गिरा हुआ नहीं था, क्योंकि तब दास प्रथा नहीं थी। इन सब कारणों से ऐसा लगता है कि **गण** की जनसंख्या पांच सौ से अधिक नहीं हो सकती थी। कुछ भी हो, इस बात का सीधा सम्बंध हमारे विषय से नहीं है, फिर भी हमने यह दिखाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार उत्पादन प्रणाली की व्यवस्था जनसंख्या की एक सीमा निश्चित कर देती थी।

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि धन और स्थान की खोज में **गण** किसी रोग, मृत्यु अथवा शत्रु से नष्ट कर दिया जाता था। इस प्रकार मनुष्यों के नष्ट होने के कारण जब **गण** दुर्बल होने लगता था, तो उसमें जीवन डालने के लिए या तो वह दूसरे **गण-गोत्रों** से व्यक्तियों को लेकर अपने में मिला लेता था, या स्वयं ही किसी दूसरे **गण** में शामिल हो जाया करता था। उन दिनों सम्वाद पहुंचाने के साधन बहुत कम थे। दूर-दूर पर बसे हुए जन-समूहों के

बीच दिन-प्रति-दिन के जीवन में मेल-जोल एक तरह से असंभव ही था। इसलिए विभिन्न **गण-गोत्रों** और कबीलों ने अपनी-अपनी छोटी भाषाओं को शीघ्र ही विकसित कर लिया था। कुछ ही समय के बाद **गण** की अपनी मूल भाषा से वे भाषाएं एकदम भिन्न दिखायी देने लगती थीं। लेकिन नये कबीलों और **गणों** की भाषाएं बहुत अंशों में मिली-जुली भी होती थीं। संस्कृत व्याकरण ऐसी विशेषताओं से भरी पड़ी है और व्याकरण के वे विद्वान जिनके पास सामाजिक इतिहास का ज्ञान नहीं है, इन विशेषताओं को समझाने की असफल चेष्टाएं करते हैं। उदाहरण के लिए हम व्याकरण के महाविद्वान पाणिनि को लें। **अस्मद्** (मैं) और **युष्मद्** (तुम) सर्वनामों के सात कारकों में बननेवाले इक्कीस रूपों के विषय को लेकर तेईस नियम उन्होंने बनाये हैं। इसका अर्थ हुआ कि वे कोई नियम नहीं हैं। भाषा की इन विशेषताओं को **गण** और कबीलों के मिश्रण या संयोग के द्वारा ही समझा जा सकता है। ऐसा नहीं माना जा सकता कि समय के साथ-साथ ये रूप विकृति या परिवर्तन द्वारा बनते गये, क्योंकि पुरुषवाचक सर्वनाम इतनी सरलता से नहीं बदला करते।[२]

जब किसी परजन (दूसरे व्यक्ति को) या उसके समूह को किसी **गण** में सम्मिलित किया (दत्तक लिया) जाता था, तो उसे **यज्ञ** विधि-कर्म के अनुसार **व्रत्यस्तोम** (व्रत्यष्टोम) कहते थे। जिस प्रकार परवर्ती युग में एकनिष्ठ परिवार में व्यक्तिगत सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाने के लिए दत्तक लिया जाता था, उससे यह परिग्रह (दत्तक लेना) भिन्न होता था। यह इसी बात से स्पष्ट है कि जिसे **गण** में शामिल किया जाता था, वह किसी व्यक्तिगत परिवार का सदस्य नहीं होता था, क्योंकि **गण** परिवार के अस्तित्व काल में कहीं पर व्यक्तिगत परिवार की सत्ता नहीं थी। **यज्ञ** कर्म-कांड के द्वारा केवल परजन (अपरिचित) को ही **गण** में सम्मिलित किया जाता था, जो सगा सम्बंधी

---

२. इस समस्या को श्री राजवादे ने हल कर दिया था। उन्होंने जिस मूल शब्द का पता लगाया, वह पाणिनि के शब्द से बिलकुल भिन्न है।

इरोक्वा जाति के विषय में एंगेल्स कहते हैं :

"हर कबीले की अपनी एक खास बोली होती है। बल्कि सच तो यह है कि कबीला और बोली काफी हद तक सह-विस्तारी होते हैं। अमरीका में विभाजन के द्वारा नये कबीलों और बोलियों का बनना अभी हाल तक जारी था, और अब भी वह एकदम बन्द तो नहीं ही हो गया होगा। जब दो दुर्बल कबीले मिलकर एक हो जाते हैं, तो अपवाद स्वरूप कभी-कभी यह देखने को भी मिलता है कि एक कबीले में दो बहुत घनिष्ठ रूप से सम्बंधित बोलियां बोली जाती हैं। अमरीकी कबीलों में औसतन २००० से कम लोग होते हैं।" ("परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति," पृष्ठ १२४)

नहीं होता था। **गण** में सम्मिलित हो जाने के बाद वह **गण** के सम्बंधों में बंध जाता था और साम्य संघ के आर्थिक और सामाजिक जीवन का एक अंग मान लिया जाता था। इस प्रकार मृत्यु से उसकी रक्षा हो जाती थी। उन दिनों प्रत्येक अपरिचित व्यक्ति के भाग्य में नष्ट होना ही लिखा होता था, क्योंकि दूसरे **गण** के लोग उसे अपना सम्बंधी नहीं समझ सकते थे। इसलिए उसे वे शत्रुवत मानने पर बाध्य थे। ऐसे अपरिचितों को जब वे अकेला पाते थे, तो सीधे-सीधे मार डालते थे।

प्रस्थान करते हुए **गणों** को चरागाहों—और ऐसा स्थान जहां पर वे पशु-धन की वृद्धि कर सकें—को खोजने के दरम्यान शत्रु **गणों** से युद्ध करना पड़ता था। **देव-गण** द्वारा लड़े गये ऐसे युद्धों का वर्णन **ऋग्वेद** में अनेक स्थलों पर किया गया है। **महाभारत** के **आदि पर्व** में, वंशावली की कथाओं और धार्मिक कथाओं की सृष्टि विषयक कहानियों में विभिन्न **गणों** के बीच अविराम चलते हुए युद्धों का वर्णन है। यह युद्ध अदिति, वसु, रुद्र, द्यौस, दिति, आदि **गणों** के बीच चला करता था। इनमें बहुत से युद्धरत प्राचीनतम **गण** ऐसे हैं जिनका नाम उनकी माता के अनुसार है। परन्तु वे युद्ध जो **ऋग्वेद** के काल में हुए—विशेषतया वह युद्ध जो उन दस राजाओं के बीच में हुआ था, जिनका नाम सुदास और दिवोदास के अनुरूप पड़ा था—पितृसत्ता के आधिपत्य में आये **गणों** के युद्ध थे। स्पष्ट रूप से ये युद्ध उस समय हुए थे, जब माता के आधिपत्य को उखाड़ फेंका गया था और पितृसत्ता की व्यवस्था व्यक्तिगत सम्पत्ति, दासता और वर्ग-संघर्ष की ओर अग्रसर हो रही थी। लेकिन पितृसत्ता तक के युग में जितने युद्ध होते थे, उनकी यह विशेषता थी कि वे युद्ध एक **गण** के दूसरे के साथ या एक **गण-समूह** के दूसरे **समूह** के साथ होते थे। उनकी दूसरी विशेषता यह थी कि ये युद्ध पशु, जल तथा चारागाह के लिए होते थे। तीसरी विशेषता यह थी कि आर्यों के शत्रु भी, जो असुर, दैत्य, राक्षस, तथा अहि और दास कहलाते थे, **यज्ञ-प्रणाली** के **गोत्र** संगठनों में रहते थे। यह यथार्थ इस बात से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनका वर्णन करते हुए यह दिखाया गया है कि वे अपनी **अग्नि** से **यज्ञ** तो करते थे, पर "गलत पद्धति" से करते और गलत **मंत्र** पढ़ते थे। इसलिए जो फल उन्हें मिलता था, वह भी गलत होता था। परन्तु ऐसा मत देवों का था। चौथी विशेषता यह थी कि युद्ध के परिचालन से और लूट में मिली हुई वस्तुओं का प्रबंध या वितरण विशेष रूप से **गण** पद्धति के अनुसार होता था। जीत की सम्पत्ति को न तो एक वर्ग आत्मसात कर सकता था और न वर्ग शासन-सत्ता की भाड़े पर रखी हुई फौज और उसके नायक ही उसे अपने अधिकार में कर सकते थे, जैसा कि परवर्ती काल में एक वर्ग के शासन में होने लगा।

हम यह नहीं जानते कि कहां पर और कितने समय तक ये **गोत्र** अथवा **गण**, जो अपनी उत्पत्ति समान माताओं दिति, अदिति, दनु, वसु, कद्रु, विनता, भानु तथा अन्य नारियों से मानते थे और आदिम साम्य संघ की व्यवस्था में रहते थे, आर्यों के इतिहास और युद्धों में सम्मिलित हुए थे। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वे **गण** साम्य संघ में रहते थे, जिनका आधार उत्पादन की सामूहिक पद्धति थी। यद्यपि प्रचलित धर्म-कथाओं में इन देवताओं को अमरता, सर्व-व्यापकता, विश्व को रचने और ध्वंस करने की शक्ति सौंप दी गयी थी, फिर भी यह बात कि मनुष्य की ही तरह का उनका अस्तित्व था, न तो छिपा हुआ था और न भूला ही जा सका था। **अथर्ववेद** में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि देवता मरणशील हैं।[3] उसी प्रकार से **शतपथ ब्राह्मण** उनको मरणशीलों के वर्ग में रखता है, और **एतरेय ब्राह्मण** भी इन्द्र, अग्नि और प्रजापति को मरणशीलों की कोटि में गिनता है।

वे केवल मरणशील जीव ही नहीं हैं, वरन यह बात विशेष रूप से कही गयी है कि उनका सामाजिक संगठन **गण** रूप में था। वसु कबीले के आठ **गण**, रुद्र के ग्यारह, मरुत् के इक्कीस, आदित्य के बारह तथा ऋभुस् के तीन **गण** थे, आदि। देव-**गणों** का विभाजन होता रहा और वे अनेक **गोत्रों** में फैलते गये। समय बीतने के साथ-साथ वे सगे-सम्बंधों से इतने दूर होते गये और उनकी उपभाषाएं इतनी भिन्न होती गयीं कि आपस में वे एक-दूसरे के शत्रु हो गये। फिर वे पशु और धन के लिए परस्पर युद्ध करने लगे। इस प्रकार के शत्रु **गण** पुरदेव, मुरदेव, शिश्नदेव, शूरदेव, आदि थे। **ऋग्वेद** में देव-**गण** और पणिस् के बीच एक बड़े युद्ध की ओर संकेत किया गया है। पणिस् ने देव-**गण** की गायों को चुरा लिया था। इस युद्ध में देव-**गण** का नेतृत्व करनेवाली एक नारी थी जिसका नाम सरमा था। देवों को वह नदियां और जंगल पार कराती हुई ले गयी थी और पणिस् को उसने खोज निकाला था। तब युद्ध शुरू हुआ। देव और असुर युद्ध के बारे में धर्म-कथाओं में यह मत भी दिया गया है कि कभी ये दोनों एक ही **गण** के सदस्य थे।

यह हम पहले देख चुके हैं कि शान्ति-कालीन अर्थ व्यवस्था में साम्य संघ के प्रमुख कार्य करनेवालों को **अध्वर्यु** तथा **होता** कहा जाता था। **गण** संघ में ये प्रमुख काम करनेवाले आधुनिक अफसरों की भांति नहीं होते थे। आधुनिक वर्ग शासन के अफसरों की भांति वे विशेषाधिकारी, पद से न हटाये जाने योग्य, समाज में उच्च स्थान प्राप्त और वेतन पानेवाले वैसे अधिकारी नहीं होते थे, जिनका काम शोषक वर्ग के मुनाफे के लिए उत्पादन का परिचालन करना होता

---

३. अथर्ववेद : ११-५-१६, ४-११-६।

है। वे स्वयं उत्पादन करनेवाले होते थे। साम्य संघ के श्रम का परिचालन करने के लिए उन्हें चुना जाता था। जब तक सम्पत्ति के वितरण में भेद नहीं पड़ गया, तब तक सामाजिक उत्पादन में से वे सभी सदस्यों की ही भांति बराबर का भाग पाते थे।

जैसा शान्ति-कालीन अर्थ व्यवस्था में होता था, वैसा ही युद्ध-कालीन अवस्था में भी। कई मामलों में अन्न का उत्पादन और युद्ध एक वस्तु के द्योतक हो जाया करते थे। यह समानता यहां तक हो जाती थी कि संस्कृत भाषा का एक शब्द "**गविष्टि**" का अर्थ **युद्ध** भी है और गायों को पाने के लिए एक छोटा **यज्ञ** भी। साम्य संघ का पूरा संगठन हरियारबंद होता था। उस युग में कोई श्रम-विभाजन या सामाजिक विभाजन नहीं हुआ था, इसलिए पूरे साम्य संघ को युद्ध में भाग लेना पड़ता था—यद्यपि पुरुष ही इन युद्धों में लड़ते थे। प्राचीन समय में स्वभावतया वही विशेष व्यक्ति, जो **अध्वर्यु** बनकर **यज्ञ** का परिचालन करता था, युद्ध का भी परिचालन करता था। कारण स्पष्ट है कि उन दिनों में प्रारम्भिक आर्यों के बीच हम कोई ऐसा विभाजन नहीं पाते जिससे युद्ध के परिचालन या शान्ति व्यवस्था के परिचालन में भेद किया जा सके, जैसा कि बाद के युग में क्षत्रिय **राजन्** और ब्राह्मण **पुरोहित** के बीच हुआ था। इसलिए प्राचीनतम युग में हम **ब्रह्मन्** के नेता और विख्यात योद्धाओं के रूप में ब्राह्मणों को पाते हैं। यह **ब्रह्मन्** पहले सामूहिक संगठन में बंधा हुआ था, बाद में इन ब्राह्मणों का विशेष काम केवल **यज्ञ** सम्पन्न करना ही रह गया था।

जिस तरह बर्बर युग में रहनेवाले सभी जातियों के लोग हर सामूहिक क्रियाशीलता, वस्तु या वातावरण को देवत्व सौंप देते थे और धार्मिक अनुष्ठान की प्रतिष्ठा उन्हें देते थे, उसी तरह आर्य लोग भी करते थे। जब **ब्रह्मन्** या **गण** साम्य संघ किसी को अपने युद्ध का परिचालक या नेता चुनता था, तो वह **ब्रह्मणस्पति**, **बृहस्पति** और **गणपति** हो जाया करता था। असुरों के विरोध में युद्ध करते समय देवताओं को मंत्रणा देनेवाला सबसे अधिक योग्य और विद्वान व्यक्ति **बृहस्पति** कहलाता था। हिन्दुओं में **गणपति** आज भी देवता के रूप में वर्तमान है, जिनका आवाहन हर काम के आरम्भ में किया जाता है। इन तीनों नामों का अर्थ मुख्य व्यक्ति या सरदार है, जो साम्य संघ का नेतृत्व करता था और युद्ध तथा शान्ति की अवस्था में अपने **गण** संघ को आगे ले जाता था। **गण** संघ के प्रतिनिधि और नेता होने के कारण साम्य संघ अपने सामूहिक उत्पादन में से उनको **हवि** (यज्ञ भाग) देता था, जिससे वे जीवित रहते थे। उनका आवाहन इसलिए किया जाता था कि वे शत्रुओं का नाश कर **गण** संघ को सम्पदा की ओर ले जायें। **गणपति अथर्व शीर्ष** में **गण**

के प्रतिनिधि या नेता का वर्णन लिखा मिलता है। वे लाल रंग का वस्त्र पहनते थे, उनके पास एक पाश होता था (रस्सी का वह फंदा जिसे वे दुश्मन पर फेंकते थे और फंदे में फंसाकर उसे मार डालते थे — अनु.)। उनके पास तीन नोकों का एक त्रिशूल या भाला तथा हाथी का एक बड़ा दांत होता था, जिनसे वे अपने शत्रुओं से लड़ते थे। युद्ध के बाद जब **गण** अपने शत्रु को हरा देते थे, तब पराजित शत्रु के पशुओं तथा अन्य धनों पर वे अधिकार कर लेते थे; नारियों और बच्चों को पकड़ लेते थे तथा युद्ध के पुरुष बंदियों को बांधकर वे सब लोग अपने **गण** निवास में लौट आते थे।

अब **गणपति** को एक काम और करना पड़ता था। युद्ध के बाद मिली सम्पत्ति किसी व्यक्ति की न होकर पूरे **गण** की सम्पत्ति होती थी। ऐसी सामग्री का, जिसका उपभोग सब लोग कर सकते थे, वितरण कर दिया जाता था। **गण** के लोग केन्द्र में स्थित ऊंचे आसन (**असन्दि**) पर बैठने के लिए और धन का वितरण करने के लिए अपने **गणपति** का आवाहन करते थे। इस अवसर पर सहभोज होता था और आनन्द मनाया जाता था। **गण** के साथ योद्धाओं और सफल नेताओं की स्तुति की जाती थी — वह **गणपति** है, वह **प्रियपति** है और वह **निधिपति** है। इस प्रकार विजय में मिली सम्पत्ति का बंटवारा **गण** के सहभोज के समय **गणपति** की देखरेख में होता था।

अग्नि और साम्य संघ के सहभोज में सबसे पहला पवित्र भोजन वह अश्व होता था जिसने शत्रु के क्षेत्र में सबसे पहले प्रवेश किया था। **अश्वमेध यज्ञ** का वही प्रमुख अश्व था। पहले उसे नहलाया जाता था, फिर सब लोगों को उसके दर्शन कराये जाते थे। बाद में उसे बलि-खंभ से बांध दिया जाता था।

लेकिन उसे मारने से पहले **गण** के सदस्य साधारण मांस और सुरा का सेवन करते थे। उसके बाद नर और नारियां मिलकर शृंगार (यौन सम्बंधी) नृत्य करते थे। इस नृत्य का नेतृत्व **गणपति** से करने कहा जाता था। उस युग में यूथ यौन-सम्बंधों के साथ सहभोज सम्पन्न होता था।

इस शृंगार नृत्य में थोड़ी सी विषमता भी आ जाती थी; और विषमता का कारण वे नयी नारियां होती थीं जो पराजित **गण** से बन्दिनी के रूप में लायी जाती थीं। युद्ध में जीती गयी अन्य वस्तुओं की भांति वे संघ के लिए भेंट की वस्तु होती थीं। मूल पत्नियों की तरह ही यूथ-विवाह के अधिकार के अन्तर्गत इन नारियों को भी **गण** में सम्मिलित कर लिया जाता था। नये सौन्दर्यों के साथ इस प्रतियोगिता में **गण** की मूल पत्नियों (**गणिका**) की ओर कोई ध्यान नहीं देता था और वे अकेली रह जाती थीं। अपने प्रति पुरुषों की इस अवहेलना के कारण नारियां जिस प्रकार विलाप करतीं थीं, उसे यहां नहीं लिखा जा सकता। **शुक्ल यजुर्वेद** के **क्षत-पलगली-सम्वाद** में इस विलाप का

वर्णन किया गया है। यह विलाप यज्ञ कर्म-कांड का एक अंश है और ऐसी भाषा में लिखा गया है जिसे आज बहुत अश्लील समझा जायेगा। लेकिन उन दिनों में वह पवित्र और उचित माना जाता था।

इस सहभोज और नारियों को गण में मिलाने के बाद संघ के सामने दो और काम शेष रह जाते थे—एक पुरुषमेध और दूसरा ब्रह्ममेध। पुरुषमेध में वे युद्ध-बंदियों की हत्या करते थे। ब्रह्ममेध के अन्तर्गत वे शवों की अन्तिम क्रिया सम्पन्न करते थे।

विकास की प्रथम अवस्थाओं में उत्पादन के अविकसित साधनों के कारण संघ की उत्पादन शक्ति ऐसी नहीं थी जिससे कि उत्पादक इतना पैदा कर सके, जो उसकी श्रम शक्ति का स्थान ले और कुछ अतिरिक्त उत्पादन भी करे। इसलिए इस अवस्था में सामाजिक व्यवस्था के अन्दर उन दासों को शामिल करना नहीं हो सकता था, जिनसे कि स्वामी के मुनाफे के लिए काम लिया जा सके। युद्ध में जब शत्रुओं को बंदी बनाया जाता था, तो उनमें से कुछ तो व्यक्तिगत वीरता, कुछ सौन्दर्य तथा कुछ कला-कौशल या वैद्यक में निपुण होने के कारण गण में शामिल कर लिये जाते थे। सम्मिलित होने के बाद वे पूरी तरह से गण के सदस्य और सम्बंधी हो जाते थे। लेकिन उन लोगों का क्या होता था जिन्हें साम्य संघ की उस छोटी आर्थिक व्यवस्था में कोई स्थान नहीं मिल सकता था? इतने सारे आदमियों को वह गण कैसे पालता? परिश्रम द्वारा अधिक फल की प्राप्ति तो हो नहीं सकती थी, इसलिए उनकी हत्या कर दी जाती थी। वे साम्य संघ के शत्रु समझे जाते थे और पुरुषमेध के द्वारा उन्हें शक्तिशाली अग्नि में बलिदान कर दिया जाता था। पुरुषमेध नर-मांस भक्षण का अवशेष नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इतिहास के बहुत प्राचीन काल में आर्यों को भोजन की कमी और उत्पादन-शक्तियों की दरिद्रता के कारण नर-मांस भक्षण की अवस्था से पार होना पड़ा होगा। अगर पुरुषमेध नर-मांस भक्षण का अवशेष होता, तो इसके विधि-कर्म में किसी रूप में मरे हुए लोगों को खाने की क्रिया की ओर भी संकेत किया जाता—जैसा कि हर विधि-कर्म में किया जाता है। पर इस विधि-कर्म में हम ऐसी कोई विधि नहीं पाते हैं। इस यज्ञ की जो विधि आज मिलती है, वह इस प्रकार है कि इस यज्ञ में बलि-पशुओं को बांधने के लिए ग्यारह यूप (खम्भे) होते हैं। यज्ञ के तीसरे दिन सभी बंधे पशुओं को प्रथा के अनुसार मार डाला जाता है। तब पुरुषों की बारी आती है। उन्हें **नर-पशु** कहा जाता है। वे ग्यारह यूपों (खम्भों) के बीच में खड़े होते हैं। विभिन्न देवों को उनकी भेंट चढ़ायी जाती है। यज्ञ का सर्वोच्च पुरोहित, जिसे **ब्रह्मन्** कहते हैं, पुरुष-सूक्त से **रिचाएं** पढ़ता हुआ एक जलती लकड़ी को हाथ में लेकर उनके चारों ओर तीन बार घुमाता है। इसके बाद वे सब छोड़ दिये

जाते हैं और उनमें से कोई भी मारा नहीं जाता। जब कि यथार्थ में **अग्नि** के अन्दर उनके शरीर के मांस की **आहुति** दी जाती होगी, विधि-कर्म में उनके मांस के बदले घी डाला जाता है।

उन बलि होनेवालों के चारों ओर अग्नि घुमाने और उनके अर्पित किये जाने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पहले कभी उन्हें मारकर आग में डाल दिया जाता था। पर **वर्तमान** विधि में वे मारे नहीं जाते, वरन छोड़ दिये जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिए नहीं कि आर्यों का स्वभाव कोमल या मृदुल हो गया था। जिनके नियमों ने सबसे छोटे अपराध के लिए नर और नारियों को बेंत से पीटना, विकलांग करना और सर काट लेने तक का आदेश दिया था, और जिन्होंने **अनार्यों** के साथ युद्ध करने में हजारों मनुष्यों को मारा था, वे आर्य बाद में यकायक मानवतावादी बनकर इन **नर-पशुओं** को मारने और खाने पर कैसे रोक लगा सकते थे? इसकी सीधी वजह यह है कि **यज्ञ** की यह विधि उस युग की है जब युद्ध-बंदियों को मारा नहीं जाता था, वरन **दास** बना लिया जाता था। सामाजिक कौशल समुन्नत हो चुका था और मनुष्य के श्रम में इतनी शक्ति आ गयी थी कि वह अतिरिक्त वस्तुओं का उत्पादन कर सकता था। स्वामी के लिए श्रम का मूल्य बढ़ने लगा था। श्रम के लिए वे जीवित मनुष्यों को अपना दास बनाकर रखते थे। उन्हें मारकर **अग्नि** देव को सौंपना उस अवस्था में गलत होता। युद्ध-बंदियों की हत्या करना एक व्यर्थता हो गयी थी। आर्यों के लिए यथार्थ रूप में यह अहितकर थी। तब उन्होंने उन्हें दास बनाना शुरू कर दिया। यह प्रथा बहुत हितकर सिद्ध हुई। जब स्वतंत्रता और समानता के आधार पर टिका हुआ आर्यों का समाज छिन्न-भिन्न हो गया, तो दास प्रथा उस समाज में स्थापित हो गयी।

लेकिन यह परिवर्तन बाद में हुआ था। इसके हो जाने से **पुरुषमेध** का मूल रूप ही बदल गया। पहले **गण** के बंदियों की हत्या करना इस विधि का उद्देश्य था। इस सत्य का पता यथार्थ रूप में इस बात से लगता है कि वर्तमान **विधि** के अनुसार नरों की भेंट **पुरुषसूक्त** की **रिचाओं** के पाठ के साथ होती थी। इस **सूक्त** की रचना आर्य **गणों** के दास-विधान के अन्तर्गत बाद में हुई थी। उस समय आर्यों के समाज में **वर्ण**, दास, व्यक्तिगत सम्पत्ति और शासन-सत्ता का जन्म हो चुका था। इसकी ओर हम आगे ध्यान देंगे।

लेकिन इसके बाद एक विधि और बाकी रह जाती थी। युद्ध में मरे लोगों का क्रिया-कर्म कैसे किया जाय? जिस प्रकार साधारण शवों का कर्म-कांड किया जाता था, इसमें भी उससे भिन्न और कोई विशेषता नहीं होती थी। शव को जलाने की क्रिया, चाहे युद्ध में हो या शान्तिकाल में, व्यक्तिगत रूप से नहीं होती थी, जैसा कि कुछ लेखक कहते हैं। यह भी **यज्ञ** की एक विधि

है और इसे **ब्रह्ममेध** के सार्थक नाम से पुकारा जाता था। वर्तमान विधि-कर्म का यह कहना है कि वह व्यक्ति जिसने **अग्नि-होत्र** को स्वीकार कर लिया है, जब मृत्यु को प्राप्त होता है, तो उसका संस्कार **श्रौत विधि** (प्राचीन **वैदिक** विधि) के अनुसार होना चाहिए। इसी को **ब्रह्ममेध** कहते हैं। अन्य मनुष्यों के शवों का संस्कार परवर्ती **स्मृति विधि** के अनुसार होना चाहिए। उस दशा में वे उसे **पितृमेध** कहते थे। **स्मृति** की विधियों का जन्म बहुत बाद में हुआ था। प्राचीन **यज्ञ** पद्धति के समाज में पूरा साम्य संघ **अग्नि-होत्री** होता था। इसलिए प्रत्येक मृत्यु सम्पूर्ण साम्य संघ के लिए **ब्रह्ममेध** मानी जाती थी। मरता हुआ व्यक्ति सम्बंधी होने के नाते पूरे साम्य संघ या **ब्रह्मन्** का एक अंग होता था। उसकी मृत्यु पूरे **गण** की आंशिक मृत्यु होती थी। यह एक सार्वजनिक विधि थी। इस **ब्रह्ममेध** में सम्पूर्ण **ब्रह्मन्** का सम्मिलित होना आवश्यक कर्तव्य माना जाता था।

कुछ आलोचक[४] ऐसे हैं जो इस सत्य को नहीं मानते कि बर्बर युग को पार करती हुई अन्य जातियों के समान आर्यों का संगठन **गण** रूप में था। वे इसके लिए यह प्रमाण देते हैं कि **गण** की जो परिभाषा मौर्गन ने दी है, उसके अनुसार प्रत्येक **गण** के पास अपने शवों का दाह संस्कार करने के लिए एक सामूहिक श्मशान भूमि अवश्य होनी चाहिए। इन आलोचकों के मत में इस प्रकार की श्मशान भूमि आर्यों के पास नहीं थी। जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, इन आलोचकों के लिए **ब्रह्ममेध** उचित उत्तर का काम देगा।

इसके बाद युद्ध में प्राप्त अन्य सामग्री बंटने के लिए बाकी रह जाती है। सहभोज, नृत्य, नर और नारी युद्ध-बंदियों का प्रबंध तब तक पूरा नहीं माना जा सकता, जब तक कि विजय में प्राप्त सम्पत्ति, धन, पशु, बर्तन, आभूषण, वस्त्र, आदि के वितरण की समस्या हल न हो जाय। वितरण की यह विधि **दानम्** के नाम से जानी जाती है। साधारणतया **वैदिक** विद्वानों ने इस शब्द का अर्थ भेंट अथवा दया लगाया है, जो ठीक नहीं है।

यह हम कह चुके हैं कि **शान्ति-कालीन** आर्थिक व्यवस्था में सामूहिक श्रम से **दिन-प्रति-दिन की उपज** जब **गण** के व्यक्तिगत सदस्यों में उपभोग के लिए बांटी जाती थी और उनके द्वारा आत्मसात की जाती थी, तो उसे **हवन, हवि, हुताशेष** अथवा **यज्ञशिष्ट** कहा जाता था। **युद्ध** में प्राप्त जिन वस्तुओं का वितरण साम्य संघ में होता था, अथवा वे टिकाऊ वस्तुएं जिन्हें साम्य संघ के हिसाब में जमा कर लिया जाता था और बीच-बीच में होनेवाले उत्सवों में जिनका वितरण होता था — जैसे अस्त्र-शस्त्र, वस्त्र, बर्तन, आदि — वे **दानम्** कहलाते

४. करंदीकर, "हिन्दू एक्जोगेमी" (हिन्दुओं का दूसरे गणों के साथ विवाह)।

थे। इन्हीं वस्तुओं को बांटने के लिए **ब्रह्मणस्पति** को अन्य भेंटों सहित "**अतिभिः**"* (ऊंची वेदी) पर चढ़ाकर बैठाया जाता था। **अथर्ववेद** में उससे वस्तुओं को बांटने के लिए कहा गया है—(**विभज वसूनि**)। यह बात ध्यान देने योग्य है कि गणपति को "**हे वसु**" कहकर सम्बोधित किया जाता था। सम्पत्ति को "**वसूनि**" कहते थे, और वसु गण-संघ के रूप में होते थे जिनका जन्म एक माता वसु से हुआ था।

यहां पर **दानम्** अथवा वितरण कबीले के सरदार का कोई व्यक्तिगत कर्म नहीं था जो उसकी इस इच्छा पर निर्भर होता कि चाहे वह वितरण करे और चाहे न करे, क्योंकि युद्ध में प्राप्त सम्पत्ति पर पूरे **गण** का अधिकार होता था। **हवन** की भांति **दानम्** भी एक सामाजिक कर्म था। समय-समय पर होने-वाले उत्सवों में, जब संघ को उन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती थी तब, अथवा युद्ध या आक्रमण के बाद यह कर्म किया जाता था। इसलिए साम्य संघ की विचारधारा में इसका सम्बंध युद्ध के सरदारों अथवा **गणपति** या **ब्रह्मण-स्पति** से जुड़ा हुआ था। **ऋग्वेद** में **दानम्** शब्द का अर्थ "**वितरण**" लगाया गया है। '**दा**' धातु से यह शब्द बना है जिसका अर्थ वितरण करना है। अतः, इस कर्म में दया या कृतज्ञता कहीं पर भी प्रकट नहीं होती।

जब साम्य संघ और सामान्य सम्पत्ति का नाश हो गया, राजाओं और उनके क्षत्र वर्ग के लिए युद्ध करना एक काम हो गया और इन क्षत्रियों के अपने घरों में सम्पत्ति जमा होने लगी, तथा युद्ध में प्राप्त सम्पत्ति पर प्राचीन काल की तरह पूरे **गण** का अधिकार न होकर केवल राजा और शासक वर्ग का ही अधि-कार माना जाने लगा, तभी सब लोगों के द्वारा युद्ध में प्राप्त सम्पत्ति का वितरण (**दानम्**) अनिवार्य सामाजिक कर्म अथवा युद्ध के सेनानी **गणपति** का कर्तव्य (धर्म) नहीं रह गया। वह राजा या शासक वर्ग के लिए एक व्यक्तिगत धर्म ही रह गया। अगर वे इसे वितरित करते थे, तो यह पुण्य कहा जाता था। साधारण लोगों के दिमाग में इस **दानम्** का सम्बंध युद्ध के सेनानी के साथ इतनी गहराई से जुड़ा हुआ था कि परवर्ती काल में अगर कोई राजा **दानम्** नहीं करता था, तो वह बुरा माना जाता था। लेकिन अगर राजा यह **दानम्** या वितरण न करता, तो साधारण लोगों के पास ऐसा कोई अधिकार या शक्ति नहीं थी, जिससे वह राजा को वैसा करने के लिए बाध्य कर सके। उस समय तक सामान्य लोगों को निहत्था करके दबा दिया गया था और एक वर्ग पूरे समाज पर शासन करने लगा था। राजाओं और क्षत्रियों के लिए **दानम्** अब

---

* गणानां त्वा गणपतिं हवामहे। कविं कवीनाम् उपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते आ नः शृण्वन्न अतिभिः सीद सादनम्। ऋ. २।

एक ऐच्छिक पुण्य-कर्म या उनकी दया ही रह गया था। उसकी यह पुरानी विशेषता कि वह सब लोगों में बराबर वितरित की जायगी, लुप्त हो गयी थी। यह **दानम्** करनेवाले की इच्छा पर निर्भर था कि वह **दानम्** के लिए किसे चुने। शासक वर्ग अपने सहयोगियों को ही चुनता था और उन्हें **दानम्** के द्वारा अन्य लोगों के मूल्य पर धनी और वैभवशाली बना देता था। इसलिए 'अच्छे' और 'बुरे' **दानम्** का सवाल भी उठ खड़ा हो गया। और इस बात पर नैतिक और आचारिक दृष्टि से विवाद होने लगा (जैसा **गीता** में है) कि **दानम्** के लिए कौन सा **देश, काल** और **पात्र** उपयुक्त है। (**दानम्** का गौरव देश, काल और पात्र द्वारा ही निर्धारित किया जाता था। अगर देश, काल और पात्र गलत हैं, तो उस **दानम्** के द्वारा पाप और यदि वे ठीक हैं, तो पुण्य उत्पन्न होगा।) साम्य संघ के युग में इस प्रकार के विवादों के लिए कोई स्थान नहीं था। साम्य संघ में **दानम्** पर पहला अधिकार वृद्ध, विकलांग (लंगड़े, लूले, अंधे, आदि) और दुर्बल रोगियों का होता था। पर जब व्यक्तिगत सम्पत्ति और वर्ग शासन का उदय हुआ, तो **दानम्** का अर्थ ही उलट गया। पहले तो **दानम्** सामाजिक सुरक्षा का एक उपाय था। बाद में उसके द्वारा ब्राह्मण और क्षत्रिय, जो उस समय के शासक वर्ग थे, धनी और वैभवशाली होने लगे।

गण साम्य संघ द्वारा उत्पादित अथवा युद्ध में प्राप्त धन का वितरण करना यज्ञ पद्धति का एक अंग था। इसलिए **यज्ञ** और **दानम्** को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। **यथार्थ में** *दानम्* **और** *हवन* **सामूहिक वितरण की एक पद्धति** थी जिसका अस्तित्व *यज्ञ* के सामूहिक **उत्पादन की अवस्था में था।** लेकिन बाद में, व्यक्तिगत सम्पत्ति और वर्ग शासन में **दानम्** और **हवन** सामाजिक उत्पादन को निजी अधिकार में लाने के साधन-मात्र रह गये।

उन सफल युद्धों की यादगार जिसका नेतृत्व वीर और निपुण **गणपति** करते थे, **गणों** में इस आधार पर बहुत दिनों तक जीवित रहती थी कि उसमें कितनी वस्तुएं और नारियां गण को मिलीं और युद्ध के सेनानी द्वारा कितनी अधिक वस्तुएं वितरित की गयीं। इन यादगारों को **दानसूक्तों** में लिखा गया है जो हमारे प्राचीन प्रामाणिक लेखों का एक भाग है। **दानसूक्तों** का जन्म इसी प्रकार हुआ था।

जब **दानम्** साम्य संघ के **यज्ञ** का अंग नहीं रह गया और केवल राजाओं तथा शासक वर्गों की अपनी वस्तु बन गया, तब भी **दानम्** के विषय में लिखना बंद नहीं हुआ। दान-लेख फिर भी चलते ही रहे। उस काल में उन्हें लिखनेवाला **पुरोहित** होता था जो राजा के **दरबार** में रहता हुआ उसका निजी दान-पात्र था। लेकिन **वेद साहित्य** के विद्वानों (आल्डेनबर्ग, विन्टरनित्ज़, केतकर, आदि) ने **यज्ञ** की अन्य विधियों की भांति **दानम्** के अर्थ और उद्देश्य को पूरी तरह से गलत

रूप में समझा है। इसीलिए **दानसूक्तों** और उनके रचयिताओं के विषय में भी उनकी गलत धारणा बन गयी है। वे उन रचयिताओं को राजाओं द्वारा किराये पर रखे गये व्यक्ति मानते हैं।

वेद में लिखे हुए अपने मूल रूप में **दानसूक्त**—बाद के रूपवाले नहीं—सामाजिक उत्पादन और वितरण के अभिन्न अंग थे, अथवा साम्य संघ की ओर से किये गये सामाजिक कर्तव्य थे। वितरण और स्तुति में पूरा साम्य संघ भाग लेता था, अतः उसके रचयिता ऋषियों को **दानसूक्त** लिखने की प्रेरणा मिलती थी। वे उस विजय के विषय में गीत गाते थे। **गणपति** की वीरता और बुद्धिमत्ता की वे स्तुति करते थे और **दानम्** के सामूहिक आनन्द को व्यक्त करते थे। यह परम्परा चलती रही और राजा की नयी शासन-सत्ता का ध्यान उस ओर बाद में गया, जब व्यक्तिगत सम्पत्ति और दासता का उदय हो चुका था। **यज्ञ** पद्धति के मूल-तत्वों का जब अन्त हो गया और शोषकों की शासन-सत्ता सिंहासन पर बैठी, तब **दानसूक्त** एक व्यवस्था के रूप में नहीं रह गया था।

हुताशेष अथवा **हवन** का जो वितरण **गण** में होता था, उसमें भी उसी के अनुसार परिवर्तन आ गया। पहले ऐसा था कि जो कुछ भोजन उत्पन्न होता, उसे सब लोगों में बिना किसी भेद-भाव के उपभोग के लिए बांटा जाता था। **सत्र** के नियम इसकी आज्ञा देते थे। उन दिनों में यह प्रश्न ही नहीं उठता था कि कोई अकेला गृहस्थ अपनी **अग्नि** के ऊपर "अपने लिए ही" अपना भोजन अलग पकाये। उन दिनों अलग से "अपनी वस्तु" का अस्तित्व नहीं था। जब व्यक्तिगत सम्पत्ति और गृहस्थियों का उदय हुआ, तब भी **यज्ञ** का यह नियम जीवित रहने की चेष्टा कर रहा था। लेकिन यह नियम केवल उन्हीं लोगों के पास सजीव रहा, जो गृहस्थ नहीं थे और जिनके पास सम्पत्ति नहीं थी। इस प्रकार के निर्धन सन्यासी व्यक्तिगत गृहस्थों के चारों ओर घूमा करते थे। इस प्रकार, उस नैतिक आचार का जन्म हुआ जिसके अनुसार जो कोई भी आसपास के उन लोगों को ध्यान में रखे विना, जिनके पास भोजन की सामग्री नहीं है केवल अपने लिए भोजन पकाता है, वह अन्न न खाकर "पाप खाता है,"* यह कहकर उसकी निन्दा की जाती थी। लेकिन ऐसी निन्दा पर व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसका वर्ग हंसता था—"यह तो साम्य संघ की नैतिकता के प्रेत के मुख से निकली निन्दा है!"

जिस प्रकार **गण** संघ के अथवा उसके सेनानी के **दानम्** विषयक अधिकार और कर्तव्य नये वर्ग समाज में आकर क्षत्रिय या राजा को मिल गये थे, उसी प्रकार **ब्रह्मन्** यानी पूरे साम्य संघ का यह अधिकार कि वह **दानम्** का वितरण

---

* भुंजते ते त्वघं पापाः ये पचन्ति आत्मकारणात्। गीता, अध्याय ३-१३।

कराये और वह स्वयं उसे ही मिले—(**हवन** या **हुताशेष** के विषय में भी उस **ब्रह्मन्** का यह अधिकार था)—नये वर्ग समाज में शासक वर्ग के दूसरे अंग को, यानी ब्राह्मण को मिल गया। ब्राह्मण **यज्ञ-विधि** को कराने और जानने वाले थे। वे **वेदों** और उनसे उत्पन्न बौद्धिक ज्ञान के उत्तराधिकारी भी थे। उनके हाथों में **दानम्** लेने का यह अधिकार आ गया। ब्राह्मणों ने अपने को प्राचीन **ब्रह्मन्** अथवा सम्पूर्ण साम्य संघ का उत्तराधिकारी बना लिया, और इस प्रकार पूरे **दानम्** या **हवन** को लेनेवाले वे ही बन गये।

इस तरह उत्पादन के सम्बंधों के अनुरूप साम्य संघ ने अपनी विचारधारा और उसके रूपों की रचना की थी। लेकिन जब साम्य संघ और प्राकृतिक विधान के अनुरूप सम्पत्ति या धन छिन्न-भिन्न हो गया, तब भी प्राचीन विचार-धारा और उसके नैतिक मूल्य अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते रहे। इस विचारधारा को नये वर्गों ने अपने-अपने वर्ग-हितों के लिए अपनी शैली में अपना लिया और वे उनका उपयोग करते रहे। व्यक्तिगत सम्पत्ति और वर्ग समाज के उदय होने के साथ-साथ आर्यों के समाज ने शीघ्र ही देखा कि आचार-शास्त्र का एक नियम—जो सामूहिकतावादी व्यवस्था में सबके हितों को साधता हुआ भुखमरी से सबकी रक्षा करने और साम्य संघ के हर सदस्य के बीच एक समान वितरण की शर्त थी—किस प्रकार से अपने विरोधी रूप में प्रकट हुआ। किस तरह वही नियम उत्पीड़न, एकाधिपत्य, थोड़े से शोषकों के वर्ग के पास सम्पत्ति के संचय कराने में सहायक हुआ और बहुसंख्यक श्रमिकों, दुर्बलों, रोगियों, बृद्धों, दरिद्रों तथा असंख्य गरीब गृहस्थों, नये **कलियुग** की संस्कृति में दासों और चाकरों के लिए भुखमरी का कारण बन गया।

आठवां अध्याय

वर्णों, व्यक्तिगत सम्पत्ति और वर्गों का उदय

वेद और महाकाव्यों के साहित्य की सहायता से हमने यह देखा कि किस प्रकार से आर्य-जाति ने सामूहिक श्रम और जीवन के द्वारा उन्नति करते हुए उत्पादन के नये साधनों का, यानी आग और पशु-पालन का आविष्कार किया जिनसे उसकी उत्पादन शक्ति के विकास में स्थिरता और प्रगति हो सकी।

लेकिन उत्पादन शक्तियां कभी भी अचल नहीं रह सकतीं। विकास का मार्ग एक अवस्था से दूसरी अवस्था को पार करता हुआ आगे बढ़ता गया। इसका प्रभाव सामाजिक संगठन, मनुष्य के जीवन और उसकी विचारधारा पर अनिवार्य रूप से पड़ा।

आर्य लोग अपने भाई सामी लोगों, तूरानियों तथा अन्य यूथों के साथ-साथ मानव वंश के अन्य लोगों की तुलना में अधिक भाग्यशाली थे, क्योंकि जांगल युग में ही उन्होंने उन मूल्यवान पशुओं को पा लिया था जिन्हें पाला जा सकता था और जिनके सहारे जीवन की यात्रा की जा सकती थी। एशियाई प्रदेश के आर्यों के पास यह पशु-धन बहुत अधिक मात्रा में था। अमरीकी प्रदेश के आदिवासियों को यह सुविधा प्राप्त नहीं थी। पशु पालने और उसके द्वारा संस्कृति का विकास करने का मूल प्रदेश एशिया है। इस बारे में एंगेल्स कहते हैं :

> "एशिया में उसे ऐसे पशु मिल गये जिन्हें पाला जा सकता था और अपने अधिकार में रखकर जिनकी नस्ल बढ़ायी जा सकती थी। जंगली गाय का शिकार करना पड़ता था। पालतू गाय हर साल एक बछड़ा और दूध देती थी। कई सबसे उन्नत कबीलों ने — जैसे आर्यों, सामी लोगों, और शायद तूरानियों[1] ने — पशुओं को पालना, और बाद में उनकी नस्ल बढ़ाना भी अपना मुख्य पेशा बना लिया। चरागाहों का जीवन बिताने

---

१. ययाति के पांच पुत्रों में से एक तुर्वसु भी था, जिसका हवाला पहले दिया जा चुका है।— लेखक

वाले कबीले बर्बर लोगों के साधारण जन-समुदाय से अलग हो गये। **यह सबसे पहला बड़ा सामाजिक श्रम-विभाजन था।** चरागाहों का जीवन बितानेवाले ये कबीले, दूसरे कबीलों से न सिर्फ खाने का सामान ज्यादा तैयार करते थे, बल्कि तरह-तरह का सामान तैयार करते थे। उनके पास न केवल दूध, दूध से बनायी गयी वस्तुएं, और गोश्त दूसरे कबीलों की तुलना में अधिक मात्रा में होता था, बल्कि उनके पास खालें, ऊन, बकरियों के बाल, और ऊन कातकर और बुनकर बनाये गये कपड़े भी थे, जिनका आम इस्तेमाल, कच्चे मालों की मात्रा में दिनोंदिन होनेवाली बढ़ती के साथ-साथ लगातार बढ़ रहा था। इससे पहली बार नियमित ढंग का विनिमय संभव हुआ। इसके पहलेवाली अवस्थाओं में केवल कभी-कभी ही विनिमय संभव था। यदि कोई हथियारों और औजारों के बनाने में विशेष निपुणता प्राप्त कर लेता, तो कुछ समय के लिए विनिमय होने लगता था। अतएव बहुत सी जगहों में नवीन प्रस्तर युग में पत्थर के औजार बनानेवाले कारखानों के अवशेष मिले हैं, जिनके बारे में किसी प्रकार के सन्देह की गुंजाइश नहीं है। इन कारखानों में जो कारीगर अपनी निपुणता का विकास किया करते थे, बहुत संभव है कि वे पूरे समाज के लिए काम करते थे, जैसा कि भारत के गण-समाजों के स्थायी दस्तकार आजकल भी करते हैं। हर हालत में, उस अवस्था में कबीले के अन्दर विनिमय के अलावा किसी और प्रकार के विनिमय के आरम्भ होने की संभावना नहीं थी और वह विनिमय भी बस अपवाद रूप था।"

(**परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति,** पृष्ठ २२१-२२)

जिन **वैदिक** परम्पराओं का वर्णन हम पिछले अध्यायों में कर आये हैं, उनके द्वारा एंगेल्स की यह बात प्रमाणित हो जाती है। इसी अल्प-कालीन श्रम-विभाजन और यदा-कदा होनेवाले विनिमय के कारण **वेद साहित्य** के बहुत प्राचीन छंदों में "**क्रय-विक्रय**" शब्द का प्रयोग किया गया है। परवर्ती **ब्राह्मण** और **स्मृति** काल में होनेवाला नियमित व्यापार तब शुरू नहीं हुआ था—उसके बीज उस काल में जरूर उग रहे थे। यद्धपि औजार बनानेवाले और सीखे-सिखाये लोग मौजूद थे और वे पूरे साम्य संघ के लिए काम करते थे, जैसे इन्द्र के **वज्र** को बनानेवाले कारीगर अथवा अनेक बार प्रशंसित और वर्णित **तक्षण** या **रथकारों** का अस्तित्व था। फिर भी आरम्भ में आर्यों के साम्य संघ में कोई ऐसा आन्तरिक श्रम-विभाजन नहीं था जो उसके सदस्यों को **वर्णों** में बांट देता और प्रत्येक **वर्ण** का काम निश्चित कर देता। **वर्णों** के निर्माण

के पहले उनके लिए अपनी जनसंख्या को नये पशु-धन के आधार पर बढ़ाना, अनेक भांति की वस्तुओं का उत्पादन करना और अपने अन्दर विनिमय का विकास करना आवश्यक था। जब इस अवस्था तक उत्पादन की शक्तियां विकसित हो गयीं, तभी **वर्णों** का अस्तित्व संभव हो सका।

जैसा मार्क्स ने कहा है कि निवासियों की संख्या और उसकी सघनता समाज में श्रम-विभाजन की अति आवश्यक शर्तें हैं।[२] एशिया में पशु-पालन ने, जिसमें घोड़ा भी शामिल था, वह पूर्वस्थिति उत्पन्न कर दी थी जिसके द्वारा आर्यो के साम्य संघ में श्रम का सामाजिक **वर्ण** विभाजन संभव हो सका।

प्रत्येक इतिहासकार और वे हिन्दू **ऋषि**, जिनके बारे में यह कहा जाता है कि वे **वर्णों** की उत्पत्ति को अलौकिक शक्ति द्वारा सम्पन्न मानते थे, इस बात को मानते हैं कि आर्यों के समाज में **वर्णों** का विभाजन एक ऐतिहासिक प्रगति है और विकास की एक विशेष अवस्था में ही उसका उदय हुआ था। पहले आर्यों के समाज में **वर्ण** नहीं थे। फिर तीन **वर्णों** का जन्म हुआ। उनके जन्म का आधार श्रम की योग्यता और उत्पादन के सिवा और कुछ नहीं था। इस बात को सभी हिन्दू-शास्त्रों ने, जहां पर यह विषय आया है, अनेक स्थानों पर विस्तार के साथ बताया है।[३]

२: कैपिटल : भाग १, मास्को, १९५४, पृष्ठ ३५२।

३. भरद्वाज ने भृगु से पूछा कि एक वर्ण और दूसरे वर्ण में क्या अन्तर है, क्योंकि रंगों के अन्तर से तो उनमें भेद नहीं दिखाई देता। अगर रंगों को ही "वर्णों" का सूचक मान लिया जाय तब तो सब "वर्ण" मिले-जुले मालूम होते हैं। काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, सुख, मेहनत, आदि एक-दूसरे को पृथक-पृथक नहीं करते। तब फिर "वर्ण" भेद कैसे संभव हुआ था? भृगु ने उत्तर दिया—पहले सब "ब्रह्मन्" था, पर बाद में ब्राह्मण अपने कर्म और अधिकार के कारण उससे बाहर निकलकर एक "वर्ण" हो गये।

भरद्वाज उवाच—

चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभज्यते
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्ण संकरः ॥ ६ ।
कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः ।
सर्वेषां न प्रभवति कस्माद्वर्णो विभज्यते ॥ ७ ।
तनु क्षरति सर्वेषां कस्माद्वर्णो विभज्यते ॥ ८ ।

भृगुरुवाच—

न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्व सृष्टा हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ १० । शान्ति पर्व, १८६ ।

इस विषय में "गीता" का भी यही कथन है :

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टा गुण कर्म विभागशः ॥ गीता, अध्याय ४–१३ ।

समाज में श्रम का विभाजन आवश्यकता से और उत्पादन शक्तियों के विकसित होने से उत्पन्न होता है। जहां तक **वर्णों** की उत्पत्ति का विषय है, उस बारे में प्राचीन धार्मिक लेख चाहे कुछ भी कहें, पर वह किसी **वैदिक ऋषि** या देवता की प्रतिभा द्वारा विशेष आविष्कार से उत्पन्न नहीं हुआ था।

श्रम-विभाजन की प्रक्रिया का वर्णन मार्क्स ने इस तरह किया है:

"जिस तरह वस्तु निर्माण में श्रम का विभाजन दो विरोधी आरम्भ-बिन्दुओं से विकसित होकर आगे बढ़ता है, उसी तरह एक समाज में श्रम-विभाजन और उसके साथ-साथ व्यक्तियों के किसी एक खास काम या धंधे में बंधने की प्रवृत्ति भी विकसित होती और बढ़ती है। एक कबीले के अन्दर... प्राकृतिक श्रम-विभाजन उत्पन्न हो जाता है। इसका आधार लिंग (नर और नारी — अनु.) और आयु होते हैं। इसलिए इस श्रम-विभाजन का आधार भौतिक शरीर अथवा दैहिक होता है। जाति के विस्तार, जनसंख्या की बढ़ती और खास तौर से अलग-अलग कबीलों के संघर्ष तथा एक-दूसरे को हराकर पराधीन बनाने के साथ-साथ इस श्रम-विभाजन का भी विस्तार हुआ करता है। दूसरी ओर... उत्पादन का विनिमय तब शुरू होता है जब अलग-अलग... कबीले और जातियां परस्पर सम्पर्क में आते हैं; क्योंकि संस्कृति की प्रथम अवस्था में व्यक्ति स्वाधीन इकाई नहीं था, केवल... कबीले... ही एक-दूसरे से स्वाधीन इकाई होकर मिल-जुल सकते थे। अलग-अलग जातियों के पास अपने प्राकृतिक वातावरण के अनुसार उत्पादन के साधन और जीवन चलाने की विभिन्न वस्तुएं थीं। इसलिए उनकी उत्पादन पद्धति, जीवन प्रणाली और उपज में भी भेद होता था। यह भेद अपने-आप उत्पन्न हुआ था। इसी भेद के कारण जब अलग-अलग कबीले एक-दूसरे के सम्पर्क में आते थे, तो विनिमय आवश्यक हो जाता था। धीरे-धीरे विनिमय के लिए वस्तुओं का बनाना शुरू हो गया। उत्पादन के क्षेत्र में विनिमय ने किसी भेद को जन्म नहीं दिया, वल्कि जो भेद पहले से वर्तमान था, उसे सम्बंधित करने की चेष्टा की। इस विनिमय ने उन कबीलों को एक हद तक एक बड़े समाज की सामूहिक उत्पादन शाखाओं में बदल दिया, जो एक-दूसरे पर निर्भर रहने लगे। वाद की स्थिति में श्रम का सामाजिक विभाजन उन उत्पादन क्षेत्रों के बीच विनिमय से उत्पन्न होता है जो मूल रूप में भिन्न और आपस में स्वाधीन होते थे। पहली स्थिति में जहां श्रम विभाजन दैहिक (भौतिक शरीर) आरम्भ-बिन्दु से उत्पन्न हुआ था, वहां क्रय-वस्तुओं का बाहरी कबीलों से विनिमय की मुख्य विशेषता के कारण

पूर्ण समष्टि का एक अंग विश्रृंखलित होकर अलग हो जाता था, और फिर वह अंग अपने को उस सीमा तक अलग रखता था, जहां पर अनेक भांति के कामों को एक सूत्र में बांधनेवाला सम्बंध केवल उत्पादन की क्रय-वस्तुओं का विनिमय होता था। एक स्थिति में श्रम-विभाजन उसे पराधीन बनाता था जो पहले स्वाधीन था। दूसरी स्थिति में वह उसे स्वाधीन बनाता था जो पहले पराधीन था।"[४]

कार्ल मार्क्स की रचना से यह लम्बा उद्धरण इस बात को स्पष्ट करता है कि आर्य जातियों के विकास की प्रथम अवस्था में क्या हुआ होगा ? उत्पादन, काम और विशिष्ट श्रम की अनेकता के कारण आर्यों के साम्य संघ के अन्दर श्रम-विभाजन शुरू हुआ, पूरे साम्य संघ के सदस्यों में भेद पड़ने लगा और वे अलग-अलग कामों में लगकर **वर्णों** में विभक्त होने लगे। लेकिन पहली अवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति के न होने के कारण और उत्पादन के मुख्य साधनों पर सामूहिक अधिकार होने के कारण परवर्ती समय की भांति **वर्णों** में एक-दूसरे के प्रति विरोध या शत्रुता नहीं उत्पन्न हो सकी।

आर्यों के साम्य संघ में सबसे पहले श्रम का विभाजन तब शुरू हुआ जब **यज्ञ** विधि में विभिन्न **रित्विजों** को, जो पहले एक थे, सत्रह विभागों में बांटा गया। **रित्विजों** के ये सत्रह विभाग **यज्ञ** श्रम की अनेक शाखाओं का संचालन करते थे। लेकिन यह विभाजन अल्प समय के लिए होता था और इसका आधार विनिमय नहीं था, इसलिए आरम्भ में वह विभाजन **वर्णों** का निर्माण नहीं कर सका।

परन्तु जब **गण** समाज का विकास हुआ और आर्यों के विभिन्न **गणों** (वे **गण** जो अपने प्राचीन **गणों** से तथा अन्य कबीलों से उत्पन्न होकर फैले थे) के बीच सम्पर्क और संघर्ष होने लगे, तब **गणों** के अतिरिक्त उत्पादन का विनिमय भी प्रारम्भ हो गया। अलग-अलग **गणों** में उत्पन्न विभिन्न वस्तुओं का विनिमय इस प्रकार से संभव हुआ। इस विनिमय की मात्रा जितनी बढ़ती गयी और वस्तुओं की मांग में भी वृद्धि होने लगी, वैसे ही वैसे प्रत्येक **गण** के अपने भीतरी उत्पादन में उसका प्रभाव पड़ने लगा। अन्य **गणों** में जिस वस्तु की मांग अधिक होती थी, उस वस्तु के उत्पादन पर उसका प्रभाव मुख्य रूप से पड़ता था। इस प्रकार से उत्पादन की विभिन्नता के द्वारा आन्तरिक रूप से, और उन उत्पादनों के विनिमय द्वारा वाह्य रूप से समाज में श्रम-विभाजन स्थिर होने लगा और उसने आर्यों के साम्य संघ में **वर्णों** को जन्म दिया।

---

४. कैपिटल : भाग १, पृष्ठ ३५१-५२।

"परन्तु धीरे-धीरे श्रम का विभाजन उत्पादन की इस क्रिया में घुस आया। उसने उत्पादन तथा उपभोग के सामूहिक रूप की नींव खोद डाली। उसने व्यक्तिगत उपभोग (हथिया लेने) को मुख्यतया प्रचलित नियम बना दिया और इस प्रकार व्यक्तियों के बीच विनिमय का श्रीगणेश किया।" (एंगेल्स)। इस अवस्था पर एक बार पहुंचते ही व्यक्तिगत सम्पत्ति और वर्गों की उत्पत्ति हो जाती है। **वर्ण** अपने को आत्म-विरोधी वर्गों में बांट लेते हैं, और गृहयुद्ध अथवा वर्ग युद्ध का आरम्भ हो जाता है। आदिम साम्य संघ सदा के लिए टूट जाता है।

जिस ऐतिहासिक विकास का वर्णन हमने ऐतिहासिक भौतिकवाद के वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से किया है, क्या उसका समर्थन हिन्दू साहित्य की **वैदिक** और महाकाव्यों की परम्परा से होता है? यद्यपि उस साहित्य से यह आशा नहीं की जा सकती कि उपर्युक्त शैली में वे इन वस्तुओं की उत्पत्ति के विषय में बतायेंगे, फिर भी अपनी प्राचीन शैली में क्या हमें वे कोई ऐसा आधार देते हैं जिनसे हम उपर्युक्त निष्कर्षों पर पहुंच सकें? हां ऐसा आधार वे देते हैं।

सदा की तरह हमें इन वस्तुओं की उत्पत्ति का ज्ञान **वैदिक** लेखकों द्वारा लिखी गयी सृष्टि विषयक कथाओं से होता है। उस समाज के सामने जब कोई नयी समस्या आ खड़ी होती थी, तो उसे वे सृष्टि की समस्या समझकर ग्रहण करते थे—वह सृष्टि जिसकी रचना **ब्रह्मन्** या **प्रजापति** ने की थी। उस समाज में **वर्ण** उत्पत्ति की समस्या, जहां पहले **वर्ण** और श्रम-विभाजन नहीं थे, सृष्टि विज्ञान का एक अंश बनाकर उपस्थित की जाती थी।

आर्यों के समाज में पहले तीन **वर्ण** थे, बाद में चार हो गये। इसलिए सृष्टि की कथाओं में कहीं तीन **वर्णों** का और कहीं चार का वर्णन मिलता है। परन्तु यह बात सभी मानते हैं कि पहले वे नहीं थे अथवा केवल एक **वर्ण** ही था। बाद में तीन **वर्ण** बने और अन्त में चौथे की रचना हुई। **चौथा** *वर्ण* **वास्तविक नहीं था; उसकी उत्पत्ति समाज के भीतर से हुई थी।**

शतपथ ब्राह्मण (२; १–४–११) में लिखा है कि किस **प्रजापति** अथवा मनुष्यों के पिता ने इसे जन्म दिया था। हम उन **प्रजापतियों** को विभिन्न त्रयी को जन्म देते हुए देखते हैं। यह त्रयी पहले वर्तमान नहीं थी। पहली त्रयी जिसे **प्रजापति** ने जन्म दिया—**भू**, **भुवः** और **स्वः** थी। दूसरी त्रयी भूमि, आकाश और उन दोनों के बीच का वातावरण थी। तीसरी ब्रह्म, क्षत्र और विश—अथवा तीन **वर्णों** की त्रयी थी। चौथी **प्रजापति** (**आत्मा**), **प्रजा** (मनुष्य लोग) और पशु की त्रयी थी। त्रयी की इस सूची में **वेदों** की त्रयी का नाम छूट गया है। इसलिए **तैत्तरीय ब्राह्मण** में (३; १२–६–१२) दूसरी तरह से

सम्पूर्ण सूची उपस्थित की गयी है। उस योजना के अनुसार सबसे पहले यह सब **ब्रह्मन्** था जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई। उसके बाद प्रत्येक **वेद** ने एक-एक **वर्ण** को जन्म दिया। इसका क्रम इस प्रकार से है कि सबसे प्राचीन **ऋग्वेद** ने वैश्य की उत्पत्ति की, **सामवेद** ने ब्राह्मण और **यजुर्वेद** ने क्षत्रियों की उत्पत्ति की। इन दोनों लेखकों ने चौथे **वर्ण** शूद्र का नाम नहीं लिया है। **यजुर्वेद** (७; १–१–४) की **तैत्तरीय संहिता** में इस विभाजन का अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है। **प्रजापति** को जब सृष्टि करने की इच्छा हुई, तब उनके मुख, उनके वक्ष, उनके हाथ और उनके पैरों से चार **वर्ण** उत्पन्न हुए। इस वर्णन की विशेषता इसमें है कि प्रत्येक **वर्ण** एक **देवता,** एक **छन्दस्** और एक **पशु** के साथ जन्म लेता है। हम यहां पूरा वर्णन देने की कोशिश नहीं करेंगे। हम केवल एक बात की ओर ध्यान देंगे कि **पहले के तीन वर्णों** को तो एक-एक **देवता** मिला है; पर केवल शूद्र **दासों** के पास, जो **चौथा वर्ण** है, कोई **देवता** नहीं हैं। लेकिन उसके पास **छन्दस्,** पशु और **स्तोम** हैं, जो हर **वर्ण** के पास हैं। प्रत्येक को ये पशु दिये गये थे—ब्राह्मणों को **अजस्** (बकरी), क्षत्रियों को भेड़ (**अविश**), वैश्यों को गाय और शूद्रों को घोड़ा या अश्व।

इन सभी कथाओं में मुख्य समानता क्या है? यद्यपि आर्य इतिहासकार मनुष्य, पशु और विश्व के सम्बंध को स्पष्टतया नहीं समझते, फिर भी उन्होंने हमें यह बताया है कि सबसे पहले एक **ब्रह्मन्** था, उसीसे बाद में तीन या चार **वर्ण** उत्पन्न हुए। पहले तीन **वर्ण** एक ही सजातीय समाज **गण-गोत्रों** से उत्पन्न हुए थे। इसीलिए उनके पास देवता थे और चौथे **वर्ण** के पास कोई देवता नहीं था, क्योंकि वह युद्ध में जीता गया गुलाम था। मनुष्य और **वर्णों** की उन्नति के साथ-साथ पशु और धन की भी वृद्धि हुई। ज्यों-ज्यों वेद विभक्त होते गये और **यज्ञ** उत्पादन विभिन्न दशाओं में विकसित होता गया, वैसे-वैसे **वर्ण** भी विभक्त और उन्नत होते गये। उस युग के लेखक, मनुष्य और उसके विश्व के विकास को समझाने के लिए, एक प्रमाण खोजने के लिए अपार परिश्रम करते हैं। यद्यपि इतिहास के वैज्ञानिक सम्बंधों के यथार्थ को वे समझ नहीं सकते, फिर भी उस यथार्थ अवस्था की आवश्यक सामग्री वे अपने ग्रंथों में लिख गये हैं। यह इसलिए संभव था कि लेखक जो कुछ देखते थे, उसे ही लिखते थे।

शतपथ ब्राह्मण में (१४; ४–२–२३) एक बात और भी स्पष्टता से कही गयी है। उसका यह कथन है कि यह **ब्रह्मन्** आरम्भ में एक और अखंड था। यह बात यहां याद रखनी चाहिए कि परवर्ती **उपनिषदों** के दर्शन में वर्णित **ब्रह्मन्** से यह भिन्न है। परन्तु उसकी यह अखंडता उसे उन्नति, प्रगति, और विकास की ओर आगे नहीं बढ़ने देती थी। इसलिए उसने अपने को विभक्त करना आरम्भ किया और अपने को नये-नये रूपों में प्रकट करने लगा, जैसे

क्षत्र और उसके देवता इन्द्र व वरुण, आदि।* फिर भी जब उसकी प्रगति और उन्नति नहीं हुई, तब उसने विश रूप को जन्म दिया जिसके देवता, **गण** देवता के रूपों में थे।

वेद की परम्परा हमारे लिए आर्य **गणों** के विकास का वर्णन इस प्रकार से करती है—जब उत्पादन साधनों की वृद्धि के साथ-साथ पशु, धन और जन-संख्या में वृद्धि हुई, तब इन साम्य संघों के उत्पादनों की विभिन्नता और दूसरे **गणों** के साथ उनके सम्बंधों ने, ऐतिहासिक प्रगति के नियमानुसार समाज में श्रम-विभाजन को आवश्यक बना दिया, अर्थात **वर्ण** विभाजन की स्थापना उनके अलग-अलग कर्मों के साथ आवश्यक हो गयी। जो पहले एक अखंड साम्य संघ था, जिसके सब सदस्य एक-दूसरे पर आश्रित और सम्बंधित होते थे, उसके सदस्य उसी समाज के स्वतंत्र अंगों के रूप में **वर्णों** में विभाजित हो गये, और वे स्वतंत्र **गण** जो पहले असम्बद्ध और छितराये हुए थे, एकता के नीचे सम्बद्ध हुए तथा एक-दूसरे पर आश्रित होकर विकासशील संसार में रहने लगे। जैसा मार्क्स ने कहा था कि इस सबमें सबसे अधिक शक्तिशाली तत्व जीवन की आवश्यकताओं का उत्पादन, वितरण और विनिमय था। इसी तत्व ने पहले **ब्रह्मन्** साम्य संघ का निर्माण किया था, और इसीने बाद के नूतन विकासशील **वर्ण समाज** को जन्म दिया।

सामाजिक श्रम-विभाजन और विनिमय दोनों में परस्पर प्रतिक्रिया हुई और दोनों ने मिलकर उत्पादन की वृद्धि की। विकास की इस अवस्था में उत्पादन के साधनों को उन्नत करने के लिए दो महत्वशील सफलताएं प्राप्त की गयीं। एक तो **खेती** का आविष्कार किया गया और दूसरे कच्ची **धातुओं को पिघलाने** तथा बुनाई के काम का आविष्कार हुआ।[५] "काले सागर के घास के मैदानों और तूरान के पठारों पर जाड़ा बहुत लम्बा और कड़ा होता था, इसलिए वहां जाड़ों के लिए चारे का इन्तजाम किये बिना चरागाहों का जीवन बिताना असंभव था। अतएव, वहां घास उगाना और अनाज पैदा करना नितान्त आवश्यक था ... और जब एक बार जानवरों के लिए अनाज बोया जाने लगा, तो शीघ्र ही वह मनुष्यों का भी भोजन बन गया।"[६] साम्य संघ के हाथों में खेती की जमीन उत्पादन का एक नया साधन बन गयी।

---

* ब्रह्म वा इदमग्र आसी देकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्।
तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्, यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि ...

५. इसी काल में "ऋग्वेद" में वर्णित "अयस्कर" (धातु गलानेवाला) और "तन्तुवाय" (बुनाई का काम करनेवाला) उत्पन्न हुए थे।

६. एंगेल्स, "परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति," पृष्ठ २२३।

धातु पिघलाने का काम पहले ताम्बा, टिन और उनके मिश्रण कांसे को ही गलाने तक सीमित था। इन्हीं धातुओं से काम के औजार या हथियार बनाये जाते थे, यद्यपि ये पत्थरों के औजारों की जगह नहीं ले सके थे, क्योंकि लोहे को गलाये बिना पत्थरों के औजारों को हटाया नहीं जा सकता था। सोने और चांदी का प्रयोग गहनों के रूप में होना शुरू हो गया था, लेकिन उसे मुद्रा में ढाला नहीं गया था। खेती के साथ-साथ **दस्तकारी** भी शुरू हो गयी थी। लेकिन एक ही व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं था कि वह इन अलग-अलग कामों को एक साथ कर सके; **इसलिए सामाजिक श्रम का एक दूसरा महत्वपूर्ण विभाजन प्रकट हो गया—खेती के काम से दस्तकारी का काम अलग हो गया।** उत्पादन का विभाजन जब इन दो प्रमुख शाखाओं में हुआ—खेती और दस्तकारी में—तो सीधे रूप में ऐसी वस्तुओं का उत्पादन होने लगा जो विनिमय के लिए होती थीं। विनिमय के लिए वस्तुओं का उत्पादन करना विकाऊ-माल का उत्पादन है। विनिमय के साथ व्यापार का उदय हुआ और व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ बहुमूल्य धातुओं और सामान्य मुद्रा वस्तुओं का महत्व बढ़ने लगा। प्राचीन काल में सबसे अधिक उपयोगी वस्तु पशु ही मुद्रा के रूप में प्रचलित था। अब उसका स्थान बहुमूल्य धातुओं ने ले लिया।

इन सब बातों का असर **गण** साम्य संघ के सदस्यों के परस्पर सम्बंधों पर, उनकी सम्पत्ति और उत्पादन सम्बंधों पर कैसे पड़ा?

उत्पादन की नयी शक्तियों ने साम्य संघ में, उसके सामाजिक या साम्पत्तिक सम्बंधों में एक क्रान्ति ला दी।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि **वर्णों** के रूप में प्रकट होकर सामाजिक श्रम-विभाजन ने उत्पादन की सामूहिकता का नाश कर दिया। पहले सार्वजनिक **यज्ञ** की पद्धति के अनुसार सार्वजनिक अग्नि के चारों ओर उत्पादन और उपभोग किया जाता था। उसके स्थान पर अब अलग-अलग गृहस्थियों और **गृह-अग्नियों**[७] का निर्माण होने लगा। साम्य संघ की महाग्नि के, जिसे **त्रेताग्नि** भी कहते हैं, साथ-साथ व्यक्तिगत **गृह-अग्नियों** का भी उदय होने लगा। जब उत्पादन की सामूहिकता नष्ट हो गयी, तो उसका सामूहिक उपभोग और सामूहिक नियंत्रण

---

७. इसी अवस्था से "अथर्ववेद" के "गृह्य-सूत्रों" और "गृह्य-कर्मों" का आरम्भ होता है, क्योंकि इसका उदय पुरातन देवों द्वारा दी गयी सामूहिक सम्पत्ति और तीन "वेदों" की "त्रेताग्नि" के खंडित और पतित हो जाने के बाद व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर हुआ था। इसलिए "अथर्ववेद" को (साथ में "गृह्य" को भी) उतनी महत्वपूर्ण धार्मिक प्रतिष्ठा नहीं दी गयी जितनी कि अन्य तीन "वेदों" को मिली। "त्रयी" और "त्रिविद्या" की प्रतिष्ठा विशेष रूप से की गयी।

भी नष्ट हो गया। व्यक्तिगत श्रम, व्यक्तिगत उपभोग और व्यक्तिगत विनिमय का प्रभुत्व समाज पर होने लगा। दूसरे शब्दों में साम्य संघ के गर्भ में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अस्तित्व हो गया।

व्यक्तिगत उत्पादन और उपभोग के द्वारा सम्पत्ति की विषमता उत्पन्न होती है। इसका अर्थ यह है कि साम्य संघ दो वर्गों को जन्म देता है। एक वर्ग धनी और दूसरा निर्धन, एक शोषक और दूसरा शोषित होता है, और जल्दी ही ये दो वर्ग स्वामी और दास वर्गों में परिणत हो जाते हैं।

सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि यह सम्पत्ति कहां केन्द्रित होती है और कहां अपना प्रभुत्व स्थापित करती है?

उन्नतिशील साम्य संघ अपने आन्तरिक श्रम-विभाजन में इस बात के लिए बाध्य हो जाता था कि वह युद्ध परिचालन और सुरक्षा के काम को विशेष निर्वाचित व्यक्तियों और अधिकारियों के हाथों में सौंप दे। ये ही युद्ध के परिचालक और सुरक्षा के अधिकारी क्षत्र हो गये। उसी तरह से ऋतुओं का निरीक्षण, बाढ़ और नदियों, आदि की गति को जानने का कार्य — जिससे सामाजिक-आर्थिक चेष्टाओं को गति दी जा सके — कुछ लोगों पर छोड़ दिया गया। वे बाद में ब्राह्मण कहलाये और बाकी सब विश या **साधारण लोग** थे। इन लोगों की संख्या सबसे अधिक थी।* ये पशु-पालन करते थे, उनकी नस्ल बढ़ाते थे, दस्तकारी और खेती का काम करते थे। पर अभी तक वे एक थे और एक ही साम्य संघ में निवास करते थे। लेकिन वे उस अवस्था की ओर तेजी से बढ़ रहे थे जहां विस्फोट द्वारा साम्य संघ टूटने जा रहा था। श्रम-विभाजन और विनिमय के कारण जैसे-जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति का एकत्रीकरण और उसके द्वारा शोषक और शोषित वर्गों का विरोध पैदा होता जा रहा था, वैसे-वैसे विस्फोट की अवस्था परिपक्व हो रही थी।

गण-युद्धों का परिचालन और वस्तुओं के विनिमय का काम पहले साम्य संघ के **गणपति, बृहस्पति** अथवा **प्रजापति** करते थे। ये लोग ब्रह्मन अथवा क्षत्र **वर्ण** के होते थे। पकड़े हुए युद्धबंदी, पशु और धन पहले उनके पास आते थे, और उनके द्वारा साम्य संघ के पास पहुंचते थे। इसलिए व्यापार और धन की उन्नति उन्हीं के द्वारा हो रही थी।

धीरे-धीरे जब सामूहिकता टूटने लगी, तब विनिमय के क्षेत्र में धन-सम्पत्ति एकत्र होकर क्षत्र और ब्रह्मन के अथवा **प्रजापतियों** या **गणपतियों** के हाथों में संचित होने लगी। समाज वर्गों में बंट गया था। एक ओर धन-सम्पत्ति वाले क्षत्र और ब्रह्मन थे और दूसरी ओर परिश्रम करनेवाले विश तथा अन्य

---

* ते भू यांसः। तैत. संहिता, ७७-१-१-४।

लोग हो गये थे। समाज अमीरों और गरीबों में बंट गया। व्यापार के द्वारा जब बहुमूल्य धातुओं (हिरण्य या सोना) ने धन का रूप लिया, तो सम्पत्ति को एकत्र करना आसान हो गया। क्षत्र और ब्रह्मन पशु, अन्न और धन के अधिकारी बन गये; और बाद में दासों पर भी उनका अधिकार होने लगा।

फिर भी यहां पर एक बात ध्यान देने योग्य है। यह नहीं माना जा सकता कि धनी शोषक और गरीब शोषित का भेद ब्रह्मन-क्षत्र और विश-शूद्र के भेद में पूरी तरह से व्याप्त था। यद्यपि ब्रह्मन-क्षत्र कहानेवाले अधिकतर लोग शोषक वर्ग में सम्मिलित हो गये थे, फिर भी उसमें ऐसे बहुतेरे व्यक्ति थे जो गरीब वैश्यों के समान थे।

शूद्र **वर्ण** अथवा दास प्रथा के शुरू होते ही तीन **वर्णों** का उदय हुआ। इसका क्या कारण था ? इसका कारण यह था कि जिस प्रगति द्वारा दासता का जन्म हुआ था, उसीसे **वर्णों** की भी उत्पत्ति हुई थी। श्रम की विभिन्नता तथा उसकी उत्पादन-शक्ति में वृद्धि, विनिमय और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय ने ही इन दो कोटियों के **वर्णों** को जन्म दिया था। इस बारे में एंगेल्स ने कहा है कि "जैसे ही मनुष्य ने वस्तुओं का विनिमय प्रारम्भ किया, वैसे ही उसका भी विनिमय होने लगा।"

एंगेल्स कहते हैं :

"जब पशु-पालन, खेती, घरेलू दस्तकारी — जब सभी शाखाओं में उत्पादन का विकास हुआ, तो मानव श्रम-शक्ति को कायम रखने में जितना खर्च होता था, उससे अधिक वह पैदा करने लगी। साथ ही गण के या परिवारिक समाज के, अथवा अलग-अलग परिवारों के प्रत्येक सदस्य के जिम्मे पहले से कहीं ज्यादा काम पड़ने लगे। इसलिए जरूरत महसूस हुई कि कहीं से और श्रम-शक्ति लायी जाय। वह युद्ध से मिली। युद्ध में जो लोग बन्दी हो जाते थे, अब उनको दास बनाया जाने लगा। उस समय की साधारण ऐतिहासिक परिस्थितियों में समाज में जो पहला बड़ा सामाजिक श्रम-विभाजन हुआ, वह श्रम की उत्पादन शक्ति को बढ़ाकर, अर्थात धन में वृद्धि करके, और उत्पादन के क्षेत्र को विस्तार देकर, अपने पीछे लाजिमी तौर पर समाज में दास प्रथा को ले आया। पहले बड़े सामाजिक श्रम-विभाजन के परिणाम-स्वरूप खुद समाज का पहला बड़ा विभाजन हो गया, समाज दो वर्गों में बंट गया : एक ओर दासों के मालिक हो गये और दूसरी ओर दास; एक ओर शोषक हो गये और दूसरी ओर शोषित।"

(**परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति,** पृष्ठ २२३-२४)

यह हम देख चुके हैं कि **गण** साम्य संघ में, अथवा उस प्राचीन **ब्रह्मन्** में जहां पर **यज्ञ** विधि के अनुसार उत्पादन होता था, दास या शूद्र के लिए कोई स्थान न था। इसलिए **गणों** में जब परस्पर युद्ध होता था, तो अधिकतर पकड़े हुए बंदियों को **पुरुषमेध** के अनुसार मार डाला जाता था। लेकिन जब मनुष्य की श्रम-शक्ति उत्पादन के नये साधनों और उत्पादक शक्तियों के द्वारा अपनी आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन और स्वयं का भी निर्माण करने लगी, तब यह संभव हो गया कि युद्ध-बंदियों का उपयोग बिना उनकी हत्या किये हुए किया जाये। उनसे श्रम लिया जा सकता था। उनके अतिरिक्त उत्पादन से उनके स्वामी अपना जीवन-निर्वाह कर सकते थे। दास प्रथा के आते ही **सत्र,** जो **जनमेजय** द्वारा किये गये **सर्प-सत्र** की भांति युद्ध-बंदियों की हत्या कर सकता था, **यज्ञ** पद्धति के ऐतिहासिक मंच से एकदम लुप्त हो गया। अब आर्यों के सामाजिक संगठन में पराजितों को चौथे **वर्ण** या शूद्र के रूप में स्थान मिलने लगा। उन्हें आर्यों के समाज की सेवा का काम सौंपा गया। आर्यों के समाज ने अपने लिए स्वतंत्रता और अनार्यों के स्वामी होने के पद को सुरक्षित रखा। ये अनार्य या तो युद्ध-बंदी होते थे, या और किसी प्रकार से पकड़ लिये जाते थे। इन अनार्यों को बेचा जा सकता था, किराये पर लिया जा सकता था अथवा मार डाला जा सकता था। उनका किसी भी सम्पत्ति पर अधिकार नहीं था, उनका कोई परिवार नहीं हो सकता था और न उनका कोई देवता ही था। यद्यपि सृष्टि की योजना में प्रत्येक **वर्ण** की भांति उन्हें भी एक पशु-घोड़ा दिया गया था, जो युद्ध स्थल में सबसे अधिक महत्वशील पशु था; पर इसका अर्थ केवल इतना ही है कि युद्ध के सेनानी, **गण** के अधिपति अथवा क्षत्र **वर्ण** के लिए वे अश्व के ही समान थे। बाद में वे **गण** सदस्यों के हाथों बेच दिये जाते थे जो उनसे श्रम लेते थे।*

अपने आरम्भ काल में दासता, पितृसत्ता के नीचे काम करती थी। यह पितृसत्ता परिवार-गत लोगों से सम्बद्ध होती थी। इस पितृसत्ता के कुटुम्ब में दास लोग नर और नारियों के साथ, तथा पुत्र और पुत्रियों के साथ **गृहपति** की देख-रेख में काम करते थे। पर विनिमय की वृद्धि के साथ जब व्यापार और विनिमय की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ने लगा, तब दासों से बहुत कठोर श्रम लिया जाने लगा। उन्हें झुंडों में एकत्रित कर उनसे दस्तकारी, खेती और खनिज पदार्थ निकालने का काम लिया जाता था। उस समय दासता का पितृ-

---

* तस्मात् तौ भूतसंक्रामिणौ अश्वाश्च शूद्राश्च
तस्मात् शूद्रो यज्ञे अनवक्लृप्तो न हि देवतः अन्व सृज्यन्त।
तस्मात् पादौ उपजीवतः। तैत. सं. ७-१-१-४।

सत्तात्मक रूप खत्म होने लगा और दासों के लिए दासता एक दारुण अत्याचार के रूप में प्रकट होने लगी। दासों के स्वामियों में धन एकत्र करने का लोभ तीव्र होता गया। **ऋग्वेद** के युग में दासता इस व्यापारिक अवस्था तक नहीं पहुंच पायी थी, लेकिन इस अवस्था तक शीघ्र ही पहुंचनेवाली थी। **ऋग्वेद** के लेखक अपने इस आविष्कार पर अत्यंत प्रसन्न दिखाई देते हैं। दासों के द्वारा स्वामियों को जो आनन्द मिलता था, उसका बड़े उत्साह के साथ वे गुणगान करते थे। आज वे ही गीत हिन्दुओं की "ईश्वर प्रदत्त" **वैदिक** परम्परा का एक अंग हैं। इस व्यवस्था की अलौकिक "कृपा या करुणा," जिसे दासों का अधिकार माना जा सकता है, यह थी कि पहले की व्यवस्था में युद्ध-बंदी **पुरुषमेध** की **अग्नि** में मार डाले जाते थे, लेकिन अब उन्हें मारा नहीं जाता था और उनके जीवन को द्विज आर्यों के शोषण की धीमी आंच में जलने के लिए और "**पुरुष-सूक्त**" के गीत गाने की प्रेरणा देने के लिए छोड़ दिया जाता था। स्वतंत्रता से लेकर पराजय और शूद्र-दासता तक, सम्पूर्ण नाश से लेकर शोषण तक—क्या यह उस अवस्था में समाज के विकास का एक प्रगतिशील चरण नहीं था? दास को अपना जीवन मिल जाता था, आर्यों को अपना धन मिल जाता था। इसी आधार पर दोनों और अच्छे जीवन के लिए आगे बढ़ते थे। इसका निर्माण उत्पादन शक्तियों को और भी बढ़ावा देता था। उत्पादन की ये शक्तियां केवल दासता द्वारा ही बढ़ सकती थीं। लेकिन आर्य विजेता इस शैली में अपनी बात नहीं कहते थे। महान **ब्रह्मन्** ने शूद्रों को केवल दासता करने के लिए उत्पन्न किया। और यह दासता स्वतंत्र आर्यों के तीन **वर्णों** की गुलामी थी। ऐसा करने के बाद **ब्रह्मन्** उन्नत होता गया—वे पूरी बात इसी शैली में कहते थे। पर अब वह पुराना आनन्दमय **ब्रह्मन्** नहीं था।

पुरातन **यज्ञ-पुरुष** के महान प्राचीन **ब्रह्मन्** ने दासता, **त्रि-वर्णों** और शूद्र को, वर्ग-विभेद को तथा उसके द्वारा उत्पन्न **द्वापर** युग के वर्ग संघर्ष को जन्म दिया। यह उसका अंतिम कृत्य था। एक बार जब अग्नि और पशु का आविष्कार हो गया, तो मरणासन्न **ब्रह्मन्-प्रजापति** जीवित हो उठा था और **यज्ञ** द्वारा उसकी वृद्धि होने लगी थी। पर अब खेती, दस्तकारी, विनिमय, व्यक्तिगत सम्पत्ति और **वर्णों** की उत्पत्ति के कारण उन घटनाओं का एक क्रम चला जिसमें वर्ग संघर्ष और वर्ग शासन-सत्ता का जन्म हुआ और उसने **ब्रह्मन्** को सदा के लिए मार डाला। **ब्रह्मन्** की इस मृत्यु पर **महाभारत** में अनेक शब्दों में विलाप किया गया है—जैसे "**ब्रह्म ननाश ह।**" आगे हम देखेंगे कि वह कैसे संभव हुआ था?

नवां अध्याय

मरणासन्न साम्य संघ का आर्तनाद और उठती हुई व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरोध में उसका संघर्ष

वर्णों के रूप में सामाजिक श्रम का विभाजन एक ऐसी आवश्यकता थी जो उत्पादित चीजों, उत्पादन तथा उससे सम्बंधित कार्यों की बढ़ती विभिन्नताओं से उत्पन्न हुई थी। जब तक समाज के ऊपर विनिमय के लिए उत्पादन को बढ़ाने की पागल दौड़, मुनाफे का लोभ और चीजों को सस्ती करने की प्रतियोगिता छा नहीं जाती है, तब तक सामाजिक विभाजन उत्पादन तथा उसके गुणों की उपयोगिता को बढ़ाया करता है। "उत्पादन के सामाजिक विभागों को अलग-अलग कर देने से वस्तुएं अच्छी तरह बनायी जाती हैं, तथा व्यक्ति अपने सम्मान और प्रतिभा के अनुसार उपयुक्त क्षेत्र चुन सकते हैं। बिना किसी नियंत्रण के किसी खास फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए श्रम के विभाजन से उत्पादन और उत्पादक दोनों की भलाई होती थी।"[1] प्राचीन वैदिक समाज की वर्ण व्यवस्था, और जहां तक जातियां पेशों से मेल खाती थीं वहां तक, परवर्ती काल में जाति व्यवस्था की स्थिरता की नींव इसी बात पर रखी हुई थी।

लेकिन इस प्रकार का सामाजिक श्रम-विभाजन पहले से एक ऐसे समाज के अस्तित्व को मानता है जिसमें उत्पादन के साधन पिछड़े हुए हों और जिसका आधार खेती तथा दस्तकारी हो। ऐसा हम भारत के मध्य-कालीन और प्राचीन समाज में पाते हैं। जब उत्पादन के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगते हैं और उनके स्थान पर आधुनिक साधनों का प्रयोग शुरू हो जाता है, तब पुराना सामाजिक संगठन अपनी सत्यता के प्रमाण और आवश्यकता को नष्ट कर छिन्न-भिन्न होता हुआ गिरने लगता है।

यह आवश्यक नहीं कि वर्णों में बंट जाने की वजह से ही वर्ग संघर्ष अथवा वर्ण युद्ध आरम्भ हो गये हों। अगर प्राचीन साम्य संघ की अर्थ व्यवस्था

---

१. मार्क्स, "कैपिटल," भाग १, मास्को, १९५४, पृष्ठ ३६५।

में दासता और व्यक्तिगत सम्पत्ति ने आकर उन वर्गों को जन्म न दिया होता, जिनके हित एक-दूसरे के विरोधी थे, तो वर्ग संघर्षों और **वर्ण** युद्धों की शुरूआत हम अपने इतिहास में नहीं पा सकते थे।

पर यह एक बिलकुल नया तत्व था जिसने उस साम्य संघ के लोगों की कल्पना को विचलित कर दिया जिसमें अधिक जनसंख्या गरीबों की थी। **गण** लोकतंत्रवाद ने **वर्णों** को अपना-अपना कर्म-क्षेत्र विकसित करने और अपने श्रम-फलों के उपभोग की आज्ञा दी थी। **वर्ण-धर्म** ने उन नियमों का प्रतिपादन किया जिनसे यह मालूम होता था कि हर **वर्ण** के व्यक्ति को क्या करना चाहिए, क्या मिलना चाहिए, और उसे कैसा आचरण करना चाहिए जिससे सबका कल्याण हो और सब लोग आनन्द से रहें। प्राचीन **कृत-त्रेता** युग में **यज्ञ** क्रियाशीलता का समस्त फल सबों को मिलता था। उन दिनों **वर्णों** के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं थी। जो कुछ भी उत्पन्न होता था, उसमें **हवन** के द्वारा सबको बराबर भाग मिलता था। जब सार्वजनिक क्रियाशीलताएं अनेक हो गयीं, तब उन्हें **वर्णों** में बांट दिया गया, और उसी प्रकार उसके फल भी बांट दिये गये। लेकिन साम्य संघ की दीनता और वैभव का बंटवारा समान रूप से नहीं किया गया। उसके स्थान पर कुछ थोड़े से लोगों के पास तो सारा वैभव संचित हो गया, और दूसरे सब लोगों को दीनता सौंपी गयी।

वे व्यक्ति, जिन्हें **यज्ञ** उत्पादन को संचालित करने के लिए चुना जाता था, अथवा ब्राह्मण, सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के नेता बन गये। संचालन और विधि के ज्ञान द्वारा प्राप्त शक्ति का उपयोग उन्होंने किया। उनकी क्रियाशीलता से जो फल निकलता था, पहले उसका उपभोग सब लोग करते थे, लेकिन अब वे स्वयं उस फल के स्वामी बनने लगे। क्षत्र सरदारों ने भी वैसा ही किया। ये लोग युद्ध का संचालन करने के लिए **गण** द्वारा चुने जाते थे। केवल विश लोकतंत्र ही शूद्रों के साथ मिलकर दरिद्रता और कठोर परिश्रम को सहता रहा। व्यक्तिगत सम्पत्ति, अधिकार और धनी होने के विरुद्ध सामूहिक सम्पत्ति असंतोष की भावना प्रकट करती रही। **यज्ञ** पद्धति के साम्य संघ में ऐसा कभी नहीं हुआ था कि कुछ लोगों को अन्न मिले और दूसरे लोग भूख से मरें। प्राचीन **देव गणों** में लोग उस जघन्य वस्तु के पीछे शिकारी की तरह नहीं टूटते थे जिसे स्वर्ण (**हिरण्य**) या मुद्रा कहा जाता था। प्राचीन युग के इन्द्र ने पत्थरों और हड्डियों के हथियारों से युद्ध किया था; गायों, पशुओं के चरागाहों और जल पर विजय पायी थी। वह पीता था और गर्जन करता था। पर उन दिनों वे किसी के धन को अपना मानकर उसे केवल अपने लिए संचित करके नहीं रखते थे। उन बीते हुए दिनों में वे छोटे **गणों** में अथवा **अश्मव्रज** की छोटी बस्तियों में निवास करते थे। वहां एक सार्वजनिक अग्नि को चारों ओर से घेरकर वे

बैठते थे। **गण** की माता उन्हें भोजन कराती थी। वे एक साथ गाते थे। गरीब होने पर भी वे प्रसन्न थे।

पर अब **ऋग्वेद** में कवि ने दुःखभरे शब्दों में कहा था :

> "क्या ईश्वर के हाथों में मनुष्य के लिए अकेला दंड भूख है? अगर देवता की यह इच्छा है कि गरीब लोग भूख से मरें, तो धनी लोग अमर क्यों नहीं हैं? मूर्ख (धनी) के पास भोजन का जमा होना किसी की भलाई नहीं करता। वह सिर्फ अपने-आप ही खाता है, अपने दोस्तों को भोजन नहीं देता। लोग उसकी बुराई करते हैं।"[2]

विनिमय, बाजार, व्यक्तिगत श्रम और उसका नियंत्रण जब समाज में होने लगा, तो वह नयी व्यवस्था प्रत्यक्ष हो गयी जहां मनुष्य धन और काम के लिए तथा अपनी चीजों और मेहनत को खरीदनेवाले गाहक के लिए दौड़-धूप शुरू कर देता है।

वेद का कवि फिर असंतुष्ट होकर कहता है :

> "हमारे पास अनेक काम, अनेक इच्छाएं, और अनेक संकल्प हैं। बढ़ई की कामना आरे की आवाज सुनने की है। वैद्य रोगी की कराह सुनने की अभिलाषा रखता है। ब्राह्मण को यजमान की लालसा है। अपनी लकड़ी, पंखा, निहाई और भट्टी को लेकर लुहार किसी धनी की राह देख रहा है। मैं एक गायक हूं। मेरा पिता वैद्य है। मेरी मां अन्न कूटती है। जिस तरह से चरवाहे गायों के पीछे दौड़ते हैं, हम लोग उसी तरह से धन के पीछे दौड़ रहे हैं।"[3]

ऋग्वेद के मंडलों में, जो बाद में लिखे गये हैं, कर्जदारों, जुआरियों, दासों और एक आदमी की दूसरे के प्रति ईर्षा तथा घृणा का वर्णन किया गया है।

यह तसवीर उस समय की है जब **गण** समाज या साम्य संघ में बिकाऊ वस्तुओं का उत्पादन शुरू हो गया था और सामूहिकता का नाश हो गया था। पहले जब वस्तुओं का उत्पादन उपयोग के लिए हुआ करता था, तो उन पर उत्पादकों का नियंत्रण होता था। उनके उत्पादन और उत्पादित वस्तुओं पर सामूहिक नियंत्रण रहता था। वे यह जानते थे कि उनके उत्पादन का क्या उपयोग होता है। वे उनका उपभोग करते थे। दूसरे लोग उनके साथ कोई छल-कपट नहीं कर सकते थे।

---

२. ऋग्वेद : १०; ११७।
३. ऋग्वेद : ९; ११२–१–३।

परन्तु विनिमय और बिकाऊ वस्तु के उत्पादन द्वारा वस्तु एक हाथ से दूसरे हाथ में जाती थी। उत्पादक अपनी वस्तुओं को विनिमय में दूसरे को दे देता था, और उनका भविष्य में क्या होगा, इस बारे में वह कुछ नहीं जानता था। इसी व्यवस्था में एक नया तत्व आ गया, मुद्रा; एक नया वर्ग आ गया— व्यापारी वर्ग; और एक नयी शक्ति आ गयी—अनजाना बाजार। उत्पादक और उपज बाजार, मुद्रा, मांग और अवसर के आधीन हो गये। उत्पादक अपने श्रम के फल का उपभोग सीधी तरह से अपने लिए नहीं कर सकता था। वह "भाग्य" के आधीन हो गया। अब उसके सामने ऐसी विरोधी दृढ़ शक्तियां आ गयीं जिन्हें उसने कभी देखा नहीं था, और जाना भी नहीं था। उन शक्तियों पर कोई नियंत्रण नहीं था। उस नयी शक्ति ने उसके पूरे जीवन को और श्रम करने की क्षमता को जकड़ लिया। वह शक्ति सजीव और दृढ़ थी। फिर भी यह उसी शक्ति पर निर्भर था कि वह दूसरों को भोजन देगी या नहीं। धनी और गरीब के बीच, शोषकों और शोषितों के नये वर्गों के बीच इस प्रकार से विरोध बढ़ने लगे।[४]

यज्ञ गण संघ ने जिसकी कल्पना तक नहीं की थी और जो गण समाज के गर्भ में धीरे-धीरे परिपक्व हो रहा था, वह विरोध हिंसात्मक रूप में फूट पड़ा। उस वर्ग के दो भागों में, जो समाज की आर्थिक व्यवस्था पर अधिकार किये हुए थे, शोषण द्वारा प्राप्त सम्पत्ति पर प्रभुत्व जमाने के लिए संघर्ष शुरू हो गया। जिस सम्पत्ति का उत्पादन विशाल विश कृषक लोकतंत्र और शूद्र मिलकर करते थे, उसे आत्मसात करने के लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय **वर्गों** में युद्ध होने लगे। शोषण करने की शक्ति पर अधिकार करने के लिए तो ब्राह्मण और क्षत्रिय आपस में लड़ते थे, पर विश समाज के विरोध में खड़े होने के लिए वे दोनों एक हो जाते थे। विश समाज अब भी पुराने साम्य संघ के अस्तित्व के लिए, उसके **धर्म**, आचार और नैतिकता के लिए, उसकी आर्थिक व्यवस्था और संगठन के लिए लड़ रहा था। इस समय सामूहिक भूमि ही और पूरी जाति के कल्याण के लिए उस पर की गयी सार्वजनिक खेती ही सामूहिकता का आधार रह गयी थी। बिना संघर्ष के यह सामूहिकता व्यक्तिगत सम्पत्ति के सामने

---

४. और उसके बाद पहली बार हिन्दू समाज में "कर्म दर्शन" और "कर्म से मोक्ष" पाने, यानी "मोक्ष" सम्बंधी प्रश्नों का उदय हुआ था। "वैदिक" साम्य संघ में इस प्रकार के प्रश्न नहीं उठ सकते थे।

किं तु कर्मस्वभावोऽयं ज्ञानं कर्मेति वा पुनः।
पौरुषं कारणं केचिदाहुः कर्मसु मानवाः।
दैवमेके प्रशंसति स्वभावमपरे जनाः। महाभारत, शांति पर्व, २४४—४।

आत्मसमर्पण करने के लिए तैयार नहीं थी। अभी तक चला आता हुआ अखंड **ब्रह्मन्** अधिकार-युक्त **वर्ण**-वर्गों के एकांगी निजी स्वार्थों के सामने पराजित होने से इनकार कर रहा था। एक रक्तपात-पूर्ण युद्ध प्रारम्भ हो गया। **वैदिक और** महाकाव्यों की परम्परा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह युद्ध अनेक वर्षों तक चला था।

ऐसा लगता है कि अपने विकास के आरम्भिक युद्धों में शोषक वर्ग हराया गया था। उस हार की यादगार **कृष्ण यजुर्वेद** के **तैत्तरीय अरण्यक** (५–१) की एक **आख्यायिका** में सुरक्षित मिलती है। इस **आख्यायिका** (कथा) में विष्णु का अन्य देवों के साथ किसी युद्ध का वर्णन है। अगर इस कथा पर चढ़ाये गये धार्मिक, रहस्यमय अथवा बर्बर युग के वेष्ठन को हटाकर देखा जाय, तो यह कथा दो विरोधी वर्गों के संघर्ष को इस प्रकार से कहती है :

प्राचीन काल में देवों ने एक सत्र शुरू किया। हम देख चुके हैं कि **यज्ञ** विधि के अनुसार जो सामूहिक उत्पादन किया जाता था, उस क्रिया का नाम **सत्र** था। इस **सत्र** को शुरू करने के पहले उन लोगों ने आपस में यह समझौता किया कि इस **सत्र** द्वारा जो भी उत्पादन होगा, उस पर सबका अधिकार होगा और हर व्यक्ति को उस उपज का समान भाग मिलेगा। (जहां तक इस समझौते का सवाल है, वह तो पहले से ही उस **यज्ञ** में निहित था, क्योंकि वह **सत्र यज्ञ** था। परन्तु परवर्ती काल का लेखक इस बात को और भी स्पष्ट रूप से कहना चाहता है जो इस इतिहास के लिए और भी कल्याणकारी है!) इस **यज्ञ** में सम्मिलित होनेवाले देवों की संख्या इतनी अधिक थी और **यज्ञ** की **अग्नि** इतनी विशाल थी कि इस **यज्ञ** का विस्तार बहुत बड़े क्षेत्र में हुआ। कुरुक्षेत्र उस **यज्ञ** की **वेदी** बना। उस **वेदी** के दक्षिण में खांडव प्रदेश था। **वेदी** की पश्चिमी सीमा रेखा को छूता हुआ परिणत (समुन्नत और विकसित चरागाह भूमि) प्रदेश था। **वेदी** के उत्तर में तुघ्र क्षेत्र था (तुरुष्क अथवा तुर्वष **गण** का निवास स्थान)। जलहीन और उजाड़ मरु (मारवाड़) का प्रयोग **सत्र** के धूर के रूप में किया गया। **सत्र यज्ञ** में, जैसा हम जानते हैं, प्रत्येक भाग लेनेवाला व्यक्ति **रित्विज** होता था और **गृहपति यजमान** होता था। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को काम करने और उपभोग करने का समान अधिकार होता था। लेकिन **यज्ञ** को संचालित करने के लिए अपने बीच में से सब लोगों को एक **गृहपति** चुनना पड़ता था। देवताओं के इस **सत्र यज्ञ** में विष्णु को **गृहपति** चुना गया और **यज्ञ** आरम्भ हुआ। **यज्ञ** में यद्यपि सभी देवता समान श्रम कर रहे थे, लेकिन चारों ओर यह बात फैल गयी कि "विष्णु द्वारा **सत्र यज्ञ** हो रहा है।" विष्णु ने **सत्र** द्वारा उत्पन्न वस्तुओं को, जिन्हें "**क्तृत्व**" कहते हैं, स्वयं आत्मसात करने की कोशिश की। उन्हें अभिमान हो गया था।

वे खुले रूप में देवों के शत्रु बन गये थे। इसलिए सब देवों ने मिलकर विष्णु पर आक्रमण किया जिससे कि वह **यज्ञ** में उत्पन्न वस्तुओं के उनके भाग को जबरदस्ती उनसे छीन न सकें। पर विष्णु को चुनाव द्वारा सबका अधिकारी चुना गया था। इसलिए केवल वे ही हथियार रख सकते थे। उनके पास धनुष और बाण थे; और **यज्ञ** की विधि के अनुसार देवताओं के पास अस्त्र नहीं थे। विष्णु को सशस्त्र देख देवता लोग भाग गये। इस विजय के कारण विष्णु अपनी रक्षा के बारे में सावधान नहीं रहे। आगे उन्होंने कुछ नहीं किया। धीरे-धीरे उनकी शस्त्र की सजगता भी कम होती गयी। और इसलिए जो "**यज्ञ-तेज**" उन्होंने पहले पाया था, वह क्षीण होने लगा। लड़कर विजय पाने की शक्ति (**यज्ञ-तेज**) जब विष्णु में नहीं रही, तब देवताओं ने उस शक्ति को पकड़कर "श्यामत" की झाड़ियों में दबा दिया। यह देखकर कि देवता लोग तितर-बितर हो गये हैं, विष्णु ने अपना धनुष भूमि पर रख दिया, और अपनी ठोड़ी धनुष की कोटि पर टेककर लेट गये। यह देखकर देवताओं ने दीमकों की सहायता ली। उन्होंने दीमकों से कहा कि वे विष्णु के धनुष की डोरी को काट दें। जब धनुष की डोरी कट गयी, तब धनुष छूट गया और विष्णु का सर उड़ गया। उस समय **यज्ञ-पुरुष** यानी विष्णु का शरीर तीन देवताओं के बीच बांट दिया गया। अग्नि, इन्द्र और विश्वदेव को वे भाग मिले। पर शरीर में सर नहीं था, इसलिए **यज्ञ** का फल प्राप्त नहीं हो सका। तब देवताओं ने **अश्विनों** को बुलाया। वे देवों के वैद्य थे। इस शर्त पर कि उनको भी कुछ भाग मिलेगा, उन्होंने सर को शरीर से जोड़ दिया। तब **यज्ञ** का फल प्राप्त हुआ।

आर्यों के समाज में गृह-युद्ध का, शायद सबसे प्राचीन वर्ग संघर्ष का वर्णन करनेवाली यह कथा है। यह स्वयं इतनी स्पष्ट है कि इस पर टीका करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। सामाजिक उत्पादन और वितरण की समानता को गिराकर नष्ट कर दिया गया था। असमानता अथवा विषमता, धनी और गरीब का संघर्ष, साम्य संघ का विभाजन — इस कथा में वर्णित **यज्ञ-पुरुष** का तीन **वर्णों** में बंटना; कथा में आये हुए तीन देवता तीन **वर्णों** के प्रतिनिधि हैं : अग्नि (ब्राह्मण का), इन्द्र (क्षत्रिय का), और विश्वदेव (वैश्य का); उस नये नियम का पालन करना जिसके अनुसार सशस्त्र संचालन को अभिषिक्त कर प्रतिष्ठित किया जाता था और जो शासन-सत्ता का रूप ले रहा था — ये सभी वस्तुएं अस्तित्व में आने के लिए संघर्ष कर रही थीं। समाज उन दो विभागों में बंट गया था जिनमें से एक उत्पादन करता था और दूसरा उत्पादकों के अतिरिक्त उपज पर अपना अधिकार या नियंत्रण करता था। एक विभाग शोषकों का था और दूसरा शोषितों का। शोषित गरीब लोगों को अपने **सत्र** के समानाधिकारों और समूहवादिता को, शोषकों के शासन के आगे या तो छोड़ना पड़ता था या लड़ना

पड़ता था। यह बात स्वीकार कर ली गयी थी कि समाज ऐसे दो विरोधी तत्वों में बंट गया है, जब उन दोनों में कोई समझौता नहीं हो सकता। **तैत्तरीय अरण्यक** के लेखक ने इसी सीधी कथा को कहा है। इस पहले गृह-युद्ध में विष्णु, जिनको सार्वजनिक इच्छा से संचालक के पद पर प्रतिष्ठित किया गया था, अपने इस लक्ष्य में सफल नहीं हो सके थे कि सामूहिक श्रम के फल को अपने या अपने वर्ग के अधिकार में कर सकें। **सत्र** का विधान उन पर विजयी हो गया था। फिर भी इससे यह पता लगता है कि एक नये वर्ग की शक्ति और सशस्त्र शासन-सत्ता किस तरह से एक दमन के साधन के रूप में, अथवा शोषित मेहनतकश वर्ग पर शक्तिवान वर्ग की शक्ति के रूप में उत्पन्न हो रही थी। बर्बर युग के लेखक ने यह विश्वास दिलाना चाहा है कि यह सब दिव्य या अलौकिक आवश्यकता के अनुसार हो रहा था। फिर भी लेखक संघर्ष युग के इतना अधिक निकट था कि वह आर्थिक वर्गों के स्पष्ट विरोधों को छिपा नहीं सका। **सत्र** श्रम और उसके साम्य संघ में से ये आर्थिक विरोध उभर-उभरकर सामने आते जा रहे थे।

प्राचीन साम्य संघ में इस बात को कोई भी नहीं जानता था कि एक ही **गण** के भीतर अपने ही सगे सम्बंधियों या भाइयों के बीच में युद्ध होना संभव है। एक **गण** की दूसरे से लड़ाई होती थी। अदिति के पुत्र दिति के पुत्रों से लड़े थे। विनता के पुत्र कद्रु के पुत्रों से लड़े थे। पर क्या किसी ने यह सुना था कि अदिति के पुत्र आपस में लड़े हों, एक-दूसरे की हत्या की हो, या एक-दूसरे को दास बनाया हो ? क्या वसु **गण** अपने ही रक्तवाले वसुओं से कभी लड़े थे, जो उन्हीं के **गण-गोत्र** के थे, उनके ही **यज्ञ** साम्य संघ के थे ? नहीं। ऐसा कभी नहीं हुआ था। उस प्राचीन आदिम **यज्ञ** साम्य संघ में इस प्रकार के अन्तर्युद्ध, गृह-युद्ध, वर्ग युद्ध या **वर्ण** युद्ध के लिए कोई स्थान नहीं था, क्योंकि अभी उन **गणों** में व्यक्तिगत सम्पत्ति और शोषण का उदय नहीं हुआ था। लेकिन एक बार जब इनका उदय हो गया, तो **गण** युद्धों के साथ-साथ गृह-युद्ध भी शुरू हो गये। एक **गण** का युद्ध जब दूसरे से होता था, तब उनका लक्ष्य दासों, पशुओं और अन्य सम्पत्ति को आत्मसात करना होता था, और उसके बाद जब वे **वर्ण** (वर्ग) गृह-युद्ध करते थे, तो उसका लक्ष्य उस सम्पत्ति को व्यक्तिगत बनाकर वैभवशाली होना और श्रम करनेवाले अपने ही सगे सम्बंधियों को दास बनाना होता था। जैसा **विष्णु-पुराण** में कहा गया है कि "ईश्वर ने विभिन्न वर्णों को उनके भले और बुरे गुणों (**सत्व, रजस्, तमस्**) के अनुसार बनाया है;" लेकिन प्राचीन काल में वे सब निश्चेष्ट, शांत तथा स्वस्थ थे, सब **वर्ण** प्रसन्नता से रहते थे। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उनमें "कामना" आती गयी। उन्होंने नगर और दुर्ग बनाये और युद्ध किये। इसलिए वे दुखी होने लगे।

महाभारत में भीष्म से यह प्रश्न किया गया था कि किस तरह से राजसत्ता और गृह-युद्ध का प्रारम्भ हुआ ? उन्होंने भी यह कहने के बाद कि पहले कोई गृह-युद्ध नहीं था, राजा नहीं था, शासन-सत्ता नहीं थी, यह कहा कि प्राचीन साम्य संघ का नाश इसलिए हुआ कि साम्य संघ के सदस्यों में नयी कामनाएं, लालसायें और इच्छाएं जागने लगी थीं। उनमें "**मोह,**" आकर्षण या यथार्थ के प्रति भ्रम छा गया था। विवेक उनका नष्ट हो गया था। तब उनमें लोभ आ गया था। लोभ के कारण वे उन वस्तुओं को प्राप्त करने की बात सोचने लगे, जो उनके पास नहीं थीं। नयी कामनाओं में फंसकर उनमें क्रोध, काम, राग, ईर्ष्या उत्पन्न होने लगे। वे अपने सगे-सम्बंधों को भूल गये, उनके प्रति क्या **धर्म** या कर्त्तव्य है, इसे भूल गये; **धर्म** को उन्होंने खो दिया और एक-दूसरे से लड़ने लगे। इस तरह से **ब्रह्मन्** का नाश हो गया। गृह-युद्ध और नयी शासन-सत्ता के उदय होने के लिए तथा **कृत-त्रेता** युग के प्राचीन, सुखी, शान्त **धर्म** के नष्ट होने के लिए, इन पापों के क्रमागत आक्रमण की बात प्रायः सभी हिन्दू धर्म-ग्रंथों में दोहरायी गया है।

पर वे धर्म-ग्रंथ हमें इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते कि जब दिति और अदिति के पुत्र, क्रोध में भरे हुए संघर्षशील और गरजते हुए इन्द्र आदि, अपने शत्रुओं से लड़कर पशु और धन, आदि जीत लाते थे, तब मोह, काम, लोभ और अपने ही सम्बंधियों पर आधिपत्य जमाने के लिए वे गृह-युद्ध करने, आदि में क्यों लिप्त नहीं होते थे ? बर्बर युग के बेचारे लेखक इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि ये लोग पुण्यात्मा थे, जब कि और लोग पापी थे। लेकिन ऐसा लगता है कि वे लोग अपने-आप पापी नहीं हो गये थे, बल्कि पाप ही मानो सजीव और गतिमान हो उठा था जिसने उन लोगों को जाकर जकड़ लिया था। और वे बेबस लोग, जो बहुत पिछड़े हुए और गरीब होते हुए भी सुखी थे, एक-दूसरे को मारने लगे, अपने और दूसरे लोगों को दास बनाने लगे तथा धन का संचय करने लगे। पर इस सबका यथार्थ कारण, जैसा हम देख चुके हैं कि प्राचीन साम्य संघ की उत्पादन शक्तियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन है। उत्पादन की नयी शक्तियां, नये उत्पादन सम्बंधों को जन्म देती हैं। यदि हम **महाभारत, पुराण** तथा अन्य ग्रंथों में लिखे हुए इन पापों[५] की सूची के परदे को हटाकर देखें, तो हमें नयी उत्पादन

---

५. "महाभारत" के अनुसार इन पापों के क्रम इस प्रकार से हैं :
दैन्यम्, मोहः, अप्राप्तस्य अभिमर्ष, कामः, रागः।
रक्तस्य अनभिज्ञानम् विप्लवः—ब्रह्मनाश—विप्लु ते नरलोके ब्रह्म ननाश ह।
(शांति पर्व, ५८)

शक्तियां, बिकाऊ-वस्तुओं का विनिमय — उस वस्तु को बेचना जिसका उपभोग न किया जा सकता हो और उस चीज को बदले में पाना जो अपने पास नहीं है या जिसका उत्पादन अपने से नहीं किया जा सका है — दिखायी देंगे। हम व्यक्तिगत सम्पत्ति और संचय को लोभ, स्वार्थ और अन्य रागों को पैदा करते हुए देखते हैं, सामाजिक श्रम के फल पर अधिकार करने के लिए शक्ति का प्रयोग करते हुए देखते हैं, और उससे भी आगे अपने ही लिए सम्पत्ति के संचय की पागल कामना को और भी तेज होता हुआ देखते हैं। एक से दूसरे स्थान पर घूमता हुआ, पर संगठित साम्य संघ टूटकर खेती, दस्तकारी, शहर, देहात, आदि में बिखर गया था; और एक नया युग आरम्भ हो गया था जिसमें नयी भावनाएं, नये पाप और पुण्य, शासक और शासितों का नया संसार, शोषित और शोषकों का आगमन हो गया था। जब तक इस व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश दोबारा नहीं हो जाता — लेकिन यह नाश उत्पादन की अतिशयता के आधार पर होगा, प्राचीन आदिम गरीबी के आधार पर नहीं — तब तक मनुष्य को इन पापों, गृह-युद्धों और अन्त में समस्त युद्धों से छुटकारा नहीं मिल सकता। यह काम भविष्य में आनेवाले नये साम्यवादी संसार में ही संभव हो सकेगा।

इसके पहले कि हम इस वर्ग युद्ध के विकास का आगे वर्णन करें, हम यह देखेंगे कि साम्य संघ में और कौन से शक्तिशाली परिवर्तन नयी उत्पादन शक्तियों, व्यक्तिगत सम्पत्ति और दासों के साथ-साथ होने लगे थे? सम्पत्ति के नये सम्बंधों ने साम्य संघ के संगठन पर प्रत्येक संभव तरह से अपना प्रभाव डाला था। व्यक्तिगत सम्पत्ति ने सगे सम्बंधियों के प्राचीन संगठनों और व्यक्तिगत सम्बंधों को नष्ट कर दिया था। साम्य संघ की मातृसत्ता का नाश भी इसी के द्वारा हो गया था। उन दिनों में साम्य संघ के कुल, युग्म परिवार के आधार पर रचे होते थे। जो सगे सम्बंधी नहीं थे, उन्हें साम्य संघ में न सम्मिलित करने का निषेध भंग कर दिया गया। इस नयी व्यवस्था के अनुसार पितृसत्तात्मक व्यक्तिगत परिवार, पिता का आधिपत्य और सम्पत्ति का उत्तराधिकार, पितृत्व की परम्परा तथा उससे सम्बद्ध अनेक निष्कर्षों का उदय होने लगा। **गण-गोत्र** की एकता और समानता नये व्यक्तिगत परिवारों और वर्ग संघर्षों में आकर छिन्न-भिन्न हो गयी। शत्रु पक्ष के दासों के साथ-साथ नारी ने भी अपनी स्वाधीनता खो दी; और कुछ ही दिनों बाद स्वाभिमानी और स्वाधीन आर्यों के विश को भी बांधकर बाजार में बेचे जाने के लिए खड़ा कर दिया गया।

दसवां अध्याय

नारी की दासता और मातृसत्ता का अन्त

"जानवरों के रेवड़ और झुंड कब और कैसे कबीले अथवा गण की सामूहिक सम्पत्ति से अलग-अलग परिवारों के मुखियाओं की सम्पत्ति बन गये, यह हम आज तक नहीं जान सके हैं। परन्तु मोटे तौर पर यह परिवर्तन इसी अवस्था में हुआ होगा। जानवरों के रेवड़ तथा दूसरी चीजों के रूप में धन के मिलने से परिवार के अन्दर एक क्रान्ति हो गयी। जीविका कमाना सदा पुरुष का काम रहा था, वह उसके साधनों को तैयार करता था और उनका स्वामी होता था। अब जानवरों के रेवड़ जीविका कमाने का साधन बन गये थे। जंगली जानवरों को पकड़कर पालतू बनाना और फिर उनका पालन-पोषण करना—यह पुरुष का ही काम था। इसलिए वह जानवरों का मालिक होता था और उनके बदले में मिलनेवाले तरह-तरह के माल और दास का भी मालिक होता था। इसलिए उत्पादन से जो अतिरिक्त पैदावार होती थी, वह पुरुष की सम्पत्ति होती थी; नारी उसे खर्च करने में हिस्सा बंटाती थी, परन्तु उसके स्वामित्व में नारी का कोई भाग नहीं होता था। 'जंगली' योद्धा और शिकारी घर में नारी को प्रमुख स्थान देकर खुद गौण स्थान से ही संतुष्ट था। 'अधिक सुसंस्कृत' गड़रिये ने अपनी दौलत के जोर से मुख्य स्थान पर खुद अधिकार कर लिया और नारी को गौण स्थान में ढकेल दिया। और नारी कोई शिकायत नहीं कर सकी। पुरुष और पत्नी के बीच सम्पत्ति का विभाजन परिवार के अन्दर श्रम के विभाजन पर निर्भर करता था। श्रम का विभाजन पहले जैसा ही था, फिर भी अब उसने घर के अन्दर के सम्बंध को एकदम उलट-पुलट दिया था, क्योंकि परिवार के बाहर श्रम का विभाजन बदल गया था। जिस कारण से पहले घर[1] में नारी की सत्ता थी—यानी उसका घरेलू काम-

---

१. "सत्र" श्रम में संगठित साम्य संघ का घर जिस पर नारी, प्रथम माता "अदिति" का आधिपत्य था।

काज तक ही सीमित रहना — वही अब घर में पुरुष का आधिपत्य कायम हो जाने का कारण बन गया। जीविका कमाने के पुरुष के काम की तुलना में नारी के घरेलू काम का महत्व घट गया। अब पुरुष का काम सब कुछ बन गया, और नारी का काम बस नाम का रह गया। ...

"जब घर के अन्दर पुरुष का सचमुच आधिपत्य कायम हो गया, तो मानो उसकी तानाशाही कायम होने के रास्ते में जो आखिरी बाधा थी, वह भी टूट गयी। मातृसत्ता को नष्ट कर, पितृसत्ता को कायम कर और युग्म परिवार को धीरे-धीरे एकनिष्ठ विवाह की प्रथा में बदल कर, इस तानाशाही को पक्का और स्थायी बना दिया गया। इससे पुरानी गण व्यवस्था में एक दरार पड़ गयी। एकनिष्ठ परिवार एक ताकत बन गया और गण के अस्तित्व को मिटा देने की धमकी देने लगा।"

(परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति, पृष्ठ २२४-२६)

जहां तक हमने देखा है, **वैदिक** साहित्य में मातृसत्ता का अन्त और पितृ-सत्ता की उत्पत्ति को स्पष्टता से नहीं कहा गया है। लेकिन अगर हम कुटुम्ब के विकास को देखें, तो यह परिवर्तन साफ दिखायी दे जा सकता है। सबसे पहले तो हम यह देखते हैं कि जैसे ही **वर्ण**, विनिमय और व्यक्तिगत सम्पत्ति की उत्पत्ति हुई, वैसे ही अपने गृह-युद्धों और **गण-युद्धों** के साथ-साथ **प्रजापति** और **गृहपति** इतिहास के लोक में सबसे आगे आ गये। अदिति और दिति, आदि माताओं की सन्तानों के **गण**-युद्ध इतिहास में विलीन होने लगे। दूसरे, **गोत्र-अपत्य** अब पिता के पुत्रों की परम्परा के अनुसार होने लगे। माता के अनुसार जिनके **गोत्र** का परिचय होता था, वे कम होते जा रहे थे। फिर भी, यह प्रथा इतिहास में बहुत दिनों तक चलती रही — दक्षिण भारत में तो कुछ समय पहले तक यह प्रथा प्रचलित थी। तीसरे, चूंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति और पिता की सत्ता का विकास **गण** के विकास के साथ-साथ हुआ था, इसलिए जब **गणों** की जनसंख्या बढ़ी और वे बिखरकर विस्तृत प्रदेशों में रहने लगे, तो सामाजिक दृष्टि से मातृगत परम्परा और उससे उत्पन्न परस्पर सम्बंधों का यथार्थ रूप क्षीण होने लगा था और उसके स्थान पर पितृ-परम्परा के **प्रवरों** का जन्म होने लगा था। समूहवाद और **गोत्रों** के यूथ-विवाहों के नष्ट हो जाने के साथ-साथ एकनिष्ठ विवाह के आधार पर व्यक्तिगत परिवार ने अपनी सम्पत्ति, सन्तान और उत्तराधिकार की स्थापना कर ली थी। पहले के सगे सम्बंध बिखर गये और भुला दिये गये थे। अब सगे सम्बंधियों के साथ-साथ वैसे लोग भी **गण-गोत्र** में शामिल होने लगे जो सम्बंधी नहीं थे — जैसे दास, वे नये लोग जो वस्तुओं का व्यापार करते थे, आदि। युद्धों के विकास के साथ-साथ **गण** आपस

में मिलने लगे और अतीत की स्मृति के आधार पर — इस यादगार पर कि बीते हुए समय में एक ही पूर्वज और सम्बंधों से सब लोग जन्मे हैं — वे संयुक्त होने लगे। आर्यों के बिखरे हुए सम्बंधी **गण-गोत्रों** का जब एकीकरण हुआ, तो उसने **प्रवरों** का रूप धारण कर लिया। **प्रवर** अपना उद्गम किसी एक पूर्वज पिता से कल्पित करते थे — पहले जिस तरह माता को **गण-गोत्र** का उद्गम माना जाता था, वैसा इसमें नहीं होता था। **प्रवर** संगठन का नेतृत्व नौ पुरुष **प्रजापतियों** के हाथों में था, जिनकी उत्पत्ति स्पष्टतः **गोत्रों** के फैलने के बहुत बाद हुई थी। उनके द्वारा जिस पितृसत्ता के दर्शन होते हैं, वह मानो मातृसत्तात्मक उद्गम के बिना ही सम्बंधी **गणों** को एक में मिलाने का विकृत विधान था। इसलिए जैसा **गोत्रों** में नहीं होता था, **प्रवरों** की समानता के आधार पर किसी ऐसे कड़े निषेध का नियम नहीं बना था कि एक ही **प्रवर** के व्यक्तियों में विवाह न हो। निस्संदेह, इस विषय में पितृसत्तात्मक **प्रवरों** ने **गण**-निषेधों की नकल करने की बात सोची थी, लेकिन **गण**-निषेधों का आधार यथार्थ पर था। उसका आधार यथार्थ मातृसत्ता के यूथ-विवाहों से उत्पन्न रक्त सम्बंध था, जब कि **प्रवर**-निषेधों का कोई यथार्थ आधार नहीं था। **प्रवर**-निषेध यथार्थ अतीत की स्मृति के आगे सर झुकाना मात्र था। वह एक नये उठते हुए समाज में प्राचीनता के रूप का दिग्दर्शन मात्र था। इसलिए एक-पूर्वजकता को स्थापित करने का प्रयास **प्रवर** द्वारा किया गया। सैद्धान्तिक दृष्टि से **प्रवरों** ने यह भी चेष्टा की कि एकनिष्ठ विवाह, पितृसत्ता और व्यक्तिगत सम्पत्ति की नयी व्यवस्था में भी वे मृत साम्य संघ की भस्म को साथ-साथ चिपकाये रहें।

गोत्र-प्रवर संगठनों ने सम्बंधों को व्यवस्थित किया। जब अन्य तत्व आर्यों के समाज के सम्पर्क में आने लगे और उसमें प्रवेश करने लगे, तो उन्होंने सम्बंधी-गणों व असम्बंधियों और आर्यों व अनार्यों के बीच एक विभाग रेखा खींची। **गणों** के आधार पर सामाजिक-धार्मिक कर्मों की व्यवस्था के लिए **प्रवर** संगठन का यह एक नया रूप भी था, जब कि एक ऐसी नयी सामाजिक व्यवस्था का जन्म हो चुका था जिसमें **वर्ण**, वर्ग, शासन-सत्ता के नये संगठन थे, जिसके सब सदस्य सगे सम्बंधी ही नहीं होते थे, जहां पर जैसा कि आर्य लेखक का कहना है, सबको **यजन**, **याजन** करने का अधिकार नहीं था। एक नये समाज की रचना हो रही थी। उसके तत्व निर्धारित हो गये थे। **प्रादेशिक** निवास उसकी सीमा थी। **राज्यम्**, **राष्ट्रम्** या शासन-सत्ता की सीमाओं में रहना उसका नया रूप था। पुराने **गणों** की भांति रक्त सम्बंध के आधार पर इस नये समाज की रचना नहीं हुई थी। **रक्त सम्बंधों को आर्थिक सम्बंधों से अलग कर दिया गया था।** **गोत्र-प्रवरों** में अपरिचितों और शूद्रों के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था; पर राज्य संगठन में वे निवास कर सकते थे।

जिस प्रकार योरप के विद्वानों को तब काफी परेशानी हुई थी जब उन्होंने यूनानियों के बीच **प्रवर** व्यवस्था का पता लगाया था, उसी प्रकार हिन्दू आर्यों की **प्रवर** व्यवस्था भी भारतीय विद्वानों के लिए एक सरदर्द हो गयी। **गोत्र-प्रवर** का अस्तित्व आज भी चल रहा है और उसके अनुसार एक-पूर्वजकता की घोषणा की जाती है। लेकिन हमारे विद्वान, **गण** साम्य संघ और **गोत्र**-यूथ विवाह के आधार पर एक-पूर्वजकता को अस्वीकार करते हैं। इसलिए वे **गोत्र-प्रवर** को एक निरर्थक और मिथ्या बात मानने पर बाध्य हो जाते हैं।

गोत्र-प्रवरों के आलोचकों को उत्तर देने के लिए यह सबसे अच्छा होगा कि हम मार्क्स द्वारा संक्षिप्त किये हुए मौर्गन के उस उत्तर का उद्धरण दें, जिसे मौर्गन ने अपने आलोचकों को दिया था।

> "सगोत्रता की प्रणाली गण के आदि स्वरूप पर आधारित होती थी। अन्य मनुष्यों की तरह यूनानियों में भी एक समय गण का यह आदि स्वरूप पाया जाता था। उस पर आधारित सगोत्रता की प्रणाली गण के सभी सदस्यों के पारस्परिक सम्बंधों के ज्ञान को सुरक्षित रखती थी। इस ज्ञान का उन लोगों के लिए निर्णायक महत्त्व था और यह ज्ञान उन्हें बचपन में ही व्यवहार से मिल जाता था। (जैसा कि प्रत्येक हिन्दू अपनी **संध्या** पूजा में प्रतिदिन करते हैं।)[२] जब एकनिष्ठ परिवार का उदय हुआ तो यह ज्ञान विस्मृति के अंधकार में पड़ गया। गण के नाम (**गोत्र या प्रवर** का नाम जो हिन्दू लड़कों को यज्ञोपवीत संस्कार के बाद बताया जाता है)[३] से जो वंशावली बनती थी, उसके मुकाबले में एकनिष्ठ परिवार की वंशावली बहुत छोटी और महत्वहीन चीज मालूम पड़ती थी। अब गण का नाम इस बात का प्रमाण था कि उसके माननेवालों के पूर्वज एक थे। परन्तु गण की वंशावली इतनी दूर तक जाती थी कि उसके सदस्यों के लिए अब यह सिद्ध करना संभव न था कि उनके बीच रक्त-सम्बंध है। केवल वे थोड़े से लोग ही अपना सम्बंध सिद्ध करने की स्थिति में थे जिनका वंश बहुत पुराना नहीं था। गण का नाम खुद इस बात का पर्याप्त और निर्विवाद प्रमाण था कि उसे माननेवालों के पूर्वज एक थे... चूंकि पीढ़ियों की शृंखला अब, विशेषकर एकनिष्ठ विवाह की उत्पत्ति के कारण, बहुत दूर की चीज बन गयी है, और चूंकि गत काल की वास्तविकता अब पौराणिक कपोल-कल्पनाओं के रूप में प्रतिबिम्बित होती मालूम पड़ती है, इसलिए हमारे परिचित कूपमंडूकों ने

---

२. कोष्ठ मेरे हैं—लेखक।

३. ध्यान देने की बात है कि इसे "यज्ञोपवीतम्" कहा गया है।

यह निष्कर्ष निकाल लिया और आज भी वे यही कहते हैं कि वंशावली काल्पनिक है, पर उससे उत्पन्न गण यथार्थ हैं।"[४]

(परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति, पृष्ठ १४०-४१)

पिता का अधिकार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्तराधिकार नारी के लिए एकनिष्ठा की मांग करते हैं। उसके बिना पिता की सन्तानों को पहचाना नहीं जा सकता। एकनिष्ठ विवाह और उसके साथ-साथ नारी का सतीत्व, पुरुष के प्रति उसकी पति-भक्ति, आदि ने सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होने की समस्या को बहुत सरल कर दिया (जैसा हम देख चुके हैं)। लेकिन पहले-पहल इसका (सतीत्व आदि का — अनु.) आगमन या उद्भव पुरुष के आदेश के द्वारा नहीं हुआ था। नारी ने इसकी स्थापना स्वयं की थी। उस समय और आज भी यूथ-विवाह के अधिकारों और आदतों को पुरुष छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। आज भी उसके ये अधिकार बहुपत्नी विवाह, देवदासियों की व्यवस्था, मुरालियों की प्रथा और अन्त में वेश्यालय और पर-स्त्रीगमन में प्रकट होते हैं। समाज के विकास के साथ-साथ प्राचीन छोटे **गोत्र**, जिनके सदस्य अपने सगे सम्बंधी होते थे, दूर-दूर के क्षेत्रों तक फैल चुके थे। नयी आर्थिक व्यवस्था के विकास के साथ-साथ, जिसकी इकाई अब तक कुटुम्ब के रूप में बन रही थी, पुराने **गण-गोत्र** के सब सदस्यों का जो अधिकार दूसरे विवाह-योग्य **गोत्र** की नारियों पर होता था — फिर वह नारी चाहे जिस स्थान पर भी हो — वह अधिकार नारी के लिए एक कुत्सित और वीभत्स भार बन चुका था। छोटे **गोत्र** परिवार में, छोटे **अश्मव्रज** में, हर कोई एक-दूसरे से परिचित होता था। समान और एक साथ श्रम करने के कारण — अपने छत्तों में जिस प्रकार मधुमक्खियां बिना सम्बंध की चेतना के एक में संगठित रहती हैं, उसी तरह — वे परस्पर सम्बंध के बंधनों में बंधे हुए थे। पर अब एक ऐसे **गण** सदस्य का नारी के पास जाकर अधिकार जताना, जिसे वह जानती या पहचानती नहीं थी, जिससे उसका कोई सम्बंध नहीं था और जो किसी दूर देश से आया था, उस नारी के ऊपर बलात्कार ही

---

४. हमारे "दम्भी और खोखले विद्वान" किस तरह तर्क देते हैं, इसे सबसे अच्छी तरह श्री करंदीकर द्वारा लिखित पुस्तक "हिन्दू एक्जोगेमी" में और "वेदविद्या" (महाराष्ट्र ज्ञानकोष) में श्री केतकर द्वारा लिखे गये "प्रवर" सम्बंधी वादविवाद में देखा जा सकता है। केवल श्री राजवाडे, मॉर्गन के काफी नजदीक तक पहुंचते हैं।

विवाह, "गोत्र-प्रवर" और सम्पत्ति के उत्तराधिकार के बारे में हाल में "हिन्दू लॉ कमिटी" के सामने धनी हिन्दू रूढ़िवादियों ने जो मांगपत्र पेश किया था, वह बहुत ही दिलचस्प है और उससे यह जाहिर होता है कि यह विषय आज भी कितना अधिक सजीव है।

था। प्राचीन काल में "अतिथि" को अपनी पत्नी सौंपने की जो प्रथा थी, वह यूथ-विवाह से ही उत्पन्न हुई थी। अतीत काल के समूह के किसी अपरिचित आदमी के अधिकार से स्वतंत्र होने के लिए नारी ने एकनिष्ठ विवाह पर जोर दिया—जैसा कि युग्म-विवाह की परिणति से ज्ञात होता है। "नारी के द्वारा युग्म-विवाह की स्थापना होने के बाद ही पुरुष दृढ़ एकनिष्ठ विवाह की व्यवस्था को लागू कर सका। अवश्य ही यह एकनिष्ठा सिर्फ नारी के लिए होती थी।"

लेकिन वर्ग-विभक्त और वर्ग-शासित समाज में, जहां व्यक्तिगत सम्पत्ति और धनी शासक वर्ग लाखों नर-नारियों के जीवन को नष्ट कर रहे थे, एकनिष्ठ विवाह नारी के लिए और भी तेज व्यंग हो गया। साम्य संघ के अन्त हो जाने, दास-प्रथा के आरम्भ होने और वर्ग शासन के स्थापित हो जाने के बाद से समाज में वेश्यावृत्ति और पर-स्त्रीगमन की स्थापना हो गयी। आर्थिक क्षेत्र में नारी की पराजय ने नारी को पुरुष और व्यक्तिगत सम्पत्ति का शारीरिक और नैतिक दास बना दिया।

> "मातृसत्ता का विनाश **नारी जाति की एक ऐसी पराजय थी जिसका पूरे विश्व के इतिहास पर प्रभाव पड़ा।** अब घर के अन्दर भी पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया। नारी पदच्युत कर दी गयी। वह जकड़ दी गयी। वह पुरुष की वासना की दासी, संतान उत्पन्न करने की एक यंत्र मात्र बनकर रह गयी।"

(परिवार; व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति, पृष्ठ ७४)

व्यक्तिगत सम्पत्ति के "धर्मशास्त्र प्रणेता," पिता की सम्पत्ति को उत्तराधिकार में लेने के लिए एक पुत्र की आवश्यकता का उल्लेख निर्दयता व कठोरता के साथ करते हैं। उसके आगे नारी की एकनिष्ठा, भावना, उसके सतीत्व और "निजी व्यक्तित्व" के अधिकार की भी अवहेलना कर दी जाती थी। इसकी झलक हम उन विवादों में देखते हैं जहां "पुत्र का अधिकारी" कौन है, यह प्रश्न तब उठाया जाता था जब नारी को वह पुत्र अपने पति के अलावा किसी दूसरे पुरुष द्वारा प्राप्त होता था। **महाभारत के अनुशासन पर्व** में युधिष्ठिर बहुत गंभीरता से पूछते हैं :

> "कुछ लोग कहते हैं कि अपनी सन्तान वह है जो अपने क्षेत्र (नारी या पत्नी) में पैदा हो। दूसरी ओर, कुछ लोग यह कहते हैं कि अपना पुत्र वह है जो अपने बीज से उत्पन्न हुआ हो। क्या इस तरह के दोनों पुत्र समान हैं? वह पुत्र वास्तव में किसका है?"

ऐसा स्पष्ट लगता है कि दासों का स्वामी एक किसान अपनी पत्नी को खेत मानकर बातें कर रहा है और अपने पुत्र को उस खेत में उत्पन्न हुआ फल

समझता है। फसल पर अधिकार किसका है? क्या उसका अधिकार है जो उस खेत का लगान देता, बीज देता और जोतता है? अथवा उसका अधिकार है जो उस खेत का मालिक है—जोतने-बोनेवाला चाहे जो भी हो? यज्ञ विधि के साम्य संघ में नारी के विषय में इस प्रकार से और इस सिद्धान्त के प्रकाश में सोचना संभव नहीं था—यद्यपि वे लोग बाद के इन दासों के स्वामी सामन्तों की अपेक्षा **प्रजा** की लालसा अधिक करते थे। साम्य संघ की नारी को **वैदिक** लेखक निस्संकोच होकर स्पष्टता से "**जनी**" कहता था—जिसका अर्थ "सन्तान पैदा करनेवाली" होता है। और जो कुछ उसके द्वारा उत्पन्न होता था, उस पर उसका अधिकार होता था तथा उसे "**जन**" कहा जाता था। उनके मन में यह विचार ही नहीं उठ सकता था कि कोई सन्तान किसकी है, इसका "क्षेत्र" कौन है और इसका "बीज" क्या है? क्योंकि उन दिनों कोई भी ऐसी सम्पत्ति नहीं थी जिसे वह अपनी कहकर अलग रख सकता हो। पिता के शासन का जन्म तब नहीं हुआ था। नारी चल सम्पत्ति है और सन्तान उत्पन्न करने की साधन मात्र है—ये सिद्धान्त दासता के उस युग में बने थे, जब धन का उत्पादन अपने स्वामी के हेतु करने के लिए मनुष्यों को पकड़कर बेच दिया जाता था। उसी तरह से उस धन का उत्तराधिकारी पैदा करने के लिए नारी को लाया जाता था।

युद्धिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया था :

> "अगर बीज का स्वामी उससे उत्पन्न सन्तान का त्याग कर देता है, तो वह पुत्र उसका हो जाता है जिसकी पत्नी से वह सन्तान उत्पन्न की गयी है। वह सन्तान जिसे अध्युध कहा गया है, उस पर भी यही नियम लागू होता है। वह उसका होता है जिसके बीज से उसकी उत्पत्ति होती है। और अगर बीज का स्वामी उस पुत्र को छोड़ दे, तो उस पुत्र की माता के पति की सन्तान वह हो जाता है। **धर्म** यही कहता है—इसे जानो!"

हिन्दू पुरानपंथी जिसे प्रमाण कहते हैं, वे मनु भी ऐसा ही कहते हैं।*

---

* भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु कर्तरि।
आहुरुत्पादकं केचिद परे क्षेत्रिणं विदुः॥ मनुस्मृति, ९–३२।
सर्वं भूत प्रसूतिर्हि बीजालक्षण लक्षिता॥ मनुस्मृति, ९–३५।
"पराशर स्मृति" में भी कहा गया है :
ओघवाताहृत बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति
स क्षेत्री लभते बीजं न बीजीभोग मर्हति। ४–३२।
अति-निन्दित भौतिकवादी भी बात को इतनी स्पष्टता से नहीं कह सकते थे।

समूहवाद और युग्म-परिवार के युग में सन्तानें गण माताओं की होती थीं। जब पिता उस माता को छोड़ देता था, तो सन्तान माता के पास रहती थी जैसा कि हम विख्यात भीम, अर्जुन, आदि के सम्बंध में देख चुके हैं। लेकिन दासता के युग में नारी को खरीदा और बेचा जाता था, अपने स्वामी द्वारा पशुओं की भांति नारी किराये पर उठा दी जाती थी या उधार दे दी जाती थी। और इस सबका उद्देश्य यही होता था कि सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए "शुद्ध" सन्तानें, तथा सम्पत्ति का उत्पादन करने के लिए दासी नारियों से दास सन्तानें उत्पन्न की जायें।

नारी के प्रति इस तरह का व्यवहार केवल पत्नी तक ही सीमित नहीं था, वरन पुत्रियों और अन्य नारियों के साथ भी यही व्यवहार संभव था। पुत्री को लगातार किराये पर उठाने की लम्बी कहानी **ऋषि** गालव की कथा के नाम से **महाभारत के उद्योग पर्व** में वर्णित है। गालव को **गुरु-दक्षिणा** चुकानी थी। वह दरिद्र थे। इसलिए राजा ययाति से उन्होंने सहायता मांगी। राजा ययाति ने अपनी कन्या माधवी को उन्हें सौंप दिया। गालव ने उस कन्या को क्रमशः तीन राजाओं के पास प्रत्येक से दो-दो सौ घोड़ों के बदले में किराये पर रख दिया। प्रत्येक राजा ने एक-एक सन्तान उत्पन्न करने के बाद माधवी को उसके पिता के पास लौटा दिया। **गुरु-दक्षिणा** चुकाने के लिए गालव ने उन घोड़ों और उस कन्या को अपने **गुरु** विश्वामित्र के हाथ में सौंपा। विश्वामित्र ने भी उससे एक सन्तान उत्पन्न करके उसे गालव के पास वापस भेज दिया। बाद में गालव ने उसे राजा ययाति को लौटा दिया। फिर भी इस बेबस नारी के कष्टों का अन्त नहीं हुआ। इन सब दासताओं से लौटने के बाद ययाति ने उससे **स्वयंवर** में अपने मन के मुताबिक पति चुनने को कहा। उस **स्वयंवर** में बहुत से राजा और धनी युवक और अन्य लोग जमा हुए थे। लेकिन इतना हो चुकने के बाद माधवी के मन में जीवन और नर की गुलामी करने के प्रति इतनी घृणा हो गयी थी कि पहले तो उसने सबको नमस्कार किया और फिर व्रत, तपस्या, आदि करने के लिए वन में चली गयी। तभी वह नारी की दासता और वर्ग-समाज से मुक्ति पा सकी थी।[५]

पितृसत्ता के अधिकारों, यानी दासों के अधिकारी पति के अधिकारों की सीमा इतनी ही नहीं थी कि वह अपनी पत्नी, पुत्री या पुत्र को दूसरों को किराये पर दे सकता था, वरन उनके जीवन पर भी उसका पूरा अधिकार होता था। अपनी इच्छा के अनुसार वह उनके प्राण तक ले सकता था। साम्य संघ के युग में **गोत्र-विवाह** में जो स्वतंत्रता थी, उसमें और नारी के प्रति इस व्यवहार में

---

५. महाभारत: उद्योग पर्व, अध्याय १२०।

जमीन-आसमान का अन्तर था। तब नारी की प्रतिष्ठा थी, जीवनदायिनी होने के कारण माता पवित्र मानी जाती थी और माता की हत्या करना सबसे बड़ा पाप माना जाता था। दास युग में जब उस सिद्धान्त को लेकर चलने की कोशिश की गयी, तो दासों के स्वामी वर्ग के स्वार्थों से यह सिद्धान्त टकराता था। वह वर्ग अपनी "सम्पत्ति" पर पूरा अधिकार चाहता था। अपनी "सम्पत्ति" में दासों के साथ-साथ वह पत्नी और पुत्र, आदि को भी गिन लेता था।

नारी ने अपने स्वत्व की रक्षा के लिए संघर्ष भी किया, कुछ स्थानों पर साम्य संघ की पुरानी रूढ़ियों ने जीवित रहने की कोशिश की। पर दासों के स्वामी पुरुष ने उन सबको निर्दयता और कठोर हिंसा के द्वारा दबा दिया। इस बात का विवरण हमें तीन कथाओं में स्पष्ट रूप से मिलता है। सुदर्शन और ओघवती, गौतम और गौतमी तथा जमदग्नि और रेणुका की कथाओं में इसे स्पष्टता से देखा जा सकता है। वे कथाएं यह भी बताती हैं कि किस प्रकार **गण-गोत्र** साम्य संघ की रीति और विचारधारा दास युग में बदल गयी थी। **ऋषि** सुदर्शन **आश्रम** से कहीं बाहर गये थे। **आश्रम** में उनकी पत्नी ओघवती थी। एक ब्राह्मण अतिथि उस **आश्रम** में आये। उनको केवल भोजनादि से ही प्रसन्न नहीं किया गया, वरन **गण-गोत्र** की परम्परा के अनुसार उनके साथ ओघवती सोयी भी। जब सुदर्शन लौटकर आये और उन्होंने अपनी पत्नी के व्यवहार को सुना, तो बहुत प्रसन्न हुए—क्योंकि उसने अतिथि-सेवा का कर्तव्य पूरी तरह निभाया था। यह घटना उस युग की है जब **गणों** का प्रसार दूर-दूर के क्षेत्रों तक हो चुका था, साम्य संघ टूट रहा था और नारियां प्राचीन यूथ-विवाह की रूढ़ि का विरोध कर रही थीं। वे अब अपने पतियों के साथ युग्म रूप के परिवारों में रहकर स्वतंत्र कुटुम्बों की रचना कर रही थीं। इसीलिए सुदर्शन इस बात से डरते थे कि कहीं उनकी पत्नी अतिथि-सेवा के व्रत का पालन ठीक प्रकार से न करे। जब उन्होंने पूरी कथा सुनी, तो उनको प्रसन्नता हुई कि उनका "भय" निर्मूल था—और यह कि ओघवती ने प्राचीन रूढ़ि का "विरोध" नहीं किया था।

दूसरी कथा में युग बदल गया है। गौतम **ऋषि आश्रम** में नहीं थे। उनकी पत्नी गौतमी (अहिल्या—अनु.) **आश्रम** में थी जब इन्द्र अतिथि के रूप में वहां पहुंचे। उन्होंने गौतमी के साथ सम्भोग किया। बाद में इसे जानकर गौतम बहुत नाराज हुए। उन्होंने अपने पुत्र चीरकरी से गौतमी का सर काट लेने के लिए कहा और वे चले गये। पुत्र विचार संकट में पड़ गया। वह जानता था कि पुरानी परम्परा और शास्त्र के अनुसार उसकी माता ने ठीक ही किया था। वह यह भी जानता था कि वह उसका पुत्र है, इसलिए अपनी माता की हत्या नहीं कर सकता। माता की हत्या करना सबसे बड़ा

पाप होगा। लेकिन नये युग के अनुसार, नये वर्ग सम्बंधों कुटुम्बों और वर्ग नियमों के अनुसार उसके लिए अपने पिता की आज्ञा का पालन करना भी आवश्यक था।* उसने इस पर बार-बार विचार किया। जब गौतम लौटकर आये तो उनका क्रोध शान्त हो गया था। उन्होंने उस आचरण को ठीक मान लिया और संतुष्ट हुए। इस घटना में माता और पुत्र विजयी हो गये थे— इसलिए नहीं कि वह उनका अधिकार था, बल्कि इसलिए कि नया धर्म अभी इतना शक्तिशाली नहीं हुआ था।

तीसरी कथा, जमदग्नि और रेणुका की है। रेणुका ने एक बार गंधर्व चित्ररथ को प्रेम की दृष्टि से देख भर लिया था। जमदग्नि ने अपने पुत्र परशुराम को यह आज्ञा दी कि वह अपनी माता की हत्या कर दे। परशुराम ने

---

* पितुराज्ञा परोधर्म स्वधर्मो मातृरक्षणम्।
अस्वतंत्र च पुत्रत्वं किं तु मां न नुपियेत्।
स्त्रियं हत्वा मातरं च का हितु सुखी भवेत।
पितरं चप्यवज्ञाय कः प्रतिष्ठा माप्नुयात्॥ १२॥

इस उद्धरण में परस्पर-विरोधी विचार बहुत मनोरंजक हैं :

पिता की आज्ञा मानना, दूसरों द्वारा कहा हुआ धर्म (परोधर्म) है। माता की रक्षा करना अपना स्वाभाविक धर्म (स्वधर्म) है। लेकिन दास युग में आकर पुत्र ने अपनी स्वतंत्रता को खो दिया था। इसलिए उसे यह अधिकार नहीं था कि वह "गण" धर्म का पालन कर सके और पिता की आज्ञा से इनकार कर माता की आज्ञा का पालन करे। माता की हत्या करने से उसके परम्परागत भावों को चोट पहुंचेगी और उसे कष्ट होगा। पर पिता की आज्ञा न मानकर समाज में उसे "प्रतिष्ठा" नहीं मिलेगी। माता की सत्ता अतीत में थी और अब समाप्त हो रही थी। पिता की सत्ता उठ रही थी और भविष्य में शक्तिशाली होने जा रही।

नयी व्यवस्था के अनुसार किसका फल अधिक भयंकर था? माता की हत्या एक ओर थी, दूसरी ओर पिता के वचनों का न पालन करना मात्र था। यहां पर दासों के स्वामी के एकाधिपत्य का नंगा रूप देखा जा सकता है।

प्राचीन युग को याद रखिए! जब दीर्घतमा व्यर्थ में उल्टी-सीधी बातें ज्यादा बोल रहा था, तब अपनी माता की आज्ञा से उसके पुत्रों ने उसके हाथ-पैर बांधकर उसे साम्य संघ से बाहर निकाल दिया था। इसी प्रकार से श्वेतकेतु ने जब अपनी माता को एक "गोत्र-मित्र" के साथ जाते हुए देखकर रोका था, तब उसे इस अज्ञान के विषय में चुप कर दिया गया था। साम्य संघ के अन्त के साथ-साथ स्वाधीन और सुखी मातृत्व का नाश हो गया था। नारी का पति उसके लिए दासों को हांकनेवाला और पुत्र उस पिता की आज्ञा को व्यवहार में लानेवाला हो गया। दिव्य धर्म और शास्त्र पुरुष की ओर हो गये और उसने नारी को सदियों के लिए निहत्था बना दिया।

तुरन्त अपने पिता की आज्ञा का पालन किया और रेणुका को मार डाला। यहां नारी के जीवन पर पितृसत्ता ने अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया था। इस युग में नारी का कोई व्यक्तित्व, उसकी कोई स्वाधीनता और उसका कोई विचार अपना नहीं रह गया था। दास स्वामियों के निर्दय, भयंकर, हिंसात्मक एकाधिपत्य ने उसकी स्वाधीनता और उसके व्यक्तित्व का नाश पूरी तरह से कर दिया था।

इन तीन कथाओं से हमें मालूम हो जाता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार की उत्पत्ति, पुरुष का शासन और नारी को दासी बनाकर उसका अपहरण किस प्रकार से संभव हुआ था? आज की दलित भारतीय नारी के पास कोई अधिकार, कोई व्यक्तित्व, कोई प्रतिष्ठा और कोई स्वतंत्रता बाकी नहीं रह गयी है। वह संस्कृति और प्रेम, सदाचार और नैतिकता, "आदर्शवादी दर्शन" और भारत की असाधारण अध्यात्म से उत्पन्न नहीं हुई है। यह नारी जिसे आज हम अपने सामने देख रहे हैं, दास-स्वामी वर्ग के हिंसात्मक एकाधिपत्य के हाथों से गढ़ी गयी है।

इस विकास के पीछे कौन सी मूल शक्ति काम कर रही थी? केवल हिंसा द्वारा इसे नहीं किया जा सकता था। पुरुष की इस हिंसा के पीछे वह शास्त्र या धर्म था जिसको नयी शासन-सत्ता व्यवहार में ला रही थी; और उस शासन-सत्ता की उत्पत्ति, उत्पादन की नयी शक्तियों तथा सम्पत्ति और समाज के नये सम्बंधों से हुई थी। साम्य संघ के अन्त, व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय तथा वर्णों और वर्गों के अस्तित्व ने इस नये परिवार की रचना की थी, जिसके अन्दर नारी के पारिवारिक श्रम का कोई सामाजिक मूल्य नहीं रह गया था। उस व्यवस्था में दासों द्वारा खेतों और छोटे कारखानों में किया गया सामाजिक श्रम सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। उससे जो सम्पत्ति उत्पन्न होती थी, उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति की हैसियत से पुरुष आत्मसात कर लेता था।

व्यक्तिगत सम्पति के उदय होने पर शूद्र दासों के साथ-साथ नारी ने भी अपनी स्वाधीनता खो दी। सदियों बाद जब दासों को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में रखने का अन्त हुआ, तो दूसरे प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय हुआ, जिसका स्वामी सामन्ती जमींदार होता था। जब उसका भी अन्त हो गया, तो पूंजीपति की व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय हुआ। इसलिए नारी की दासता की दशाएं भी उसी प्रकार से बदलती चली गयीं। दासी से वह चेरी बनी और चेरी से सर्वहारा हो गयी। लेकिन उसकी दासता कभी नहीं मिटी।

इसलिए नारी की स्वाधीनता का प्रश्न कोई नैतिक, आचार-शास्त्र या अध्यात्म का प्रश्न नहीं है, बल्कि वर्ग-शासन का प्रश्न है।

जो कुछ कहा गया है, उसके आधार पर यह देखा जा सकता है कि नारी को स्वाधीन बनाने और उसे पुरुष के बराबर बनाने का काम तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक कि व्यक्तिगत पारिवारिक श्रम की सीमाओं से बाहर निकालकर उसे सामाजिक उत्पादन में नहीं लगाया जाता। नारी तभी स्वाधीन हो सकती है, जब वह सामाजिक उत्पादन में बहुत बड़ी संख्या में भाग लेने लगे और पारिवारिक श्रम में उसे कम से कम समय देना पड़े। इस युग में नारी की स्वाधीनता संभव होने लगी है। इस युग के आधुनिक उद्योग-धंधों में बड़ी संख्या में नारी को सिर्फ काम करने का अधिकार ही नहीं दिया गया, बल्कि उसकी मांग भी की गयी है। दूसरी ओर, इन मशीनों के द्वारा परिवार के सबसे अधिक कठोर श्रमों को सार्वजनिक उद्योग-धंधों में बदला जा रहा है। नारी की स्वाधीनता पूरी तरह से तभी संभव हो सकेगी जब बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों का समाजीकरण होगा और वर्गों को नष्ट कर दिया जायेगा।

इस बात से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय पूंजीवाद के नेता लोग क्यों पारिवारिक श्रम के गुण गाते हैं, जब कि भारतीय उद्योगों के कप्तान (सेठ-मिलमालिक, आदि—अनु.) अपनी मिलों में नारी के सस्ते श्रम को काम में लाते हैं। ये दोनों मिलकर नारी और समाज की स्वाधीनता की असली राह को कुहरे से ढंककर उसे देखने नहीं देते। असलियत यह है कि नारी की स्वाधीनता का मार्ग न तो पारिवारिक श्रम में है और न मध्य-वर्गीय "शिक्षिता कमानेवाली नारी" बनने में है। यह रास्ता सामाजिक क्रान्ति में है, वैसी सामाजिक क्रान्ति में जो उत्पादन के साधनों पर से व्यक्तिगत सम्पत्ति का, वर्ग शासन का और साथ ही साथ नारी के ऊपर पुरुष की सत्ता का नाश करेगा। लेकिन इस समय हम इस विषय पर विचार नहीं कर रहे हैं।

ग्यारहवां अध्याय

अपरिहार्य आत्म-विरोधों का संघर्ष

आर्यों का प्राचीन साम्य संघ तेजी से टुकड़े-टुकड़े होकर गिर रहा था। वह ऐसे आत्म-विरोधों द्वारा टूट रहा था, जिनमें परस्पर कोई समझौता नहीं हो सकता था। **यज्ञ** पद्धति के उत्पादन के अनुसार जिस प्राचीन **धर्म** की स्थापना हुई थी और चूंकि वह उत्पादन पद्धति स्वयं टूट रही थी, इसलिए उसके अन्तर्गत इन विरोधों का समाधान नहीं हो सकता था। उत्पादन के साधनों में विकास होने के कारण उत्पादन के नये सम्बंध अस्तित्व में आ गये थे और प्राचीन **यज्ञ-गण-गोत्र** सम्बंधों के विरोध में वे संघर्ष करते हुए ऊपर उठने की कोशिश कर रहे थे। स्वाधीनता और समानता के आधार पर टिकी हुई सामूहिक सम्पत्ति व्यवस्था को दास प्रथा के आधार पर रची गयी व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था मिटाने की कोशिश कर रही थी। आर्यों के **गणों** को एक हिंसात्मक गृह-युद्ध छिन्न-भिन्न कर रहा था। पिछले अध्यायों में हमने जिन आत्म-विरोधों को विकसित होते हुए देखा था, उनको हम पहले एक साथ देखेंगे, फिर उस गृह-युद्ध का और उसके परिणाम का, **गण**-विधान के अन्त और शासन-सत्ता के उदय का वर्णन करेंगे।

सामूहिक **यज्ञ** के श्रम द्वारा रचे गये छोटे-छोटे साम्य संघ पहले विस्तृत होने लगे, फिर बंट गये और इस प्रकार उनकी संख्या बढ़ती गयी। जो पहले एक था वह अनेक हो गया, जो पहले छोटा था, वह विशाल हो गया। "यही **प्रजापति** की कामना थी;" और यह सब अग्नि के उपयोग और पशु-पालन द्वारा संभव हुआ था।

"बहुतों के साथ एक का सम्बंध कैसे संगठित किया जाय?" इस प्रश्न ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया। **कृत** युग का एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता हुआ वन्य **गण** अब दूर-दूर तक फैले हुए **त्रेता** युग के सम्बंधी **गण-गोत्रों** के रूपों में विकसित हो गया था। उत्पादन करना और अपनी संख्या बढ़ाना, महान **यज्ञ** की सार्वजनिक अग्नि के चारों ओर एक साथ श्रम करना और उसका उपभोग करना तथा **गोत्र** साम्य संघ के प्राकृतिक एवं स्वाभाविक नियमों का

पालन करना—यही उन्नत होते **गणों** का स्वयं-विकसित **धर्म** था, जिससे अर्ध-वन्य अवस्था के प्रथम भाग की समस्याएं सुलझ गयी थीं।

श्रम और धन बढ़ता गया। इस बढ़ती की वजह से श्रम के विभाजन की आवश्यकता पैदा हुई। दस्तकारी, खनिज का काम, धातुओं का काम और खेती का काम आरम्भ हुआ। इनसे नयी समस्याओं का भी जन्म हुआ। **गण** साम्य संघ के अन्दर **वर्णों** का विभाजन हो गया, जिनकी अलग-अलग आर्थिक भूमिका थी। लेकिन समूह के अन्दर ही यह विभाजन हुआ था। प्राचीन अखंड **गण** की आर्थिक व्यवस्था के गर्भ से खंडित **वर्ण** आर्थिक व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। **गण** के अधिकार **वर्णों** के अधिकारों से टकराने लगे।

एक क्षेत्र के **गणों** और कबीलों में कुछ विशेष प्राकृतिक वस्तुओं का तथा धन के विभिन्न रूपों का उत्पादन होता था। उन वस्तुओं को लेकर वे दूसरे **गणों** के सम्पर्क में आते थे, जिनके पास उनके अपने उत्पादन होते थे। इससे विनिमय का प्रारम्भ होने लगा। उपभोग के लिए जो उत्पादन होता था, उससे विनिमय के लिए किये गये उत्पादन की महत्ता ज्यादा बढ़ गयी। **हवन** के लिए जो उत्पादन होता था, वह पीछे पड़ता गया और **हिरण्य**[1] के लिए उत्पादन बढ़ता गया।

विनिमय ने सामूहिक उत्पादन और सामूहिक अधिकार को भी नष्ट कर दिया। निजी उत्पादन और निजी अधिकार का मतलब यह था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का आगमन हो गया था। उस समय तक जिन विभागों और विरोधों को कोई जानता भी नहीं था, वे नये विभाग और विरोध उन सगे सम्बंधियों में और एक **गण** के अन्दर ही प्रकट होने लगे। यह विरोध और विभाग अमीरों तथा गरीबों में था। **गण** दुर्दशा की अवस्था में पहुंच चुका था। जब आर्थिक समस्याओं का कोई दूसरा समाधान नहीं मिल सका, तो उसने धार्मिक या नैतिक प्रचार से समस्या को हल करने की चेष्टा की। उसने यह मांग उठायी कि लोग **हवन** और **दानम्** के नियमों का पालन "कठोरता से करें"—जैसा कि प्राचीन प्रथा के अनुसार उत्पादन के उपभोग, वितरण, और उपयोग में होता चला आया था। पर यह उपदेश असफल रहा। कौन शक्ति इसे लागू कर सकती थी? ब्रह्म-क्षत्र (ब्राह्मण और क्षत्रिय—अनु.) इस उपदेश को नहीं मानते थे और सम्पूर्ण **हवन** तथा **दानम्** का उपभोग वे स्वयं करना चाहते थे। **वर्ण** विभाजन के आधार पर सम्पत्ति एकत्र हो रही थी। यद्यपि हर **वर्ण** में धनी और गरीब होते थे, फिर भी साधारण रूप से ब्रह्म-क्षत्र **वर्ण** के लोग दासों और पशुओं के स्वामी बन चुके थे। सम्पत्तिशाली वर्ग होने के कारण विशों और

१. कार्मारो अश्मभिद्युभि हिरण्य वन्तमिच्छन्तीन्द्रायेन्द्रो परिस्रव। ऋग्वेद : ६-१११।

शूद्रों के श्रम के शोषक भी यही वर्ण हुए। इस तरह से वर्ण-भेद शीघ्रता से वर्ग-भेद में बदल गया और आत्म-विरोध उठ खड़ा हुआ। "गण के भीतर पाया जानेवाला सम्पत्ति का भेद, उसके हितों की एकता को गण सदस्यों के आपसी विरोध में बदल देता है।" (कार्ल मार्क्स)। ब्रह्म-क्षत्र की सम्पत्ति विशाल विश लोकतंत्रवाद के अधिकारों के विरोध में खड़ी हो गयी।

विनिमय ने मुद्रा को जन्म दिया। मुद्रा द्वारा धन का संचय करना आसान हो गया। और वे लोग जो धन का संचय करते थे, उस वर्ण के होते थे जिनको परम्परा और अधिकार द्वारा शक्ति और अस्त्र प्राप्त थे। वे युद्ध संचालन की क्रिया में निपुण और आर्थिक व्यवस्था की विद्या में कुशल थे। धनी और गरीब, शोषक और शोषित के बीच यह विरोध बढ़ता गया। गण सम्पत्ति का संघर्ष वर्ण सम्पत्ति से होने लगा। यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि "धन यज्ञ के लिए है, अथवा संचय और भोग के लिए?"[२]

उत्पादन और धन की बढ़ती ने युद्ध-बंदियों को मृत्यु का शिकार होने से बचाकर उन्हें मजदूर और दासों में बदल दिया था। आर्यों के साम्य संघ में शूद्रों की दासता का प्रवेश हो चुका था। समाज दो विरोधी भागों में खंडित हो गया था—एक भाग वह था जो दासों और धन का स्वामी था, और दूसरा भाग वह था जो अपने स्वामियों की दासता करता था।

सगे सम्बंधियों अथवा रक्त सम्बंधियों के गण में वे लोग भी शामिल होने लगे, जो उसी रक्त के अथवा सगे सम्बंधी नहीं होते थे। उदाहरण के लिए, शूद्र उत्पादक, दूसरे गणों के व्यापारी तथा अन्य लोग गण में शामिल कर लिये जाते थे। गण नियमों के पास इन अपरिचित नयी आर्थिक शक्तियों और वर्गों के लिए, जो प्राचीन और सीमाबद्ध आदिम साम्य संघ में और उसके क्षेत्र में प्रवेश कर रहे थे, कोई विधान नहीं था। इन नये सम्बंधों को बांधने के लिए नये शास्त्र या विधान की आवश्यकता थी, जो यह निर्धारित करता कि अब आर्थिक, वैवाहिक सम्बंध किस प्रकार से संचालित होंगे। गण के प्राचीन नियमों के साथ-साथ या विरोध में इन नये नियमों को प्रकट होना था। विरोध में इसलिए कि नये नियमों का आधार विनिमय और व्यक्तिगत सम्पत्ति थी, जब कि प्राचीन गण नियमों का आधार सामूहिकता थी।[3] इससे एक संघर्ष उठ खड़ा हुआ।

२. "उपनिषदों" ने यह उपदेश देना शुरू किया कि "त्याग द्वारा उपभोग करो, किसी दूसरे के धन की इच्छा या कामना मत करो।"

तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम ॥ ईशोपनिषद।

३. यहां नये "धर्म" और नये नियमों का उदय होता है। पहले के "गण-गोत्र" संगठन में इसका स्थान नहीं था।

गण-गोत्र के साथ ही **गण-राष्ट्र** का जन्म भी हो गया। **गोत्र** केवल सगे सम्बंधियों को ही मान्यता देता था, जब कि **राष्ट्र** उन सबको मान्यता देता था जो किसी एक प्रदेश में और उसकी आर्थिक व्यवस्था में रहते हों—उसमें सम्बंधी और असम्बंधी मिले-जुले होते थे।

व्यक्तिगत सम्पत्ति ने साम्य संघ के परिवार और घर को नष्ट कर दिया था। उसके अन्दर और उसके विरोध में ऐकान्तिक परिवार का जन्म अपनी सम्पत्ति और अपने उत्तराधिकार, आदि को लेकर हुआ। **गण** का विरोध **कुल** से और **प्रजापति** का विरोध **गहपति** से हो गया। व्यक्तिगत परिवार की **गृहाग्नि** के सामने साम्य संघ की **त्रेताग्नि** तुच्छ होकर पीली पड़ गयी। सार्वजनिक **हवन** के स्थान पर निजी भोजन पकाया जाने लगा। **गण** और देवताओं को संतुष्ट करने तथा धोखा देने के लिए उसका नाम **पाक-यज्ञ** रखा गया। बड़े **यज्ञों** का होना बंद हो गया। उनके स्थान पर छोटी-छोटी व्यक्तिगत **इष्टियां** होने लगीं। ये **इष्टियां** धनी **गृहपति** की अथवा निजी गृहस्थों की अपनी स्वार्थ-मयी लालसाओं को पूरा करने के लिए की जाती थीं। ये **काम्य-इष्टियां**[४] कही

जातिजान पदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ मनु. ८-४१॥

इस स्थान पर यह विधान रखा गया है कि अगर "श्रुति" और दूसरे धर्मशास्त्रों में विरोधी नियम मिलें, तो अन्य धर्मशास्त्रों को छोड़कर "श्रुति" के नियमों का पालन किया जाय। लेकिन वास्तव में जो अन्य धर्मशास्त्रों में लिखा होता था, वह नयी अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता था, इसलिए वही माना जाता था। "श्रुति" के अर्थ को वह अपनी इच्छा के अनुसार तोड़-मरोड़ देता था और इस तरह यह काम सफल हो जाता था।

४. साम्य संघ की सामूहिक आर्थिक व्यवस्था का व्यक्तिगत आर्थिक व्यवस्था में जो परिवर्तन हुआ, उसकी छाया प्राचीन बड़ी सामूहिक "यज्ञ-यागों" के ऐकान्तिक परिवार की छोटी "इष्टियों" के रूप में परिवर्तन पर पड़ी। दरिद्र विश गृहस्थ ने "इष्टि" को प्राचीन "यज्ञ" का व्यंग-चित्र बना दिया। अपने छोटे "यज्ञ" में गरीबी के कारण वह पशु की बलि नहीं दे सकता था, जैसा कि प्राचीन बड़े सामूहिक "यज्ञ" में होता था। इसलिए असली पशु के स्थान पर वह अन्न या आटे के बने हुए पशुओं की बलि देकर उन्हें "हवन" की अग्नि में रखता था। सजीव पशुओं पर धनियों का अधिकार था। दरिद्र लोग अपने को और अपने देवताओं को आटे के बने पशुओं से संतुष्ट करते थे (जैसे "दर्शपूर्णमास" का "पुरोडाश" और "अग्निहोत्र" तथा "मधुपर्क" की "अनुस्तर्णी")। गायों का मारा जाना अब बन्द हो गया था। इसलिए नहीं कि गाय पवित्र मानी जाती थीं, बल्कि इसलिए कि गायें अब कठिनता से प्राप्त होती थीं और धनियों का उनके ऊपर एकाधिपत्य था। विश के व्यक्ति खाने के लिए गाय नहीं मार सकते थे। उसका मूल्य चुकाना उनकी शक्ति के बाहर था।

जाती थीं। पहले **गण** के सब सदस्य सार्वजनिक गृह (साम्य संघ) की अग्नि के चारों ओर एकत्र होकर भोजन करने में भाग लेते थे। उस प्रथा को निजी अधिकारों ने नष्ट कर दिया था। अब ये लोग **बलि** के प्रतीक रूप में देवों को उनका भाग देते थे। **अतिथि** और भिक्षुओं को भी कुछ भाग देते थे। मरणासन्न **गण** के अब ये ही प्रतिनिधि बाकी बच रहे थे। "अतिथि-सेवी" होने का गौरव पाने के लिए स्वार्थी गृहस्थ ने अपने भोजन का कुछ भाग इन लोगों को देना मंजूर कर लिया था।

व्यक्तिगत परिवार, गृह और निजी सम्पत्ति के बढ़ने के साथ ही पितृसत्ता और पुत्र का उत्तराधिकार भी प्रमुख होता गया। पितृसत्ता ने मातृसत्ता को दबा दिया। नारी के ऊपर पुरुष का शासन सबसे अधिक शक्तिवान हो उठा। पत्नियों का विरोध पति से और पुत्रों का विरोध माताओं से होने लगा।

जब सामूहिक सम्पत्ति के अधिकार और जीवन के स्थान पर व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों और जीवन का जन्म हुआ, तो **वेद-सूक्तों** के विरोध में **गृह्य-सूत्रों** का जन्म हुआ। **गृह्य-सूत्रों** के नाम से ही मालूम होता है कि उनका उदय व्यक्तिगत सम्पत्ति से हुआ था। वेद विलीन होने लगे। **संहिताओं** के रूप में उनकी रक्षा करना आवश्यक हो गया—क्योंकि अब ये विधि-मात्र ही रह गये थे। उनका विकास और उनकी प्रगति रुक गयी थी और लोग उनको भूलने लगे थे।* **सूत्र** प्रमाण माने जाने लगे, और **वेद** की विधियों से उनका विरोध भी हो जाता था। **गृह्य** यथार्थ हो गये और **वेद** अयथार्थ (**स्मृति** या यादगार) होने लगे—ठीक उसी तरह जैसे कि व्यक्तिगत सम्पत्ति यथार्थ और प्रमुख हो रही थी और सामूहिक सम्पत्ति अयथार्थ होकर मिट रही थी, यद्यपि पूरी तरह से अभी नहीं मिट पायी थी। इसलिए शास्त्रकारों ने लिखा था कि उनके नये **सूत्रों** और **स्मृतियों** में जो कुछ लिखा हुआ है, वही **धर्म** है। परन्तु, यदि नये **धर्म** और पुरानी **श्रुति** में कभी कोई विरोध हो, तो उन दोनों में **श्रुति** ही ज्यादा प्रमाणित मानी जाय। लेकिन यह सिर्फ कहने भर के लिए ही प्रमाण था। व्यवहार में नयी शक्तियां शासन करती थीं और उनका धर्मशास्त्र प्रमाण माना जाता था।

---

* त्रेतायां संहता वेदा यज्ञावर्णास्तथैव च।
संरोधादायुषस्त्वेते व्यवस्यन्ते द्वापरे युगे॥ शांति पर्व, २३८–१०४।
द्वापरे विप्लवं यान्ति यज्ञाः कलियुगे तथा॥ २३८–१०१।

इस स्थान पर यह माना गया है कि "वेदों को संहिता" के रूप में रखने का काम "वर्ण", श्रम-विभाजन और उससे उत्पन्न अन्य निष्कर्षों के साथ-साथ हुआ था। "वेदों को संहिता" के रूप में रखने का मतलब था कि "यज्ञ" का सामाजिक अस्तित्व समाप्त हो रहा था।

प्राचीन गण में जिन अधिकार-पदों को चुनाव द्वारा तय किया जाता था, वे अब पैत्रिक-पद होने लगे थे; और शीघ्र ही गण-हितों के विरोध में व्यक्तिगत हितों की स्थापना हो चली थी। दासों के पुत्र भी दास होते थे। सम्पत्ति ही सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी थी। दरिद्रता को उत्तराधिकार में दरिद्रता मिलती थी। यह संघर्ष बढ़ता गया और तेज होता गया। आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली वर्ग पूरे समाज का संचालन इस प्रकार से करना चाहते थे जिससे कि ये विरोध और भी बढ़ते जायें तथा अन्त में असंख्य कर्मठ जनता, अल्पसंख्यक स्वामी वर्ग के अधिकारों और शक्ति के हित में दास बनकर रह जाय। इसका अर्थ यह था कि विश-शूद्र ब्रह्म-क्षत्र के दास बनकर काम करें।

पशु और दस्तकारी के साथ-साथ उत्पादन की नयी शक्तियों ने **भूमि** को उत्पादन का सबसे अधिक प्रमुख साधन बना दिया था। **प्राचीन गण में** उसके सदस्य संघर्ष करते थे और प्रजा और पशु (**प्रजा-पशवाः**) के लिए प्रार्थना करते थे। तब खेती एक अप्रमुख वस्तु थी, इसलिए भूमि का भी ज्यादा महत्व नहीं था। परन्तु जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ जब उनका जीवन सिर्फ पशुओं के आधार पर नहीं चल सका, तो खेती की मांग बढ़ने लगी। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि खेती करने के लिए जमीन को जंगली वृक्षों से साफ किया जाय।[५] यह काम कांसे के हथियारों से नहीं हो सकता था। **लोहे** को पिघलाने का अन्वेषण किया गया। लम्बे-चौड़े जंगलों का सफाया कर दिया गया और शूद्र दासों तथा वैश्य जोतनेवालों की सहायता से भूमि जोती और बोयी जाने लगी।

गण के जीवन में जो महत्ता अभी तक पशु को प्राप्त थी, उसे दूसरा स्थान दिया जाने लगा और उसके स्थान पर इस नये युग में उत्पादन के साधनों में **भूमि** को प्रथम स्थान मिला। दस्तकारी का काम खेती से अलग कर दिया गया, छोटे नगरों से गांव भी अलग कर दिये गये। शूद्र दासों पर अधिकार करने के साथ-साथ भूमि पर भी अधिकार जमाने के लिए क्षत्रियों के नेता युद्ध करने लगे। इन युद्धों ने **गणों** के संगठन पर काफी असर डाला। जहां पहले शान्तिपूर्ण सामूहिक लोकतंत्र था, वहां अब सैनिक लोकतंत्र हो गया। धीरे-धीरे **गण** के जो सैनिक अंग थे, उन्होंने साम्य संघ पर अधिकार जमा लिया।

> "आबादी पहले से ज्यादा घनी हो गयी। उसकी वजह से जरूरी हुआ कि अन्दरूनी और बाहरी कामों के लिए लोगों में और घनिष्ठ

५, वृक्षों का लगाना और जंगलों का बढ़ाना नहीं, बल्कि जंगलों को साफ करना पुण्य माना जाने लगा। इसीलिए "महाभारत" में खाण्डव जंगलों का जलाया जाना बहुत बड़ी सेवा माना गया है।

एकता हो। हर जगह एक-दूसरे से सम्बंधित कबीलों को मिलाकर महासंघ बनाना आवश्यक हो गया, और उसके कुछ समय बाद ये कबीले आपस में एकदम घुल-मिल गये, और इस तरह अलग-अलग कबीलों के इलाके मिलकर एक जाति का इलाका बन गया। जाति का सेनानायक **रेक्स (राजन्)**[६]... अनिवार्य रूप से आवश्यक और स्थायी कर्मचारी बन गया। जहां कहीं अभी तक जन-सभा नहीं थी, वहां वह कायम कर दी गयी। गण समाज ने जिस सैनिक जनतंत्र के रूप में विकास किया था, उसकी मुख्य संस्थाएं थीं : सेनानायक (**राजन्**), समिति (**सभा**) और जन-सभा (**विदथा**)। सैनिक जनतंत्र (**गणसंघ**) इसलिए कि युद्ध करना, और युद्ध के लिए संगठन करना जाति के जीवन का एक नियमित अंग बन गया था। पड़ोसियों की दौलत देखकर जातियों के मन में लालच पैदा होता था। दौलत हासिल करना उनके लिए जीवन का एक उद्देश्य बन गया था। ये बर्बर लोग थे, उत्पादक काम से उन्हें लूट-मार करना अधिक आसान और ज्यादा सम्मानप्रद लगता था। एक जमाना था जब केवल आक्रमण का बदला लेने के लिए और अपने नाकाफी इलाके को बढ़ाने के लिए युद्ध किया जाता था, पर अब केवल लूट-मार के लिए युद्ध होने लगा, और युद्ध करना एक नियमित पेशा हो गया।"

(**परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति**, पृष्ठ २२८)

धनी ब्रह्म-क्षत्र के परिवारों ने, जो गरीब विश लोकतंत्र और शूद्र दासता के विरोध में धन का संचय कर रहे थे और अमीर बनते जा रहे थे, अपने चारों ओर नगरों और किलों को बनाना शुरू कर दिया था। उनको अपनी रक्षा सिर्फ बाहर के आक्रमणों से ही नहीं करनी थी, बल्कि अपने अन्दर के विद्रोही मेहनतकशों का भी उन्हें भय था। गांव और नगरों का विरोध और भी तीव्र होता गया।

व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर उपज और धन की बढ़ती ने मेहनतकश विश वर्ग और ब्रह्म-क्षत्र के स्वामी वर्ग के बीच की खाई और भी चौड़ी कर दी। विश जितने गरीब होते जाते थे, उतना ही वे विजित शूद्रों के निकट पहुंचते जाते थे। विश लोग पहले विजयी **त्रिवर्णों** के अंश थे। तब वे शूद्र दासों पर अधिकार कर गर्व और प्रसन्नता का अनुभव करते थे। लेकिन व्यक्तिगत सम्पत्ति और दासता के तर्क ने अपने जाल में फांसकर उन्हें भी दासता तक पहुंचा दिया। एक दिन यही गर्वमय विश **ब्रह्मन्** का एकमात्र स्वरूप था, वही सर्वव्यापी

---

६. कोष्ठ मेरे हैं। —लेखक

साम्य संघ था। उसीसे ब्रह्म-क्षत्र वर्णों की उत्पत्ति हुई थी, उसीसे वे भिन्न हुए थे। अब वही विश इतना गरीब हो गया था कि शूद्र की भांति बंधनों में जकड़ कर उसे बेचा जाने लगा। पहले कभी वह विजयी आर्यों का ही एक अंग था। इसी वास्तविकता के कारण उसे यह अधिकार मिला था कि उसके जन्म, विवाह और मरण के संस्कार वैदिक विधि के अनुसार हो सकें। विजातीय शूद्र दास अपने को इस ऊंचे पद तक कभी नहीं उठा सकता था। यद्यपि सिद्धान्त में विश अभिजात शासकों का ही एक अंग माना जाता था, फिर भी दिन-प्रति-दिन के व्यवहार में विश को दास शूद्र के पद तक ढकेल दिया गया था। जो आर्य पहले औरों को दास बनाकर अपनी उन्नति कर रहे थे, अब उन्हें भी बेचा और खरीदा तथा दास बनाया जा सकता था। जब इस लोक में वह दासता तक पहुंचा दिया गया, तो उसने अपने लिए दूसरे लोक में स्वर्ग रचने की कोशिश की। लेकिन वह भी शीघ्र ही उसके हाथ से निकल जानेवाला था। ब्राह्मणों के नेतृत्व में शासक वर्ग ने उस पर भी अपना एकाधिपत्य जमा लिया। विश लोकतंत्र का अन्त पहले भूमि पर हुआ, और बाद को स्वर्ग में।

> "लूट-मार के लिए होनेवाले युद्धों ने सर्वोच्च सेनानायक की और उप-सेनानायकों की शक्ति बढ़ा दी। पहले, आम तौर पर एक ही परिवार से लोगों को उत्तराधिकारी चुनने की प्रथा थी; अब, विशेषकर पितृसत्ता कायम हो जाने के बाद, वह धीरे-धीरे वंशगत उत्तराधिकार के नियम में बदल गयी। शुरू में इस मांग को लोग सहन कर लेते थे, बाद में प्रत्येक मृत अधिकारी का उत्तराधिकारी इस हक का दावा करने लगा, और अन्त में उसने जबर्दस्ती यह हक छीन लिया। इस प्रकार वंशगत राजाओं और वंशगत कुलीनों की नींव पड़ गयी। इस तरह धीरे-धीरे गण-विधान की संस्थाओं की जड़ें जनता के बीच से, गणों, फ्रेटरियों और कबीलों में से उखाड़ दी गयीं, और पूरा गण संगठन अपने से एक बिलकुल उल्टी चीज में बदल गया। पहले वह कबीलों के हाथ में अपने मामलों की स्वतंत्र रूप से खुद व्यवस्था करने का संगठन था, अब वह पड़ोसियों को लूटने और सताने का संगठन बन गया। और इसलिए उसकी संस्थाएं जनता की इच्छा को कार्यान्वित करने का साधन नहीं रह गयीं, बल्कि खुद अपनी जनता पर शासन करने और अत्याचार करनेवाली स्वतंत्र संस्थाएं बन गयीं।"
>
> (**परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति,** पृष्ठ २२८-२९)

ब्रह्म-क्षत्र लोग अब जनता का दमन करने लगे। शोषितों का दमन करने के साथ-साथ लूट का हिस्सा बंटाने के सवाल पर, या शोषण की शक्ति पर

अधिकार करने के लिए वे आपस में भी युद्ध करते थे। पहले समाज रक्त-मिश्रण से, यानी सगे सम्बंधियों के साथ सम्भोग से उत्पन्न सन्तान से डरता था; परन्तु अब "समाज" को, यानी शासक वर्ग को एक दूसरा भय हो गया — **वर्ण-संकर** का भय। यह भय शासक वर्ग में बहुत ज्यादा था कि कहीं **वर्ण** आपस में घुल-मिल न जायें। शासक वर्ग को यह डर था कि कहीं मेहनतकश शूद्र और गरीब विश मिलकर समाज को उलट न दें और शोषकों की व्यक्तिगत सम्पत्ति, पितृसत्ता तथा शासन-सत्ता को नष्टकर प्राचीन **गण** की समानता और सामूहिकता की स्थापना न कर लें। तब तो पूरे संसार का ही अन्त हो जायगा, **प्रलय** हो जायगी! शासक वर्ग कांप रहा था। शोषक और शोषितों के बीच युद्ध भड़कने लगे। शोषक यह कोशिश करते थे कि वे **गण** समाज के समूहवाद और साम्यता के उन अवशेषों को सदा के लिए मिटा दें, जो प्रथा, रूढ़ि या धार्मिक विधियों के रूप में अब भी चल रहे थे; और शोषित यह कोशिश करते थे कि वे व्यक्तिगत सम्पत्ति, धन, तथा अस्त्रों की राज्यकीय शक्ति को रोकें, ताकि वह मेहनतकश बहुसंख्यक जनता के सर पर सवार होकर उसे गुलाम बना पाये।

बारहवां अध्याय

पाणिनि, कौटिल्य, यूनानी तथा अन्य लोगों द्वारा गण संघों का विवरण

अभी तक हमने यह देखने की कोशिश की है कि आर्यों के **गणों** का विकास किस समय और कौन सी दिशा में हो रहा था ? क्या इस बात का लिखित ऐतिहासिक प्रमाण कहीं मिलता है कि जिन रूपों में हमने **गणों** का वर्णन किया है, उन रूपों में उनका अस्तित्व यथार्थ में था ? और यह कि बाद में गृहयुद्ध और आक्रमणों ने उनके उस स्वरूप को तोड़ दिया तथा भारतीय इतिहास के परवर्ती साम्राज्यों का जन्म हुआ ? **गणों** के वर्ग संघर्षों का वर्णन करने से पहले हम इन प्रश्नों को लेंगे।

गणों के प्रारम्भिक विकास की क्रमागत इतिहास सामग्री बहुत अनिश्चित है। अग्नि और पशु की खोज से लेकर, यानी आर्यों के वन्य अवस्था से लेकर **यज्ञ** साम्य संघों की स्थापना, धातुओं को गलाने का अन्वेषण, बुनाई, विनिमय, **वर्णों** में श्रम का विभाजन, व्यक्तिगत सम्पत्ति और शूद्रों की दासता के उदय तक की अवधि कई सौ वर्षों का समय मालूम होती है। इस बात का अनुमान वैदिक ऋषियों द्वारा कहे गये ज्योतिष सम्बंधी निरीक्षण हैं। उनका अर्थ लगाने की कोशिश आधुनिक विद्वानों, जैसे तिलक, दीक्षित, केतकर, आदि ने की है। यह बात किसी सीमा तक निश्चित है कि भारत में आ जाने के बहुत बाद, अच्छी तरह से स्थिर होने पर ही आर्य **गणों** ने **वर्णों**, व्यक्तिगत सम्पत्ति और शूद्रों की दास प्रथा को सर्वांगीण और स्थायी रूप में विकसित किया होगा। ऐतिहासिक क्रम के अनुसार, महाभारत युद्ध के पहले इन सबका जन्म हो चुका था। परम्परा के कथनानुसार महाभारत के बाद ही **कलियुग** का आरम्भ होता है। सामाजिक संगठन के आन्तरिक प्रमाण भी इसी सत्य के साक्षी हैं।

मध्य एशिया के समुन्नत होते प्राचीन साम्य संघ से अलग होकर जब आर्य साम्य संघों की एक शाखा पूर्व दिशा की ओर चली, तब उन साम्य संघों में खेती, श्रम का विभाजन अथवा सैनिक नेतृत्व विकसित नहीं हुआ था। इस

काम को सबसे पहले असुरों ने किया। देवों के साम्य संघ और असुरों के साम्य संघ आपस में एक ही स्रोत से सम्बंधित थे। परम्परा का यह कहना है कि असुरों ने जब खेती के द्वारा पौधों का विकास किया, तो देवों ने उनका विरोध किया। लेकिन जब देवों ने यह देखा कि वास्तव में इन पौधों से अन्न निकलने लगा है, तो वे भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। देव-असुर युद्धों से हमें यह पता लगता है कि देव **गण**, शिल्प की निपुणता या औजारों की निपुणता में असुरों से सदा पीछे रहे थे; और असुरों से ही उन्होंने दृढ़ सैनिक नेतृत्व की शिक्षा लेकर उसे अपने बीच स्थापित किया था। वैसा करने के बाद ही वे असुरों को हरा सके थे। इस तरह यह पता लगता है कि जब वे अपनी मूल प्राचीन निवास भूमि से पृथक हुए थे, तब वे मातृसत्तात्मक **गण** साम्य संघों की व्यवस्था को अपनाये हुए थे और **यज्ञ** प्रणाली के उत्पादन की व्यवस्था में निवास करते थे।

अफगानिस्तान के प्रदेश में और विशेष रूप से सिंधु नदी के मैदानों, हिमालय के दक्षिण प्रदेश तथा पंजाब क्षेत्र में आर्य **गणों** ने **वर्ण**, सम्पत्ति, वर्ग और दासता को विकसित किया था। आर्यों के प्राचीन वैदिक क्रिया-कलापों का सम्बंध इसी क्षेत्र से है।

आर्य **गणों** ने पूर्वी प्रदेशों पर आक्रमण एक साथ और एक ही लहर में नहीं किया था, बल्कि कई सौ वर्षों तक ये हमले चलते रहे थे। इसलिए कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि उन आर्यों को, जो बाद में आये थे, भारत में पहले से बसे हुए आर्यों के साथ युद्ध करना पड़ा। इस बात से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि **ऋग्वेद** में क्यों इन्द्र से इसकी प्रार्थना की गयी थी कि आर्यों के एक **गण** के विरुद्ध वह दूसरे की सहायता करें। **ऋग्वेद** में इन्द्र सभी आर्यों के नेता माने जाते हैं। उस मंत्र के रचियता इन्द्र से सहायता की याचना करते हुऐ यह कहते हैं कि दस्यु (अनार्य — अनु.) और आर्य दोनों ही उनके शत्रु हैं।

लगभग तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व से लेकर दो हजार वर्ष ईसा पूर्व के समय में आर्यों ने सिंधु की घाटी पर आधिपत्य, वहां के मूल निवासियों पर विजय तथा **वर्ण** व्यवस्था और दासता का विकास कर लिया था।

इसके परवर्ती काल में ही विभिन्न आर्य **गणों** का विकास सैनिक लोकतंत्रवादी व्यवस्था अथवा सीमाबद्ध अभिजात्यवादी व्यवस्था में हुआ था। तभी उनकी वर्ग-हीन सामाजिक व्यवस्था का विधान टूट गया था और सम्पत्ति तथा दासता के विकास में सहायक होनेवाले नये सामाजिक संगठन की स्थापना हुई थी, यानी राज्य और वर्ग शासन की स्थापना की गयी थी।

पशु धन, कृषि, दस्तकारी, विश तथा शूद्र दासों के श्रम के आधार पर ही आर्यों का वैभव और शक्ति में उत्कर्ष हो सका, जिसकी सहायता से पूर्व की

ओर गंगा की वादियों में उनका विस्तार हो सका। इसी अवस्था में **गणों** में गृह-युद्धों का प्रारम्भ हो गया। परशुराम और हैहय, आदि के बीच **वर्ण-युद्धों**, आदि की शुरूआत भी इसी काल में हुई।

गंगा की वादियों में पहुंचने के बाद ही ाभिजात्य (Classical) हिन्दू दास शासन व्यवस्था इस सीमा तक परिपक्व हो पायी थी कि उसका जन्म संभव हो सके। उसी काल में महाभारत युद्ध भी हुआ। यह समय २,००० ईसा पूर्व से लेकर १,५०० ईसा पूर्व तक का है। महाभारत युद्ध के लिए सबसे बाद का समय यही निर्धारित किया गया है। कुछ लोगों का मत है कि महाभारत युद्ध ३,००० ई. पू. हुआ था, लेकिन साधारणतया लोग इस मत का समर्थन नहीं करते।

महाभारत युद्ध में परस्पर ध्वंस इतनी मात्रा में हुआ था कि कुछ समय तक किसी स्थान पर भी शक्तिशाली राज्य की स्थापना नहीं हो सकी। दास राज्यों का विकास रुक गया और एक बार **गण-संघों** को जीवित रहने का फिर अवसर मिल गया। लेकिन बहुत ही अल्प काल के लिए यह सम्भव हो सका था। गंगा की वादी में केन्द्रीय अर्ध-दास और अर्ध-सामन्ती राज्यों की वृद्धि ने **गण-संघों** का नाश कर दिया। हस्तिनापुर और पाटलीपुत्र के शक्तिशाली राज्यों से दूर हिमालय और विंध्याचल की घाटियों तथा सिंधु नदी की वादी की छाया में कुछ **गण-संघ** फिर भी जीवित रह गये थे। उनमें से कुछ तो सिकंदर के नेतृत्व में यूनानियों के भारत आने के समय तक वर्तमान थे। उनका वर्णन सिकंदर के वंशावली लेखकों ने किया था। उनके रहन-सहन का वर्णन उन्होंने भी उसी प्रकार किया था, जैसा कि हमने अपने वर्णन में लिखा है।

यूनानी लेखकों के अलावा हमारे पास प्राचीन भारतीय व्यवस्था के विषय पर लिखनेवाले स्वदेशीय लेखकों के प्रमाण भी वर्तमान हैं। उन सब सामग्रियों को एकत्र कर यदि हम अध्ययन करें, तो यह सम्भव हो सकता है कि हम कुछ प्राचीन **गणों** के नामों और स्थानों का ठीक-ठीक पता लगा सकें। उसमें से कुछ सामग्री तो ऐसी है जिसके द्वारा यह स्पष्ट ज्ञात हो सकता है कि महाभारत युद्ध, यानी दास-राज्य की अंतिम विजय के पहले वे **गण** कैसे रहते थे।

जैसा कि वस्तुओं का स्वभाव है, उसके अनुसार कोई भी यह आशा नहीं कर सकता कि आदिम साम्य संघों के युग के **गण** उसी रूप में परवर्ती प्राचीन काल में भी वर्तमान रहे थे। लेकिन हमें ऐसे **गणों** का वर्णन लिखा मिलता है, जो इस प्राचीन युग में अपने यथार्थ रूपों में वर्तमान थे और बाद में भी सुखपूर्वक अपना जीवन बिताते थे। इन **गणों** की यह विशेषता बतायी जाती है कि ये **अराजक** अवस्थाओं में रहते थे और इस शब्द का वह गलत अर्थ बताया जाता है जो आधुनिक काल में अराजकतावाद से ध्वनित होता है। दास युग के

लेखकों और राजतंत्र के प्रमुख पुरुषों ने ऐसे **गणों** का वर्णन इस ढंग से किया है जिससे यह मालूम हो कि ये **गण** बहुत निन्दनीय और त्याज्य थे। **पर** उस निन्दा से भी हमें ज्ञात हो जाता है कि उन **गणों** की मुख्य विशेषताएं क्या थीं? जैसा पहले कहा जा चुका है, कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में इन **वैराज्य गणों** के वर्णन में यह कहा गया है कि उनके समाज में "अपने" और "पराये" का प्रश्न नहीं उठाया जाता था। **अराजक** को तो बुराई में और भी दो कदम आगे बताया गया। **महाभारत** के एक वर्णन में लिखा मिलता है कि जब पहले सब लोग **अराजक गण** में निवास करते थे, तो एक-दूसरे को मारते हुए उन लोगों का नाश हो गया। तब वे लोग पितामह ब्रह्मा के पास गये, जिन्होंने उनको यह मंत्रणा दी कि वे एक ऐसे राजा का निर्माण करें जो उनके ऊपर शासन करे। किन्तु ऐसा लगता है कि कुछ **गण** ऐसे भी थे जिन्होंने पितामह ब्रह्मा से यह कहा कि अपनी मंत्रणा को और दासों के लिए राजतंत्रवाद की व्यवस्था को आप अपने पास ही रखें और वे **अराजक** व्यवस्था में ही रहते चले आये। **अचारंग जैन सूत्रों** में निम्नलिखित प्रकार के **गणों** का अस्तित्व लिखा गया है : **अर्याणी, गणार्याणी, जुवार्याणी, दो-रज्जणी, वी-रज्जणी** और **विरुद्ध-रज्जणी**। यदि इन छः प्रकार के **गणों** में से हम पहले **अर्याणी** अर्थात **अराजक** अथवा राजाहीन सामाजिक-व्यवस्था की विशेषताओं को देखें, तो हमें यह पता लगता है कि इस प्रकार के **गणों** में व्यक्तिगत सम्पत्ति, वर्ग, दासता और शोषण का अभाव था। इसीलिए कौटिल्य और महाभारत उनको घृणा की दृष्टि से देखते थे। प्राचीन युग की भांति इन **गणों** में लोग अभी भी मिलकर साथ-साथ काम करते थे और एक साथ भोजन करते थे। उस प्रकार के समाज का वर्णन हमें **अथर्ववेद** में प्राप्त होता है जिसमें **गण**-सदस्यों को सम्बोधन करते हुए यह कहा गया है :

> "... क्या तुम यहां परस्पर सहायता करते हुए, एक ही यष्टि के साथ-साथ चलते हुए और एक-दूसरे के प्रति सुंदर आचरण करते हुए आये हो? ... तुम्हारा पान (पेय) सबके लिए एक सा ही होना चाहिए और तुम्हारे भोजन का भाग भी सबके लिए एक सा ही होना चाहिए। मैं तुम सब लोगों को एक ही प्रवृत्ति अथवा मार्ग में लगाता हूं।"*
>
> (ब्लूमफिल्ड द्वारा अनूदित)

---

* ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मावि यौष्ट संराधयन्तः साधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एव संध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि।
समानी प्रपा सहवोन्नभागः समाने योक्त्ने सह वो युनज्मि।
(अथर्ववेद : ३, ३०, ५–६)

इसी प्रकार के समाज को जैन-यात्री ने भी, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दक्षिणी भारत में पाया था। सिकंदर के युग के यूनानी इतिहासकारों ने भी उसे देखा था और उनके विषय में यह लिखा था कि वे लोग वैभवशाली थे। नागरिक लोग एक साथ भोजन करते थे, जैसा कि **अथर्ववेद** में लिखा मिलता है।[1] "किसी भी कला की अतिशयता को वे तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे, जैसे युद्ध की कला अथवा उसी प्रकार की किसी अन्य कला को।" (स्ट्राबो, १५, ३४; जायसवाल द्वारा उद्धृत।) यूनानी इन लोगों को मूसीकानी कहते थे—पता लगाने पर यह ज्ञात हो सका है कि उनका नाम मुचिकर्णिका था।

यह स्वाभाविक था कि इस प्रकार के **अराजक गणों** की संख्या परवर्ती इतिहास में बहुत ही कम रह गयी, क्योंकि दास-राज्यों और व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था के पास अतीव ध्वंसात्मक शक्ति थी जो भारत में आदिम साम्य संघों को निगलती जा रही थी।

दूसरे प्रकार के प्रमुख **गण** वे होते थे, जिनमें **वैराज्य** विधान चलता था। इस **गण** में भी राज्य और राजतंत्र का विकास नहीं हुआ था। फिर भी इसमें **वर्ण** के रूपों में श्रम-विभाजन, सम्पति की विषमता और पितृसत्तात्मक दासता का विकास हो गया था। **एतरेय ब्राह्मण** और **यजुर्वेद** में उन लोगों का उल्लेख किया गया है जो **वैराज्य** सामाजिक विधान के अनुसार रहते थे।

उत्तरी भारत में ये लोग उत्तरकुरु और उत्तरमाद्र थे, दक्षिणी भारत में भी कुछ इसी प्रकार के और समाज थे। ये कुरु और माद्र हिमवत में, अर्थात हिमालय के प्रदेश में निवास करते थे।

इन कुरुओं और माद्रों की क्या विशेषताएं थीं? वहां "सम्पूर्ण **जनपद**[2] शासक के पद पर प्रतिष्ठित होता था," जिसका अर्थ यह हुआ कि वहां पर लोकतंत्रवादी व्यवस्था थी। पर वह किसका लोकतंत्र था? क्या यह प्राकृतिक आदिम **गण**-संघों जैसा लोकतंत्र था? नहीं। ऐसा नहीं था। कुरुओं और माद्रों के इस लोकतंत्रवाद को **वैराज्य** के नाम से पुकारा गया था; केवल इसलिए नहीं कि उसमें पूरा **जनपद** शासक के पद पर आसीन होता था, बल्कि इसलिए भी कि **वैराज्य** विधान के अनुसार, जैसा **पुरुष-सूक्त** में कहा गया है, एक विशेष

---

१. "गण" के सहभोज केवल सामाजिक पिकनिक की भांति ही नहीं होते थे; बल्कि आदिम साम्य संघों के जीवन का वे एक आवश्यक अंग होते थे। उन साम्य संघों में व्यक्तिगत सम्पत्ति और दासता का उदय नहीं हुआ था।

२. "जनपद" का अर्थ लोग बहुधा सामान्य जनता से करते हैं, जो पूरे तौर पर ठीक नहीं है। प्राचीन काल में इस शब्द का अर्थ "मूल गण के सदस्य" होता था, जो नये शूद्र दासों और अन्य विदेशी लोगों से भिन्न होते थे।

प्रकार के समाज का निर्माण हो रहा था। यह विशेषता क्या थी ? अभी तक उनमें तीन **वर्ण** ही होते थे, पर अब उन्होंने एक चौथे **वर्ण**—शूद्र की भी स्थापना कर ली थी। उसकी स्थापना के बाद उत्तरकुरुओं ने फैलना शुरू किया और वैभवशाली होने लगे। सम्पूर्ण भूमि पर वे अपना आधिपत्य जमा लेना चाहते थे। वे **विराट** होने लगे। उन्होंने शासन-सत्ता की ओर पहला कदम बढ़ाया था। उस शासन-सत्ता का अर्थ शूद्र दासों के ऊपर वैभवशाली **त्रिवर्णों** का शासन था। **पुरुषसूक्त** में इसी प्रकार के नये **पुरुष** (अर्थात **गण** जनता) की उत्पत्ति हुई थी। **वेद** के लेखक इस बात पर अत्यंत आनन्दित थे कि इस नये रूप में वैभव और उन्नति बहुत तेजी के साथ हो रही थी। **पुरुषसूक्त** उन आर्यों का गीत था जो दासों के स्वामी थे और जिन्होंने दासता का अन्वेषण कर वैभव और उत्कर्ष का पथ प्रशस्त कर लिया था। वह स्वयं अभी पितृसत्ता के अन्तर्गत रहता था और अपने परिवार समेत शूद्रों के साथ-साथ उसे भी श्रम करना पड़ता था। इस प्रकार से **वैराज्य गण** का लोकतंत्र ऐसा सीमाबद्ध अभिजात्यवाद था, जहां लोकसभा द्वारा शासन तो होता था, पर उसमें, यानी **जनपद** में शूद्र नहीं होते थे। जहां तक शूद्रों का प्रश्न था, तो वह लोकसभा सीमाबद्ध अभिजात्यों की ही हुआ करती थी। बाद में चलकर विशेषाधिकार प्राप्त **द्विज** अभिजात्यों की श्रेणी से आर्य जाति के दरिद्र वैश्य भी बाहर निकाल दिये गये थे।

वैराज्य के साथ-साथ चलनेवाली अथवा उसके आगे की व्यवस्था **स्वराज्य** संगठन की थी जो पश्चिमी भारत में प्रचलित थी और जिसका उल्लेख **एतरेय ब्राह्मण** में मिलता है। यह उस **गण** का विधान है जिसमें उसका आकार इतना विशाल हो गया था कि वह एक सम्पूर्ण इकाई की भांति क्रियाशील नहीं हो सकता था। इसलिए **सभा** में अपनी सामूहिक क्रियाशीलता के परिचालन के लिए ज्येष्ठ लोगों की एक समिति इस व्यवस्था में चुनी जाती थी। **गण** अथवा **गण** समूहों के ढांचों के अन्दर ज्येष्ठ लोगों की ये सभाएं समय के साथ-साथ पैत्रिक होती गयीं और एक चिरकालीन अभिजात्यों की व्यवस्था को उन्होंने जन्म दिया। इसीलिए परवर्ती काल में हम **गण** की परिभाषा यह पाते हैं कि **कुलों** अथवा परिवारों के समूह को **गण** कहते हैं।* **स्वराज्य** का तत्व क्या था ? इसका अर्थ स्व-शासन कभी नहीं था, यद्यपि शाब्दिक अर्थ यही निकलता है। इसका अर्थ वह नेतृत्व था जिसे **गण** की क्रियाशीलताओं के संचालन के लिए निर्वाचित और अभिषिक्त किया जाता था। इस नेतृत्व को **अपनी इच्छानुसार** संचालन करने का अधिकार होता था। वह "ज्येष्ठ" कहा जाता

---

* कुलानां हि समूहस्तु गणः संपरिकीर्तितः। (वीर मित्रोदय)

था। वह निर्वाचित **स्वराट**, जो पहले **गण** सदस्यों के समकक्ष और समान था, अब उनसे ज्येष्ठ अथवा बड़ा हो जाता है—जैसा कि **तैत्तरीय ब्राह्मण** ने वर्णन किया है।*

इस बात से यह देखा जा सकता है कि आदिम साम्य संघ जैसे ही अपनी पुरातन विशेषताओं को छोड़ व्यक्तिगत सम्पत्ति, वर्ग, धनी और निर्धन, तथा स्वामी और दास का विकास करने लगता है, वैसे ही उसकी प्राकृतिक लोक-तंत्रवादी व्यवस्था का अन्त होने लगता है—इन्द्र और अन्य देवों के समय के साम्य संघों का लोकतंत्र उसमें नहीं रह जाता। अपने संचालन के लिए तब उसने नये अंगों को विकसित किया और धीरे-धीरे उस अवस्था तक पहुंच गया, जहां वर्ग का विरोध भयंकर रूप लेने लगा, और हिंसात्मक युद्धों में वह विरोध फूटने लगा जिसके द्वारा अन्त में वर्ग-शासन अथवा राज्य की स्थापना हुई। ये **गण गण-गोत्रों** की बातों को छोड़ ऐसे **राज्यम्** की बात करने लगे थे, जो एक प्रादेशिक राजनीतिक इकाई थी और जिसमें **गण** सदस्य और उनके विरोधी दोनों रहते थे।

गण साम्य संघों के प्रथम काल में, जब उनका आकार छोटा था, पूरा विश मिलकर अपनी क्रियाशीलताओं का संचालन किया करता था। जब उन्हें युद्ध संचालन के लिए किसी एक नेता को निर्वाचित करना होता, तो साम्य संघ के सब सदस्य उसे चुनते थे। जब युद्ध एक जीविका अथवा पेशा ही बन गया और निर्वाचित नेतृत्व एक सीमा तक स्थायी हो गया, तब विश-भवन का, जिसे **समिति** या **नरिष्ट** कहते थे, स्थान **सभा** ने ले लिया। निर्वाचित नेतृत्व, पैतृक राजत्व न होकर विशेषाधिकार प्राप्त अभिजातीयता बन गयी। उस नेतृत्व को निर्वाचन द्वारा शक्ति प्राप्त होती थी और **गण** द्वारा ही उसका अभिषेक होता था। जब **गण** ने व्यक्तिगत सम्पत्ति, **वर्ग** और दासता को विकसित कर लिया, तो वह **राज्यम्** हो गया और वह निर्वाचित नेतृत्व जो "शासन करने" के लिए चुना जाता था, **राजन्** होने लगे।

अभिजात कुलों का परिवर्तन **राजकुलों** में हो गया। इतिहास के पथ में जब वर्ग संघर्ष उठने लगे और उनमें दासों के स्वामी विजयी होने लगे, तब **राजकुलों** में से सबसे अधिक दासों और भूमि का स्वामी पैतृक राजा हो गया। तभी से निर्वाचन विधि में परिवर्तन किया गया। उसमें चुनाव जैसा कुछ भी

---

* एतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानो येऽपाच्यानां स्वराज्ययैव तेऽभिषिच्यन्ते स्वराड् इत्येनान् अभिषिक्तान् आचक्षत। (ए. ब्रा., ८–४)
य एव विद्वान वाजेपेयन यजति। गच्छति स्वाराज्यम्।
अग्रंसमानानां पर्येति। तिष्ठन्तेऽस्मै ज्येष्ठूयाय। (तै. ब्रा., १-३-२-२)

नहीं होता था। कुछ परिवर्तनों के साथ उसी प्राचीन संस्कार के रूपों में राजा का अभिषेक होने लगा। **समिति** में **गण** का सम्पूर्ण लोकतंत्र क्रियाशील रहता था, जब कि **सभा** में एक छोटा समूह, यद्यपि वह सम्पत्तिशाली कुलों में से निर्वाचित होता था, शासन करता था। जब नगर और देहात अलग-अलग होने लगे और एक ओर दस्तकारी तथा व्यापार और दूसरी ओर खेती का काम होने लगा, तो उत्पादन, विनिमय और सम्पत्ति के आकर्षण केन्द्र भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर हो गये और लोगों को अपनी ओर खींचने लगे। तभी से **जनपद** और **पौर** का अस्तित्व होने लगा। **जनपद** कृषि-सम्पत्ति के केन्द्र तथा **पौर** धनी दस्तकारों के समूह और व्यापारियों के केन्द्र होते थे, जो स्वभावतः नगर या राज-दरबार के चारों ओर हुआ करते थे। **समित-सभा** के स्थान पर जब **जनपद** और **पौर** का अस्तित्व होने लगा, तब **गण** का अन्त हो गया था। शासन-सत्ता अपनी शक्ति लेकर आ गयी थी, जो शोषक वर्गों के कल्याण के लिए शोषितों पर शासन करने लगी थी। साधारणतया हमारे इतिहासकार **जनपद** और **पौर** के वर्ग रूपों को नहीं देख पाते हैं।

व्याकरण के आचार्य पाणिनि के ग्रंथों में, जिनका जन्मकाल महाभारत युद्ध का परवर्ती समय है, और **महाभारत** के उन अध्यायों में, जो बाद में लिखे गये हैं, हमें उन लोगों का विवरण मिलता रहा है जो **गण** पद्धति के अनुसार रहते थे। लेकिन हम यह भी देख सकते हैं कि उन **गणों** में सम्पत्तिशाली **कुल** अपनी प्रमुखता के लिए परस्पर भीषण युद्ध में संलग्न थे और सब मिलकर **गण** लोकतंत्र का सम्पूर्ण रूप से विरोध कर रहे थे।

पाणिनि ने अनेक **गण** समूहों अथवा **गण-संघों** का उल्लेख किया और उनका दो नामों से वर्णन दिया है। कुछ को वह **आयुधजीवी संघ** कहते हैं। इन्हीं संघों को कौटिल्य ने बाद में **शस्त्रोपजीवी** के दूसरे नाम से भी पुकारा। दोनों शब्दों का अर्थ एक ही था। **आयुधजीवी** को दूसरे नाम से भी पुकारा गया — उन्हें **वार्त्ता-शस्त्रोपजीवी** भी कहा गया। दूसरे प्रकार के **गण** समूहों को **राजशब्दोपजीवी** कहा गया है। इन नामों से जिन सामाजिक संगठनों का बोध होता है, उसे किसी भी भाष्यकर ने समुचित रूप से उपस्थित नहीं किया। जायसवाल तक भी इस काम को नहीं कर सके, यद्यपि उनका महान उद्देश्य यह था कि भारतीय इतिहास लेखन के ढांचे के अन्दर इन सब **गणों** के स्वरूपों को उपस्थित किया जाय। निस्संदेह ये विवरण **गणों** के किसी सामाजिक-आर्थिक अथवा सामाजिक-राजनीतिक संगठन की ओर संकेत करते हैं। परन्तु ऐसा लगता है कि इन दो प्रकार के **गणों** की भिन्नता को और उनके तथा प्राचीन **गणों** के अन्तर को ठीक तरह से समझा नहीं जा सका है।

आयुधजीवी और शस्त्रोपजीवी संघों का अर्थ उन **गणों** से है, जो अब भी अपनी उस प्राचीन विशेषता को लिये हुए थे जिसके अनुसार उस **गण** के सभी सदस्य सशस्त्र होते थे। लेकिन सामाजिक संगठन की इसी एक विशेषता का उल्लेख क्यों किया गया है ? यह इसलिए कि उस समय तक **गण** सदस्यों ने किसी ऐसे वर्ग शासन और स्थायी वर्ग विभाजन को विकसित नहीं किया था जिसमें केवल शासक वर्ग के हाथों में, अथवा निशस्त्र श्रमिक जनता के विरुद्ध सेना के हाथों में शस्त्र की शक्ति केन्द्रित होती थी और जिसके द्वारा निःशस्त्र जनता शासित होती थी। इस विशेषता का उल्लेख इसलिए किया गया है कि उस समय तक **गण** का निर्वाचित नेतृत्व एक सशस्त्र पैतृक अभिजात वर्ग में परिणत नहीं हो गया था। राजतांत्रिक वर्ग शासन-सत्ता के लेखक, **गण** की इस विशेषता की ओर स्वभावतया आकर्षित हुए थे। यह सैनिक लोकतंत्र था। फिर भी उस आदिम साम्य संघ से इसका रूप भिन्न था जिसमें किसी भी वर्ग की सत्ता नहीं थी। इस **गण** में सम्पत्ति-भेद प्रवेश कर चुका था। कृषि (**वार्त्ता**), व्यापार, मुद्रा, धन तथा पितृसत्तात्मक दासता का उदय भी उन **गणों** में होने लगा था। लेकिन वर्गों के आत्म-विरोध इतने तीव्र नहीं हो उठे थे कि निर्धन श्रमशील आर्य विशों का नाश करने की अथवा उनको निःशस्त्र करने की आवश्यकता आ जाती। **गण** के अन्दर सब लोग श्रम करते थे और शूद्र दासों को छोड़कर सब लोग शस्त्र धारण करते थे। उस सशस्त्र श्रमिक **गण** में नेतृत्व के पद पर सम्पत्तिशालियों को चुना जाता था। इस प्रकार के **वार्त्ता-शस्त्रोपजीवी** अथवा **आयुधजीवी संघों** का अस्तित्व भारत में हम ३०० वर्ष ईसा पूर्व तक पाते हैं। उन संघों में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं :

> १. वृक; २. दामानि "तथा अन्य"; ३–८. छ त्रिगर्तों का मंडल (इस मंडल के छ सदस्य कौण्डोपरथ, दाण्डकी, कौष्टकी, जलमानि, ब्राह्मगुप्त और जानकि होते थे);* ९. यौधेय तथा अन्य; १०. पार्श्व तथा अन्य; ११. क्षुद्रक; १२. मालव; १३. कठ; १४. सौभूति; १५. शिवि; १६. पाटल; १७. भागल; १८. कंभोज; १९. सुराष्ट्र; २०. क्षत्रिय; २१. श्रेणी; २२. ब्रह्माणक; २३. अम्बष्ठ।

यहां इसे स्पष्ट देखा जा सकता है कि गंगा की वादी के शक्तिशाली दास राज्यों के प्रसार के कारण तथा स्वयं **गणों** के अन्दर कृषि और व्यापारिक अर्थ-व्यवस्था के समुन्नत होने से वे अपनी रक्षा, युद्ध और उन्नति करने के लिए विभिन्न मंडलों या संघों के रूपों में विकसित होने लगे थे। परन्तु इतिहास

---

* आहुस्त्रिगर्तषष्ठारतु कौण्डोपरथ दाण्डकी।
कौष्टकि जलिमानिश्च ब्राह्मगुप्तोऽथ जानकिः॥

ने गंगा की वादी में रहनेवाले "पुराणपंथी" आर्यों की दास-स्वामी शासन-सत्ता द्वारा उनका ध्वंस कराना निश्चित कर लिया था।

अधिकांश रूप में ये **गण** किस प्रदेश में स्थित थे ? पाणिनि के अनुसार ये वाहीक प्रदेश में थे। यह प्रदेश सिन्ध नदी की घाटी में पंजाब से लेकर सिंध के दक्षिण तक फैला हुआ था। क्षुद्रक और मालव सिन्ध के निकट निवास करते थे। छः त्रिगर्त जम्मू के निकट हिमालय के पर्वतीय जिलों में रहते थे। हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी भारत में, जहां तक विंध्याचल की सीमा है वहां तक, उपरोक्त **गण-संघों** के सैनिक लोकतंत्र का प्रभुत्व था। अपने अस्तित्व के प्रमाणों द्वारा मानो वे इतिहास से इस बात की घोषणा कर रहे थे कि उस शासन को, जो एक वर्ग की हिंसा पर टिका हुआ था, जिसमें दासों के स्वामियों और व्यक्तिगत सम्पति का एकाधिपत्य था—चाहे वह शासन राजतंत्र के परिधान में हो अथवा जनतंत्र के परिधान में—पूरे भारत को आत्मसात करने में सैकड़ों वर्ष लग गये होंगे। यद्यपि सम्पत्ति भेद और दास प्रथा के कारण उनकी शक्ति पहले से अधिक क्षीण हो चुकी थी, फिर भी **गण-संघों** की आन्तरिक एकता और संगठन इतना दृढ़ था कि सिकंदर की विजयिनी सेनाओं को उनके हाथ से सिन्धु के तटपर हार खानी पड़ी थी। और जब उन्होंने सिकंदर को आत्मसमर्पण भी किया, तो उसका मुख्य कारण उन **गणों** के शक्तिशाली धनी वर्ग थे, जो आक्रमणकारी से युद्ध करने के स्थान पर उससे शान्ति की आशा रखते थे और सर्वनाश के खतरे से भय खाते थे।

सौभूति और कठ **गणों** के विषय में लिखते हुए यूनानिनों का यह कथन है कि उस समय में उनकी नारियां अपनी इच्छा के अनुसार किसी पुरुष से विवाह करती थीं (संभवतः इसका अर्थ **स्वयंवर** अथवा **गंधर्व** विवाह से रहा हो)। शक्ति और सौन्दर्य का अपने बीच वे बहुत आदर करते थे। सन्तान-पालन के विषय में वे लेखक यह कहते हैं :

> "इन **गणों** में सन्तानों को माता-पिता की न तो मान्यता दी जाती थी और न उनका पालन-पोषण ही उनकी (माता-पिता की) इच्छा के अनुसार होता था। उनका पालन-पोषण माता-पिता के स्वास्थ्य-रक्षकों अथवा वैद्यों के कथनानुसार होता था, क्योंकि अगर वे किसी भी शिशु को विकलांग या सदोष शरीर का पाते थे, तो उसे मार डालने का आदेश देते थे।"

यह सब ऐसे ही **गण** में संभव था जहां एक ओर अत्यंत गरीबी के नहीं होने और दूसरी ओर धन के कारण साधारणतया स्वस्थ्य सन्तानें जन्म लेती

थीं, जहां अस्वस्थ और सदोष शिशु अपवाद-स्वरूप ही उत्पन्न हो सकते थे, जहां व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों, परिवारों और उत्तराधिकारों को **गण** के कल्याण से अधिक महत्वशाली नहीं समझा जाता था, तथा जहां निरंतर संघर्ष के कारण और अर्ध-वन्य युग की उत्पादन प्रणाली तथा उसके साधनों के पिछड़े हुए होने से वीर योद्धाओं के निर्माण के लिए ऐसी सजगता अपनाना आवश्यक होता था।

यह स्पष्ट है कि जब हम पाणिनि, कौटिल्य और यूनानी लेखकों के **गण** सम्बंधी विवरणों को देखते हैं, तब तक उन **गण-संघों** पर सम्पत्ति भेद और इसलिए वर्ग-भेद अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था। भाषा की बनावट में भी ये भेद प्रतिबिम्बित होने लगे थे। मल्लों के स्वतंत्र नागरिकों को मालवाः कहा जाता था, लेकिन शूद्र दास और दस्तकारों को उनसे भिन्न मालव्य कहा जाता था। यौधेयों ने **गण-संघ** की व्यवस्था को संचालित करने के लिए पांच हजार प्रतिनिधियों की एक सभा बनायी थी। पर उस सभा में कौन प्रतिनिधि हो सकता था? वही व्यक्ति उस सभा में प्रतिनिधि हो सकता था जो निर्वाचित होने के बाद **गण** को एक हाथी भेंट कर सकता हो। इस प्रकार, कुछ लोग ऐसे थे जिनके पास हाथी थे और कुछ लोग ऐसे थे जिनके पास हाथी नहीं थे। इससे यह स्पष्ट है कि **गण** में सम्पत्ति भेद वर्तमान था और उसमें धनिकों तथा गरीबों की सत्ता थी। इस सम्पत्ति भेद के प्रभाव को अम्बष्ठों में देखा जा सकता है। उनके विषय में यह कहा जाता है कि धनी ज्येष्ठों की मंत्रणा के आधार पर अम्बष्ठों ने सिकंदर के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था, जब कि साधारण लोग उसके विरुद्ध थे। स्वार्थिनी व्यक्तिगत सम्पत्ति अपने वर्ग के हितों की रक्षा के लिए हमेशा अपने देश या राष्ट्र को आक्रमणकारियों के हवाले कर देती है।

ऐतिहासिक प्रामाणिक लेखों में जिस दूसरी श्रेणी के **गणों** का उल्लेख मिलता है, वे **राजशब्दोपजीवी** के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये वे **गण** हैं जिनमें सम्पत्ति भेद और **गण**-युद्धों का संगठन इस सीमा तक पहुंच गया था और साम्य संघ का लोकतंत्र इस हद तक शिथिल और दुर्बल हो गया था कि परम्परा के अनुसार **गण** के निर्वाचित नेतृत्व ने अपने को पैतृक अभिजातों में परिणत कर लिया था। शासक सभाओं के लिए केवल इन्हीं अभिजातों में से व्यक्तियों को चुना जा सकता था। ये ही सभाएं **गण-संघों** के **राजन** कहलाती थीं, और यह आवश्यक नहीं था कि **राजन** सेना के प्रमुख नायक या सेनापति ही हों। लिच्छवी, मल्ल, साक्य, मौर्य, कुकर, कुरु, पंचाल, आदि इस प्रकार के प्रसिद्ध **राजन-गण** थे। परवर्ती काल में महाभारत काल के विख्यात कृष्ण के अन्धक-वृष्णीषों का संघ भी इसी श्रेणी का संघ हो गया था। विख्यात कुरु और माद्र

गणों की कुछ शाखाएं, जिन्होंने अपने **वैराज्य** विधान द्वारा दासता और शूद्र व्यवस्था की नींव रखी थी, **राजन्य गण-संघों** में परिवर्तित हो गयी थीं। पहले उन्होंने पैतृक परम्परा की अभिजातीयता को विकसित किया, फिर बाद में राजतांत्रिक दास शासन-सत्ता को जन्म दिया, जिसका अन्त महाभारत युद्ध में हुआ था। ऐसा लगता है कि माद्रों की कुछ शाखाएं पिछड़ गयी थीं और वे अपने शिथिल श्रम-विभाजन से चिपकी रहीं। इस कारण किसी प्रमुख सम्पत्ति अथवा वर्ग भेद का विकास वे नहीं कर सकीं। इसका दंड उन्हें दास व्यवस्था के **स्मृतिकारों** और **शांतिपर्व** के लेखकों के हाथों मिला, जिन्होंने प्रत्येक प्रतिष्ठित ब्राह्मण के लिए माद्र और वाहीक प्रदेश में जाना निषिद्ध ठहरा दिया था। वाहीकों और माद्रों का विशेष पाप यह था कि उस प्रदेश में लोग अपने **वर्णों** को बारी-बारी से बदल लिया करते थे। एक दिन एक व्यक्ति ब्राह्मण होता, दूसरे दिन वह क्षत्रिय हो जाता, फिर वह वैश्य और शूद्र भी हो जाता और फिर ब्राह्मण हो जाता था। उनकी नारियां स्वतंत्र होती थीं और विलास और आनन्द का जीवन व्यतीत करती थीं। दासों के स्वामियों की संस्कृति के दृष्टिकोण से यह अवश्य ही "पाप" था, क्योंकि उनकी व्यवस्था में तो आनन्द मनाने और स्वतंत्र रहने का अधिकार केवल उन्हीं को था जो अपने शूद्र-दासों की पीठों पर सवार होते थे।

इतिहास में हमें एक ऐसे सम्पूर्ण **गण** का उदाहरण मिलता है जो अपने प्रदेश के अन्य निवासियों से प्रतिकूल होकर, एंगेल्स के शब्दों में सीमाबद्ध "कलंकित अभिजातीयता" में परिणत हो गया था। यह वैशाली का लिच्छवी **गण** था। लिच्छवियों के प्रदेश में ७,७०७ **राजन** थे, जो वैशाली नगर में रहते थे। ये शासक वर्ग के थे और केवल ये ही लोग शासन-सत्ता चलाने के लिए कार्यकारिणी सभाओं, अफसरों तथा नायकों का निर्वाचन करते थे। पर सम्पूर्ण निवासियों की जन-संख्या १,६८,००० थी जो दो वर्गों में विभाजित थी। एक "बाह्य नागरिक" और दूसरे "आन्तरिक नागरिक" कहलाते थे; दूसरे को वैशालीय भी कहा जाता था।

इन कुछ उदाहरणों से यह देखा जा सकता है कि प्राचीन युग के **गण** साम्य संघ और परवर्ती युग में उनके अन्दर विकसित वर्ग और वर्ग-विरोध, जिनके कारण उनके संगठन और सिद्धान्तों में परिवर्तन हुए, भारतीय इतिहास के यथार्थ हैं, कोई कपोल-कल्पित कहानियां मात्र नहीं।

तेरहवां अध्याय

रक्त-रंजित युद्ध अरौ राज्य व दंड का उदय

व्यक्तिगत सम्पत्ति ने शासक-वर्ग में परिणत होने के लिए जिस हिंसात्मक संघर्ष को अपनाया था, उसका थोड़ा आभास **देव सत्र** की उस कथा में मिल गया था जिसमें विष्णु और देवों के बीच युद्ध हुआ था। इस कथा को हम पहले लिख आये हैं। पर उस कथा में युद्ध निर्णयात्मक नहीं हुआ था। लेकिन विकास की इस प्रकार की अनिर्णायिक अवस्था बहुत दिनों तक नहीं चल सकती थी। उत्पादक शक्तियों की द्वंद्वात्मक गति इस तरह की अवस्था को बहुत समय तक सह नहीं सकती थी। भीष्म के अनुसार, जो साम्य संघ के ध्वंस की मलिन कथा को लगातार सबसे अधिक स्पष्ट शब्दों में कहते आये हैं, जब प्राचीन साम्य संघों में विनिमय और व्यक्तिगत सम्पत्ति, लोभ और संचय बढ़ने लगा, तो वे विरोधी शक्तियों के रूप में टूटने लगे और उनके बीच युद्ध होने लगे। देव लोग क्षुब्ध हो उठे। देवों की इस क्षुब्धता का कारण भी विचित्र था। ये देव लोग, जो मृत्यों के समान ही थे, इसलिए क्षुब्ध हो उठे कि कहीं वे "मृत्यों के बराबर" न बना दिये जायें। वे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के पास गये। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पहले वर्णन करते हुए तो भीष्म यह बताते हैं कि इन विरोधों के कारण **ब्रह्मन्** का नाश हो गया था, पर चार लाइनों के बाद ही यह कहते हैं कि देव लोग ब्रह्मा के पास कोई रास्ता खोज निकालने के लिए पहुंचे थे। यह ब्रह्मा पौराणिक सृष्टिकर्त्ता था, साम्य संघ का **ब्रह्मन** वह नहीं था। इस दिव्य नियामक की सामान्य बातचीत से, अथवा यदि इसे पंचायत कहा जाय तो इस पंचायत से, क्या निष्कर्ष निकला ? उन्होंने देवों को संसार की व्यवस्था के लिए एक नया विधान दिया। पुराने विधान के अनुसार लोग स्वयं क्रियाशील **धर्म** द्वारा परस्पर रक्षा करते हुए निवास करते थे। वहां किसी वर्ग की कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो दूसरों पर शासन करती हुई उनके सम्बंधों की संचालक बनती—वहां न कोई **दंड** था, न कोई राज्य था, और न कोई राजा ही था। **उस समय** इनकी आवश्यकता भी नहीं थी। लेकिन इस नये विधान का क्या सारतत्व था ? इस नये विधान में आर्थिक और परिवार के

नये सम्बंधों की स्थापना शक्ति और हिंसा द्वारा की गयी थी, जिसे "**दंड**" कहा गया था। अब **धर्म, अर्थ और काम**, एक नयी त्रयी, जिसे **त्रिवर्ग** कहा जाता था, अपने-आप सक्रिय नहीं रह सकती थी—अब उसका संचालन **दंड** द्वारा ही हो सकता था। भारत* में दास-व्यवस्था का यह प्रथम विधान विशालाक्ष के नाम से पुकारा गया। **महाभारत** का कथन है कि बहुदन्तक, बृहस्पति और कवि द्वारा उसमें संशोधन और परिवर्तन किया गया था।

यद्यपि दास व्यवस्था के इस नये वर्ग-शासन को, जिसका आधार दंड और हिंसा थी, दिव्य सृष्टिकर्ता का आशीर्वाद प्राप्त हो गया था, फिर भी वह अपनी जड़ जमा नहीं सका। कठिनता से पांच या छः राजा शासन कर पाये थे कि एक नया विरोध उत्पन्न हो गया। ऐसा लगता है कि इस बार विरोध का नेता स्वयं एक राजा ही था जो ब्रह्म-क्षत्र वर्ग के विरोध में विश लोकतंत्र के पक्ष में चला गया था। राजा वेन ने इस नयी व्यवस्था का विरोध किया और ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के विरुद्ध उसने युद्ध किया। इस अभियान में वेन की बुद्धिमती पत्नी सुनीथा ने उसे मंत्रणा और सहायता दी थी। संभवतः मातृसत्ता और नारी के लोकतंत्र का नाश हो जाने के कारण वह स्वयं क्षुब्ध थी। लेकिन वेन और सुनीथा चाहे जितने महान हों, समाज की नयी शक्तियां अपनी गति को उस साम्य संघ के बीते युग की ओर नहीं लौटा सकती थीं, जो हमेशा के लिए खत्म हो चुका था। वेन और उसकी भांति के अन्य व्यक्ति केवल इतना ही कर सके कि उन्होंने शासक वर्ग को जोरों से झकझोर कर उनकी शोषण की निर्दयता को तब तक के लिए कुछ कम कर दिया, जब तक कि उत्पादक शक्तियां दूसरी क्रान्ति के लिए परिपक्व नहीं हो गयीं। पर वह उस समय तक नहीं हो सका था। दासता की ऐतिहासिक भूमिका तब तक खत्म नहीं हुई थी। उस दास-व्यवस्था के ढांचे में, जो नयी-नयी आरम्भ हुई थी, विस्तृत वन-भूमि को साफ करने, खेती और दस्तकारी का विकास करने तथा विनिमय और व्यापार को उन्नत करने के लिए अभी बहुत स्थान और अवसर था। वेन पराजित होकर ब्राह्मणों द्वारा मारे गये। जिन **गणों** और कबीलों ने बाहर से वेन को सहायता दी थी, उन्हें भी सम्भवतः युद्ध में पराजित कर दास बना लिया गया। **महाभारत** की कथा के अनुसार ब्राह्मणों ने जब वेन को मार डाला, तब उसके सारे शरीर के अंगों को उन्होंने रगड़ा जिससे भयंकर काले

---

* ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्रधर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवानुवर्णितः ॥ २६ ॥
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एप स्वयंभुवा ॥ ३० ॥
त्रिवर्गश्चैव दण्डजः ॥ ३१ ॥ — महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ५६।

सर और लाल आंखोंवाले निषाद तथा अन्य लोगं उत्पन्न हुए। वेन के दायें हाथ से एक व्यक्ति उत्पन्न हुआ, जिसने ब्राह्मणों को नमस्कार किया और उनकी आज्ञा के अनुसार चलना स्वीकार किया। राजा पृथु वैन्य के नाम से उसे अभिषिक्त किया गया। कुछ समय के लिए युद्ध बंद हो गया।

इसका फल क्या हुआ ? और ब्राह्मणों की आज्ञा क्या थी ? वेन के पुत्र पृथु ने ब्राह्मणों की आज्ञा के मुताबिक चलने का वादा किया, शासक वर्ग को दंड* (नियम) से ऊपर स्थापित किया और इस बात की प्रतिज्ञा की कि वह कभी भी वर्ग-भेद को मिटने नहीं देगा। राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के विषय में हिन्दू शास्त्र का यह मत था कि तभी से दंड शक्ति ने संसार पर अपना शासन चलाना आरम्भ कर दिया।

दास व्यवस्था की विजय और विश लोकतंत्र के दमन के बाद समाज में भयंकर शोषण और आर्थिक विकास आरम्भ हो गया। विस्तृत भूमि-खंडों को कृषि के अन्तर्गत लाया गया और इतिहास में पहली बार **प्रादेशिक राज्य** की सीमाएं अस्तित्व में आने लगीं, जिनके अन्दर केवल आर्य ही नहीं, वरन बाहरी लोग—जैसे निषाद, सूत-मागध,** आदि—भी निवास करते थे। पृथु वैन्य की सराहना यह कहकर की जाती है कि उन्होंने कृषि का विस्तार बहुत बड़ी सीमा तक किया था और अनेक तरह के कृषि पौधों को उपजाया था।† **कृषि-भूमि और दासों ने, जो नये उत्पादन की प्रमुख शक्तियां थीं, प्राचीन** *प्रजा-पशवाः* **का, अर्थात पशुधन और स्वतंत्र प्रजा का निष्कासन कर दिया; और** *राजतंत्रवादी* **राज्य व्यवस्था ने, जिसका आधार एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का हिंसात्मक शोषण था, शांतिपूर्ण सहयोग के आधार पर टिके हुए** *गण* **साम्य संघ का निष्कासन कर दिया।**

---

* अदण्डया मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीष्व चाभिभो।
लोकं च संकरात् कृत्स्नं त्रातास्मिति परंतप॥ शांति पर्व, ५६-१०८।

** तस्मान्निषादाः संभूता क्रूराः शैलवनाश्रयः।
ये चान्ये विन्ध्यनिलयाः म्लेच्छाः शतसहस्रशः॥ ६७॥
प्रीतो राजा ददौ ......
अनूपदेशं सूताय मगधं मगधाय च॥ शांति पर्व, ५८–१२२॥

† समतां वसुधायाश्च स सम्यगुदपादयत्।
वैषम्यं हिं परं रासदिति च नः श्रुतम्॥ ११४॥
मन्वन्तरेषु सर्वेषु विषमा जायते मही।
उज्जहार ततो वैन्यः शिलाजालान्समन्ततः॥ ११५॥
तेनेयं पृथिवीं दुग्धा सस्यानि दशसप्त च॥ शांति पर्व, अध्याय ५८॥

इस प्रकार आत्म-विरोधों के संघर्ष से **राज्यम्**, यानी राज्य की उत्पत्ति हुई थी। स्वभावतया उस पर उनका ही अधिकार था जिनका आर्थिक प्रभुत्व था। समाज में ब्रह्म-क्षत्रों का आर्थिक प्रभुत्व था, जिन्होंने **राज्यम्** की उत्पत्ति के बाद से महान विश लोकतंत्र और शूद्रों का शोषण, दमन और उन्हें निःशस्त्र करना प्रारम्भ कर दिया था। इस युग में शासक वर्ग पराजित लोकतंत्र को दैवी व्यवस्था के नाम पर अपने आदेश देने लगा। उसके बाद से प्रत्येक अस्तित्व का प्रधान राग, राज्य द्वारा व्यवहार में लाया गया और दंड शक्ति से उत्पन्न, भय ही रह गया। दासों के स्वामी वर्ग की व्यक्तिगत सम्पत्ति, लोभ और हिंसा की कीचड़ में सहयोगिता, शांति और प्रेम लुप्त हो गये। प्राचीन युग में जब लोगों को सिर्फ शब्द मात्र से, अथवा लोकमत द्वारा ठीक मार्ग या सदाचार के पथ पर लाया जाता था और **धिग्दंड**, यानी लोकनिन्दा ही एकमात्र सजा थी, वहां अब शासन-सत्ता, सेना और पुलिस की हिंसा लोगों को शोषण तथा शासन करनेवाली व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रति भक्ति और श्रद्धा की ओर ले जाती थी। अगर लोग ऐसा नहीं कर पाते थे, तो उन्हें **वध-दंड**, जो सबसे बड़ी सजा होती थी, दिया जाता था। राज्य की उत्पत्ति के बाद हिन्दू साहित्य ने इस नये हिंसा यंत्र के गीत गाना आरम्भ कर दिया था। अगर वहां इस हिंसा का यंत्र न हो और उसके स्थान पर **अराजक** यानी राज्यहीन समाज फिर से कायम हो जाय, तो सम्पत्ति का ध्वंस हो जाय, परिवार नष्ट हो जाय, धर्म का अन्त हो जाय और पूरा संसार ही नष्ट हो जाय। व्यक्तिगत सम्पत्ति, परिवार और धर्म के नाम पर शासक वर्ग ने दास शूद्रों और श्रमिक विशों की स्वतंत्रता, सम्पत्ति और परिवार को नष्ट कर दिया। **यज्ञ** और **दानम्** के नाम पर अब ब्रह्म-क्षत्र शासक वर्ग साधारण जनता के धन और पशुओं को आत्मसात करता था और वैश्य शूद्रों द्वारा जोत में लायी गयी भूमि पर अपना अधिकार जमा लेता था। लम्बी लड़ाई के बाद पराजित और निःशस्त्र श्रमिक मानवता को जबर्दस्ती शासन के सामने झुका दिया गया और उसे इस नयी व्यवस्था को स्वीकार करना पड़ा। लेकिन यह मानवता तब तक बार-बार विद्रोह करती रही, बार-बार पराजित हुई और दास बनायी गयी, जब तक कि स्वयं उसके अन्दर नयी उत्पादन शक्तियों और क्रांतिकारी शक्तियों का उदय नहीं हो गया। श्रमिकों के विरुद्ध संघर्ष के साथ ही शासक वर्ग के अन्दर स्वयं अपने संघर्ष होने लगे। ये संघर्ष ब्रह्म-क्षत्र घरानों के बीच हुआ करते थे, जिनका उद्देश्य वैश्य और शूद्रों के शोषण से हासिल धन पर अधिकार जमाना होता था। हिन्दू धर्म-कथाओं में इस प्रकार के अनेक युद्धों की कथाएं मिलती हैं। क्षत्रियों के विरुद्ध परशुराम के अनेक युद्ध हुए। हैहय, सहस्रार्जुन, वैतहव्य, श्रृंजय, नहुष तथा अन्य लोगों के युद्धों की कथाएं भी हैं। ब्राह्मणों के पास ऐसे विशाल **आश्रम** थे जहां सैकड़ों एकड़ भूमि

और पशु होते थे। उनमें काम करने के लिए शिष्य के रूप में नवशिक्षित श्रमिक और वैश्य-शूद्र "भक्त" होते थे जो उन ब्राह्मणों के लिए धन का उपार्जन करते थे। इस प्रकार के ब्राह्मणों के **आश्रमों** की कथाओं से हिन्दू इतिहास भरा पड़ा है, जो ब्राह्मणों की तपस्या अथवा वैराग्य, उनकी दरिद्रता तथा धार्मिकता की कपोल-कल्पित बातों को मिथ्या प्रमाणित कर देती है। क्षत्रिय गृहों की कथाएं स्वयं इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि किस प्रकार वे समाज पर शासन और सर्वनाश से उसकी रक्षा करने के — बाहरी आक्रमण व भीतरी क्रान्ति से रक्षा — नाम पर जनता का शोषण करते हुए उनके श्रम-फल पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते थे। यहां हमारा उद्देश्य यह नहीं है कि हम राजाओं और राजकुलों के इतिहासों अथवा उनके अच्छे-बुरे विवरणों की विवेचना करें — अथवा उन विख्यात ब्राह्मण कुलों का इतिहास लिखें जिन्होंने **आश्रमों** की विशाल भू-सम्पत्ति का निर्माणकर युद्ध किया था, विशाल सेनाओं के सेनापति तथा नायक बने थे और कहीं-कहीं शासक के पद तक पहुंच गये थे। इसलिए, कुछ समय के लिए हम उन तमाम प्रामाणिक लेखों की छानबीन विकास के ऐतिहासिक नियमों के प्रकाश में नहीं करेंगे, जैसा कि हम करते आ रहे हैं। हम आर्यों के समाज के उस नये संगठन को ही देखेंगे जिसका जन्म मरणासन्न प्राचीन गणों के सदस्यों में चलनेवाले भीषण वर्ग संघर्षों द्वारा हुआ था।

किन कारणों से **गण** समाज को अपना विधान छोड़कर **राज्यम्** के नये संगठन के आगे आत्म-समर्पण करना पड़ा था? **राज्य** और **गण** के तत्वों में क्या विशेष अन्तर था? एंगेल्स ने उस ऐतिहासिक प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार से किया है, जिसके द्वारा समाज इस अवस्था तक पहुंचा था :

> "आइए, अब हम यह देखें कि इस सामाजिक क्रान्ति के फलस्वरूप गण विधान का क्या हुआ। वह उन नये तत्वों के सामने बिलकुल निस्सहाय था जो बिना उसकी मदद के ही पैदा हो गये थे। उसका अस्तित्व इस बात पर निर्भर था कि गण के, या यों कहिए कि कबीले के सदस्य सब एक इलाके में साथ-साथ रहें और कोई दूसरा उस इलाके में न रहे। पर यह परिस्थिति तो बहुत दिनों से नहीं रह गयी थी। हर जगह गणों और कबीलों की घुल-मिलकर खिचड़ी हो गयी थी। हर जगह दास, पराधीन लोग और विदेशी लोग नागरिकों के साथ रह रहे थे।* बर्बर युग की मध्यम अवस्था के अन्त में ही लोगों ने एक जगह जमकर रहना शुरू किया था; पर व्यापार के दबाव, लोगों के पेशों

---

* पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजयनाः शकाः।
पारदा पल्हवश्चीना किराताः दरदाः खशाः। मनुस्मृति, १०-४४।

के बदलते रहने तथा जमीन के स्वामित्व में परिवर्तन होते रहने के कारण उन्हें बार-बार प्रव्रजन करना पड़ा और अपने रहने की जगह बदलनी पड़ी। अब गण संगठन के सदस्यों के लिए यह संभव न था कि वे अपने सामूहिक मामलों को निपटाने के लिए एक जगह जमा हो सकें (जैसा कि पहले वे **समिति** अथवा **नरिष्ट** की सभाओं में मिलकर करते थे)[१]। अब केवल गौण महत्व के मामले, उदाहरण के लिए धार्मिक अनुष्ठान, आदि ही मिलकर किये जाते थे, और वह भी आधे मन से। गण समाज की संस्थाएं जिन जरूरतों और हितों की देख-भाल के लिए बनायी गयी थीं और जिनकी देखभाल करने के वे योग्य थीं, उनके अलावा अब कुछ नयी जरूरतें और नये हित भी सामने आ गये थे। लोग जिन परिस्थितियों में जीविका कमाते थे, उनमें क्रान्ति हो गयी थी और उसके परिणाम-स्वरूप समाज की बनावट में परिवर्तन हो गये थे। नयी जरूरतें और नये हित उन्हीं से पैदा हुए थे। वे पुरानी गण व्यवस्था के लिए न केवल एक पराया तत्व थे, बल्कि उसके रास्ते में हर तरह की रुकावट डालते थे। श्रम-विभाजन से दस्तकारों के जो नये दल पैदा हो गये थे, उनके हितों और देहात के मुकाबले में शहरों के विशिष्ट हितों के लिए नयी संस्थाओं की आवश्यकता थी (जैसे, **जनपद** और **पौर**)। परन्तु इनमें से प्रत्येक दल में विभिन्न गणों, फ्रेटरियों और कबीलों के लोग शामिल थे। यही नहीं, उनमें विदेशी लोग भी शामिल थे। इसलिए नयी संस्थाओं का निर्माण लाजिमी तौर पर गण विधान के बाहर, उसके समानान्तर, और इसलिए उसके विरोध में हुआ। और गण समाज के प्रत्येक संगठन के भीतर हितों की टक्कर होने लगी, जो उस समय चरम सीमा पर पहुंच जाती थी जब धनियों और गरीबों को, सूदखोरों और कर्जदारों को, एक ही गण और कबीले के अन्दर जोड़कर रखा जाता था। फिर नये बाशिन्दों का विशाल जन-समुदाय था जो गण संगठनों से सर्वथा अपरिचित था, और जो, जैसा कि रोम (जैसे कि वैशाली, मगध और पाटल, आदि) में हुआ, देश में एक बड़ी ताकत बन सकता था। इन लोगों की संख्या बहुत बड़ी

विदेशियों के संसर्ग में आ जाने से "पुनष्टोम यज्ञ" द्वारा अपनी शुद्धि करनी पड़ती थी।

आरट्टान कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान्
वंग कलिंगान् प्राणूनान् इति च गत्वा
पुनष्टोमेन यजेत सर्वपृष्ठया वा। बोधायन, १-२-१४।

१ कोष्ठ मेरे हैं। – लेखक

होने के कारण यह असंभव था कि सगोत्रता पर आधारित गण और कबीले उनको धीरे-धीरे अपने अन्दर मिला लें। इस विशाल जन-समुदाय की नजरों में गण व्यवस्था के संगठन ऐसी संकुचित संस्थाएं थीं जिन्हें कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे और जो बाहर के लोगों को अपने यहां घुसने नहीं देती थीं। जो आरम्भ में प्राकृतिक विकास से उत्पन्न जनतंत्र था, वही अब एक घृणित अभिजाततंत्र बन गया था (हमारे इतिहास में बौद्ध-कालीन मल्ल-लिच्छवी गणों तक में ये रूप दिखायी देते हैं)। अन्तिम बात यह है कि गण विधान एक ऐसे समाज के गर्भ से पैदा हुआ था जिसमें किसी तरह के अन्दरूनी विरोध नहीं थे, और वह केवल ऐसे समाज के ही योग्य था। जनमत के सिवा उसके पास दबाव डालने का कोई साधन न था। परन्तु अब एक नया समाज पैदा हो गया था, जिसे स्वयं उसके अस्तित्व की तमाम आर्थिक परि-स्थितियों ने स्वतंत्र मनुष्यों और दासों में, शोषक धनियों और शोषित गरीबों में बांट दिया था, और जो न केवल इन विरोधों को दूर करने में असमर्थ था, बल्कि जिसके लिए जरूरी था कि वह इन विरोधों को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाये और गहरा करे। ऐसा समाज या तो इस हालत में जीवित रह सकता था कि ये वर्ग बराबर एक-दूसरे के खिलाफ खुला संघर्ष चलाते रहें, और या इस हालत में कि एक तीसरी शक्ति का शासन हो जो देखने में, आपस में लड़नेवाले वर्गों से ऊपर मालूम पड़े, उनके खुले संघर्ष को न चलने दे और जो ज्यादा से ज्यादा उन्हें केवल आर्थिक क्षेत्र में और तथाकथित कानूनी ढंग से वर्ग संघर्ष चलाने की इजाजत दे। गण विधान अब बेकार हो गया था। श्रम के विभाजन तथा उसकी वजह से समाज के वर्गों में बंट जाने के फलस्वरूप वह ध्वस्त हो गया। उसका स्थान **राजसत्ता** ने ले लिया। ...

"इसलिए, राजसत्ता कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो बाहर से लाकर समाज पर लादी गयी हो और न वह 'किसी नैतिक विचार का मूर्त रूप' या 'विवेक का मूर्त और वास्तविक रूप' है, जैसा कि हेगेल कहता है (हमारे प्राचीन और हिन्दू लेखक भी ऐसा ही मत उपस्थित करते हैं)। बल्कि कहना चाहिए कि वह समाज की उपज है, जो विकास की एक निश्चित अवस्था में पैदा होती है। राजसत्ता का निर्माण इस बात की स्वीकारोक्ति है कि यह समाज एक ऐसे अन्तर्विरोध में फंस गया जिसे हल करना उसकी सामर्थ्य के बाहर है, वह ऐसे परस्पर विरोधी दलों में बंट गया जिनमें सामंजस्य पैदा करना उसके वश के बाहर है।"
(परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति, पृष्ठ २३३-२७ **)**

वर्गमय समाज के इस नये अंग, शासन-तंत्र अथवा **राज्यम्** की वे कौन सी विशेषताएं थीं जो उसे **गण-गोत्र** संगठनों से भिन्न बनाती थीं ?

प्राचीन गण-विधान के प्रतिकूल शासन-तंत्र अथवा राज्य की पहली प्रमुख विशेषता थी कि उसके सदस्यों का समूहीकरण **प्रादेशिक आधार पर** होता था। प्राचीन गण-संस्थाओं का निर्माण सगे और रक्त सम्बंधियों द्वारा होता था और वे ही उनका संचालन करते थे। इस प्रकार की गण-संस्थाएं अयोग्य और शक्तिहीन प्रमाणित होने लगीं, क्योंकि वे इस बात को पहले से ही मान लेती थीं कि गण के सदस्य किसी विशेष स्थान से बंधे हुए हैं, जब कि वास्तव में ऐसा होना बहुत पहले से बन्द हो गया था। प्रदेश तो तब भी था, पर लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने लगे थे। इसलिए इस नये विधान को प्रादेशिक विभाजन से आरम्भ किया गया और ऐसी व्यवस्था लागू की गयी जिसके अनुसार नागरिक लोग उसी प्रदेश के अधिकार और कर्तव्यों का पालन करते थे, जहां वे रहते थे—चाहे उनका गण या कबीला कोई भी हो। प्रत्येक शासन-तंत्र में राज्य के नागरिकों का यह संगठन प्रादेशिक आधार पर और सामान्य रूप से होता था। इसलिए, हम लोगों को संगठन का यह रूप प्राकृतिक लगता है, लेकिन सत्य यह है कि सगे सम्बंधियों के आधार पर बने प्राचीन संगठनों के स्थान पर, इस प्रादेशिक संगठन को लाने के लिए बहुत भीषण और कठोर संघर्ष की आवश्यकता पड़ी थी और उसके बाद **गण** के स्थान पर **राज्यम्** की स्थापना संभव हो सकी थी।

दूसरी प्रमुख विशेषता **लोक-शक्ति** की संस्था थी, जिसकी घनिष्ट एकात्मता उस स्वयंनिर्मित सशस्त्र जन-संगठन से नहीं की जा सकती जिसका अस्तित्व गण विधान में ही था। इस विशेष लोक-शक्ति की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि जब से समाज दो विरोधी वर्गों में विभाजित हो गया, तब से उस समाज में जनता का स्वयं-संचालित सशस्त्र संगठन रखना असंभव हो गया। अब राजा लोग कानून का पालन कराने के लिए सशस्त्र सेनाओं और राज-कर्मचारियों (पुलिस) को अपने पास रखने लगे। कानून पालन कराने का मुख्य अर्थ यह होता था कि शोषित वर्ग को श्रम और शोषण के बंधन में जकड़कर रखा जाय। **चतुरंग सेना, राजपुरुष**, ब्राह्मण और क्षत्रिय कुलों को ही शस्त्र रखने तथा सेनापति होने के अधिकार अब इतिहास के मंच पर प्रकट होने लगे। इस "लोक-शक्ति" में केवल सशस्त्र सेना ही नहीं, वरन उसके साथ अन्य भौतिक प्रसाधन भी होते थे—जैसे जेल, न्यायालय, आदि। उन सबका सारतत्व **दंड** की व्यवस्था करना ही होता था। प्राचीन गण समाजों में **वर्ग-विरोधों** का अस्तित्व नहीं था, इसलिए उस समय **शास्त्रों**, कठोर नियमों, या एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर एकाधिपत्य की आवश्यकता भी नहीं होती थी। **शास्त्रों** की उत्पत्ति

का कारण तो वर्गमय समाज ही है। इसलिए **शास्त्रों** का उदय दासता के जन्म के साथ-साथ होता है और वे दास-राज्य के राजाओं के साथ जुड़े हुए हैं। अतएव यह कहना ठीक है कि **शास्त्र** दमन करने और बलात गुलाम बनाने के साधन थे। **अपस्तम्ब धर्म सूत्रों** में यह स्पष्ट कहा गया है कि "जहां कर्म की प्रवृत्तियां प्रीति से उत्पन्न होती हैं (अप्रीति और विरोध से नहीं), वहां शास्त्र की आवश्यकता नहीं होती।"*

इस लोक-शक्ति की स्थापना और संचालन के लिए राज्य के नागरिकों से धन अथवा कर लेना आवश्यक था। गण समाज में "कर" का किसी ने नाम तक नहीं सुना था। हां, उस **दानम्** के बारे में **गण** और **गणपति** अवश्य जानते थे जिसके अनुसार पूरी उपज सदस्यों के बीच स्वतंत्रतापूर्वक बांट दी जाती थी। लेकिन उस व्यवस्था में शासक वर्ग के हितों के लिए जनता को लूटने की कोई प्रच्छन्न और सूक्ष्म विधि वर्तमान नहीं थी, जिसे **अर्थशास्त्रों** में **कर-भार** के नाम से पुकारा गया है। **महाभारत** में यह शिक्षा दी गयी है कि इस लूट को कम से कम अतीक्ष्ण और पीड़ारहित होना चाहिए—मानो कोई चूहा सोते व्यक्ति का खून धीरे-धीरे पी रहा हो और उसे इसका तब तक आभास न हो, जब तक कि दूसरे दिन वह जग न जाये।†

लोक-शक्ति पर इस प्रकार से अधिकार जमाते हुए और कर लगाने के अधिकार से लैस होकर (उत्पादन के छठे भाग पर राज्य का अधिकार), राज्य के पदाधिकारी अब अपने को समाज के वैसे अंग के रूप में उपस्थित करते थे, जो मानो साधारण समाज से ऊपर था। वे उस शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे, जो उन्हें समाज से पृथक करती थी। विशेष आदेशों के बल पर उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा करायी जाती थी। इससे उन्हें एक प्रकार की विचित्र पवित्रता और अभेद्यता प्राप्त हो जाती थी। अधिकांश राज्यों में नागरिकों को उनकी सम्पत्ति के अनुसार ही अधिकार प्रदान किये जाते थे। इससे यह प्रमाणित होता था कि राज्य का संगठन सम्पत्ति-हीनों के विरोध में सम्पत्तिशालियों की सुरक्षा का एक साधन मात्र था। राज्य शासन की **पौर-जनपद** सभाओं में अधिकांशतः सम्पत्तिशाली वर्ग के ही लोग होते थे। जब दास राज्य के शासन सम्पूर्ण रूप से

---

* यत्र तु प्रीति उपलब्धितः प्रवृत्तिः न तत्र शास्त्रम् अस्ति। आपस्तंब, ४-१२-११।
"पूर्व मीमांसा" में जैमिनी का कथन यह है :
यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सा लक्षणाविभक्तत्वात्।

† यथा शल्यकवानाखुः पदं धूनयते सदा।
अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन राष्ट्रं समापिबेत्॥ शांति, ८८-६।

प्रौढ़ हो गये, तो राजाओं को सबसे अधिक कल्याणकारी उपदेश यह दिया जाता था कि "धनवानों का आदर और उनकी पूजा नित्य करनी चाहिए।'*

इस प्रकार से उत्पादक शक्तियों की वृद्धि ने उत्पादन सम्बंधों को बदल दिया और व्यक्तिगत सम्पत्ति को जन्म दिया; और उससे शोषक तथा शोषितों के वर्ग-विरोध खड़े हो गये। उसी के द्वारा मानव समाज के सामने एक विपदा के रूप में राज्य का जन्म हुआ, जो "समाज की सुरक्षा" के नाम पर शोषित वर्ग का हिंसात्मक दमन करने के लिए शोषक वर्गों के हाथों में एक साधन के रूप में सदैव बना रहा।

---

* धनिनः पूजयेन्नित्यं। शांति, २६।

"काल्यायन स्रौत सूत्रों" में वर्णित महाजनों अथवा महजनिकों ने परवर्ती इतिहास काल में उन निषादों को भी अपने में मिला लिया था, जिनके लिए पहले यह आदेश था कि अगर वे सम्पत्तिशाली हो जायें, तो उन्हें या तो मार डाला जाय या दास बना लिया जाय।

चौदहवां अध्याय

महाभारत—दास-स्वामियों और गण-संघों का गृह-युद्ध

वह प्राचीन पवित्र भू-भाग, जिस पर आर्यों के साम्राज्यों ने दासता के आधार पर समुन्नत होने का संघर्ष किया था, गंगा की वादी था। पश्चिम में कुरुक्षेत्र से लेकर पूर्व में आधुनिक बिहार प्रदेश के पाटलीपुत्र (पटना) तक वह भूखंड फैला हुआ था, जिस पर आर्य **गणों** के समूह धनयुक्त तथा स्थायी राजतंत्रवादी दास राज्यों के रूप में विकसित होकर महाभारत युद्ध के पहले फैले हुए थे। उत्तर-दक्षिण में उनका प्रसार हिमालय पर्वत के नीचे से लगाकर आधुनिक मध्य भारत में अवन्ती तक था और कुछ राज्य तो विंध्याचल को पारकर विदर्भ प्रदेश तक स्थापित हो गये थे।

यहां यह याद रखना चाहिए कि उन दिनों में भारत को कोई हिन्दुस्तान अथवा सिन्धुस्तान के नाम से नहीं जानता था। ये दोनों नाम एक ही प्रदेश के पर्यायवाची थे। इस देश का नाम "हिन्दुस्तान" सिन्धु नदी के नाम पर रखा गया था। शक-पल्हव तथा मध्य एशिया के अन्य कबीलों ने, जिन्होंने बहुत परवर्ती काल में सिन्धु को पार करते हुए भारत में प्रवेश किया था, सिन्धु नदी के नाम पर इसे सिन्धुस्तान कहना शुरू किया था। 'स' की ध्वनि का उच्चारण ये लोग 'ह' के रूप में करते थे इसलिए देश का नाम "हिन्दुस्तान" पड़ गया। प्राचीन लेखकों और लोगों ने अपने निवास-क्षेत्रों का नाम उस **गण** या राष्ट्र के नाम के आधार पर रखा, जो उस क्षेत्र में रहते थे—जैसे मत्स्य देश, अर्थात जहां पर मत्स्य गण का निवास अथवा अधिकार था। **महाभारत के भीष्म पर्व** में इस प्रकार के दो सौ नाम गिनाये गये हैं। बाद में जब प्रादेशिक राज्यों का अस्तित्व होने लगा, और राजधानियों के साथ राजवंशों की स्थापना होने लगी, तब प्रदेशों का नाम शासक कुलों तथा वैसी ही अन्य शक्तियों की इच्छा के अनुसार होने लगा। लेकिन साधारणतया भारत के अधिकांश भू-प्रदेशों का नाम प्रभावशाली राष्ट्र या उन **गण-संघों** के आधार पर ही

रखा जाता था, जो उस प्रदेश पर खेती और शासन करते थे—जैसे अंग, वंग, कलिंग, किरात, द्रविड़, कम्बोज, मत्स्य, कुरु, माद्र, वाहीक, आदि। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सिन्धु नदी को छोड़ किसी और नदी के आधुनिक नाम पर किसी देश का नाम नहीं रखा गया। यहां तक कि विख्यात पवित्र गंगा नदी को भी यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका कि किसी देश का नाम उसके अनुसार रखा जाय।

पुररवा के **गण-संघों** में दुष्यंत नाम का एक राजा हुआ था। उसके पुत्र भरत के नाम पर "भारतवर्ष" का नाम रखा गया था। लगभग इसी समय में पैतृक वंशाधिकारी राजतंत्रों का अस्तित्व प्रारम्भ हो गया था और दास राज्यों की पूर्णाहुति में आदिम लोकतांत्रिक व्यवस्थाएं तेजी से लुप्त होती जा रही थीं। परन्तु फिर भी पुरुवंश के 'भरत' के नाम पर देश का नाम तभी प्रचलित हुआ जब हस्तिनापुर के (हस्तिन द्वारा निर्मित, जो भरत की पांचवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था) पुरुओं ने आस-पास के राज्यों, सैनिक लोकतंत्रों और **गण-संघों** को ध्वंस करने की चेष्टा की और अपने युग में सबसे महान दास-साम्राज्य की नींव रखने का प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप महाध्वंसकारी महाभारत युद्ध हुआ था। मनु तथा हिन्दू सामन्ती राज्यों के दूसरे नियम-विधायक मध्यदेश, ब्रह्मर्षिदेश और आर्यावर्त की बातें तो करते हैं, परन्तु वे भी गंगा की पूर्वी-पश्चिमी वादी (बंग को छोड़कर), या दक्षिण में विंध्य पर्वत की सीमा के परे नहीं जाते। इसलिए पूरे भारत को आत्मसात करनेवाले हिन्दुस्तान का जो चित्र हम आधुनिक युग में देखते हैं, वह हमारे सभ्य युग की देन है। न तो कुरुओं और पुरुओं ने, न अयोध्या के राम ने, और न ही अन्धक-वृष्णीष **गण-संघ** के कृष्ण वासुदेव ने इस देश का कोई नाम रखा था।

महाभारत युद्ध के साथ-साथ प्राचीन भारत का इतिहास निर्णयात्मक रूप में बदल जाता है। इस प्रकार से भारत के प्राचीन इतिहास को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक महाभारत के पूर्व का और दूसरा महाभारत के बाद का इतिहास। प्रत्येक परम्परा, चाहे वह सार्वजनिक, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक हो, यह स्वीकार करती है कि महाभारत युद्ध इतिहास की वह घटना थी जिसने विकास के मार्ग को बदल दिया था और एक नये युग को जन्म दिया था। परम्परा का यह कथन है कि महाभारत युद्ध के बाद ही **कलियुग** आरम्भ हुआ था। परम्परा ऐसा क्यों कहती है? और क्यों परम्परागत भारतीय इतिहास इतनी दृढ़ता के साथ इस घटना को इतिहास का एक मोड़ मानता है? समय के क्रम के अनुसार राम-रावण युद्ध महाभारत युद्ध से लगभग पांच सौ वर्ष पहले हुआ था। पर दुर्भाग्य से उस युग की यथार्थ ऐतिहासिक अवस्थाओं का विवरण उतने स्पष्ट रूप में नहीं मिलता, जितना कि

महाभारत युद्ध के समय का मिलता है। वाल्मीकि **रामायण** बहुत बाद की रचना लगती है और फिर वह काव्यगत शैली में लिखी गयी है। यह काव्य महाभारत के परवर्ती सामन्तवादी युग का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें राम-रावण युद्ध को सामन्ती युग की विचारधारा से रंजित किया गया है। वास्तव में ऐसा लगता है कि वाल्मीकि को महाभारत महाकाव्य के नायक अपनी विचारधारा के प्रतिकूल लगे होंगे। इसलिए, उन्होंने अपने महाकाव्य के लिए एक ऐसे नायक को चुना जिसके चरित्र और युग के विषय में कुछ भी कहा जा सकता था, क्योंकि सर्वसाधारण लोगों की स्मृति से वह युग दूर हो चुका था। जब वाल्मीकि ने अपने राजा के चरित्र को आदर्शवादी नायक और ईश्वर में परिणत करने की चेष्टा की, तो उन्हें सफलता नहीं मिली। उनके काव्य का नायक एक ऐसे प्रियदर्शी युवक के रूप में ही रह गया, जिसने दमन द्वारा एक राज्य का निर्माण किया था। वाल्मीकि के नायक की तथाकथित सत्यता तब प्रकाश में आ जाती है, जब वह छल से बालि को मारता है; उसकी मानवता तब मिथ्या प्रमाणित हो जाती है जब अपने को सांस्कृतिक आर्य बनाकर मोक्ष पाने का प्रयास करनेवाले एक शूद्र की वह हत्या करता है। परम्परा ने उस नायक की एकनिष्ठ विवाह की आदर्श भावना तक को शंकित होकर देखा। **जैन-सूत्रों** में यह लिखा मिलता है कि राम उस प्राचीन युग में उत्पन्न हुए थे जब आदिम लोगों ने 'भाई-बहन' के विवाह पर रोक नहीं लगायी थी और सीता राम की बहन थीं। वाल्मीकि भी इस तथ्य को **रामायण** में नहीं छिपा पाये हैं कि सीता "**अयोनिज**" थीं—अर्थात उनका जन्म घर में नहीं हुआ था।

इन्हीं कारणों से राम-रावण युद्ध को भारत के प्राचीन इतिहास में चिन्ह प्रस्तर नहीं माना जा सकता। परन्तु जो भी थोड़े-बहुत विवरण उस युग के प्राप्त हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि राम के पिता दशरथ के समय से अयोध्या के रघुओं में प्राचीन **गण** लोकतंत्र का अन्त हो चुका था। दशरथ ने जब राम को युवराज के पद पर बैठाना चाहा, तो उसके लिए अयोध्या के रघुओं की सम्मति लेना आवश्यक समझा गया। परन्तु विधि के उस स्वरूप से ही पैतृक राजत्व अथवा राजतंत्रवाद का आभास मिल जाता है। रघु शासक वर्गों द्वारा शूद्र दासों का कठोर दमन तथा राम के वे विस्तृत अभियान, जो चारों ओर के स्वतंत्र **गणों** के विरुद्ध उनके आन्तरिक विरोधों का उपयोग करते हुए किये गये थे, हमें यह बताते हैं कि दाशरथी राम का राज्य महाभारत युग से पहले गंगा की वादी में सबसे पहले के दास राज्यों में से एक था—चाहे राम की पूजा का धार्मिक महत्व पापी धनवानों और संकट में पड़े गरीबों के लिए कुछ भी हो, और मध्यकालीन तथा आधुनिक इतिहास में उनके देवत्व की पूजा चाहे जितने रूपों में क्यों न की जाती हो।

यद्यपि राम का कुल इतिहास में सबसे अधिक समय तक जीवित रहा, पर हस्तिनापुर में पुरुओं के कुल की वृद्धि के बाद वह धूमिल पड़ता गया। उस समय काशी, मगध, विदेह, और मथुरा के यादवों के अन्य विख्यात राज्य भी वर्तमान थे। वैवाहिक सम्बंधों अथवा युद्ध द्वारा गंगा की वादी के विभिन्न **राजकुल** अपने को बड़े राज्यों में परिणत कर रहे थे और निरंकुश साम्राजी व्यवस्था में परिपक्व हो रहे थे। विभिन्न **पुराणों** में, विशेषतया **हरिवंश** में किये गये राजवंशों के वर्णन से और **महाभारत** की विपुल परम्पराओं से इनका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। अंधक-वृष्णीष जैसे **गण-संघों** को भी—जिसे सात्वत अथवा यादव भी कहते हैं और जिसमें भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन में योगदान देनेवाले कृष्ण का जन्म हुआ था—युद्ध में उतरना पड़ा था और पराजित होकर दूसरे स्थान पर जाकर बसना पड़ा था (शिशुपाल ने इस **गण** को पराजित किया था)। अपने पूरे **गण-संघ** के साथ यादवों को पश्चिम दिशा में जाना पड़ा। **राजकुलों** में परस्पर युद्ध छिड़ गया, जैसा कि पहले कभी नहीं सुना गया था और जो प्राचीन **गण** लोकतंत्र की दृष्टि में सबसे बड़ा पाप माना जाता था। मथुरा का कंस, मगध का जरासंध और हस्तिनापुर के कौरव बड़े साम्राज्यों के निर्माणकर्ता बनने का प्रयास कर रहे थे। वे प्राचीन **गण** सैनिक लोकतंत्र के चिन्हों तक को मिटाकर पूर्ण रूप से पैतृक राजत्व की व्यवस्था को—जिसमें विपुल धन, भूमि और दासों का संचय किया जा सके—पड़ोसी **गणों** पर भीषण हमलों और प्रतिद्वंदी सम्बंधियों से गृहयुद्ध द्वारा लादने की चेष्टा में लगे हुए थे। मूल निवासियों के **गण-संघों** के साथ उनके इन संघर्षों का और शूद्रों तथा वैश्यों द्वारा उत्पादित सामग्री पर अधिकार के लिए दासों के स्वामीकुलों के गृहयुद्धों का अन्त महाभारत युद्ध में हुआ। हस्तिनापुर के कौरवों में बहुत दिन पहले ही **गण** सदस्यों के लोकतंत्र का अन्त हो चुका था। **पुरुषसूक्त** में वर्णित प्राचीन कुरु पैत्रिक दासता के संस्थापकों में एक थे और बड़े प्रादेशिक दास राज्य में उनका विकास हो चुका था। **गण** सदस्यों का लोकतंत्र संकुचित होकर धनी **कुलों** के ज्येष्ठों की अभिजातीयता में परिणत हो चुका था और अब ऐसा समय आ गया था जब निरंकुश राजतंत्र के हाथों से उनके भी नष्ट होने की संभावना पैदा हो गयी थी। इसीलिए कृष्ण ने कौरवों के ज्येष्ठों की सभा में यह शिकायत की थी कि कौरवों का नाश इस कारण हुआ कि उनके ज्येष्ठ लोग उन नये शासकों के विरोध में सफलतापूर्वक शक्ति को मिटाने कर सके, जो समय से पहले ही प्राचीन लोकतंत्रों के चिन्हों को मिटाने की चेष्टा कर रहे थे। इस दुर्बलता का कारण यह था कि ये ज्येष्ठ लोग, जिनसे प्राचीन **गण-संघों** के लोकतंत्रों की रक्षा की आशा की जाती थी, स्वयं उसके घातक बन बैठे थे। वे स्वयं धन, दास और भूमि के

पीछे दौड़ रहे थे। युद्ध उनके लिए एक पेशा हो गया था। धन का संचय इतनी तेजी से हो रहा था कि युद्ध के अस्त्रों की विद्या में सबसे अधिक निपुण गुरु द्रोण भी बहुत दरिद्र थे। एक बार उनका पुत्र अश्वत्थामा दूध के लिए रो रहा था, तब उसे बहलाने के लिए गुरु द्रोण को पानी में सफेद आटा घोलकर उसे पिलाना पड़ा और इस प्रकार रोते बच्चे को शान्त किया गया। इसलिए, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि वह अपनी सेवाओं को किसी भी दास-स्वामी के हाथ धन के बदले बेचने के लिए तैयार थे। अभिजात वर्ग के लोग, जो दासों के स्वामी थे, दासों से और उन अपराजित कबीलों से, जहां से उन्हें दास प्राप्त होते थे, बहुत डरते थे। इसलिए, अगर उनमें से कोई भी अस्त्र धारण करने की अथवा मानवता के अधिकारों को प्राप्त करने की थोड़ी चेष्टा भी करता, तो उसे भयंकर से भयंकर दंड दिया जाता था। यदि निषाद-पुत्र एकलव्य अपने स्वामियों की विचारधारा के प्रति श्रद्धा का स्वयं शिकार न हुआ होता, तो द्रोण उसका अंगूठा नहीं कटवा सकते और वह शूद्र होता हुआ भी अस्त्र विद्या में अर्जुन का प्रतिद्वंदी हो जाता। दासों के ये स्वामी लोभ से ग्रस्त होकर धन के लिए प्राचीन भारतीय इतिहास में सबसे नरसंहारी महाभारत युद्ध छेड़ने के लिए तैयार बैठे थे।

दासता, धन और वर्ग शासन का प्रतिक्रियात्मक प्रभाव शासकों पर भी पड़ा। गंगा और सिंधु नदी की घाटियों पर अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद उनकी उस निपुणता और वीरता का अन्त हो गया, जिसका विकास उन्होंने **गण-संघों** के रूप में मूल निवासियों, राक्षसों, नागाओं, निषादों, द्रविड़ों, आदि को जीतने के समय किया था। घोड़ों की और लोहे के नुकीले बाणों की सहायता से पहले विजय प्राप्त करना आसान था। आक्रमणकारी आर्यों के पास ये साधन थे, पर स्थानीय निवासियों के पास नहीं थे। उन्नतिशील **गण** फैलते गये और उन्होंने अपने लिए रास्ता बनाया। लेकिन जैसे-जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति, दासता, व्यापार और धन का संचय बढ़ता गया, वैसे-वैसे **गण** लोकतंत्र विरोधी वर्गों में विभक्त होते गये और वे गृहयुद्ध के शिकार होने लगे। ज्यों-ज्यों भूमि और दासों की संख्या का विस्तार करना कठिन होता गया, त्यों-त्यों अभिजात वंश एक-दूसरे पर टूटने लगे। प्राचीन **गण** लोकतंत्र के अनुसार सगे और निकट सम्बंधियों को बढ़ती हुई सम्पत्ति में से जो भाग मिलना चाहिए था, वह धन-संचय के कारण नहीं मिल पा रहा था। दासों को प्राप्त करने के लिए बाहरी कबीलों से किये गये युद्ध की प्रतिक्रिया अपने सम्बंधियों पर पड़ती और उनमें भी परस्पर युद्ध होने लगते; लूट में हिस्सा लेने के लिए दासों के स्वामी अपने ही भाइयों से लड़ बैठते। पराजितों की दासता विजेताओं को लोभ का गुलाम बना देती। इस लोभ ने अपने प्राचीन **गण** लोकतंत्र को नष्ट कर दिया। नहीं

तो किसने यह सुना था कि भाइयों के ही द्वारा भाइयों और उनकी पत्नियों को जुए के दांव पर जीतकर गुलाम बनाकर बेच दिया गया हो ! **यज्ञ** साम्य संघ के उस प्राचीन काल में किस मां ने अपने सुन्दर पुत्र को उस प्रकार त्यागा होगा, जैसे कि कुन्ती ने कर्ण को छोड़ दिया था—क्योंकि वह कुमारी अवस्था में उत्पन्न हुआ था ? तब भी वह गैर-कानूनी पुत्र कर्ण, जिसका पालन-पोषण अनगों के दरिद्र और मामूली मछुआरों ने किया था, अपने उन "कानूनी" भाइयों से कहीं अधिक वीर और उदार निकला; और राजा पांडु के अर्ध-कानूनी पुत्र अर्जुन साधारण खेलों में भी इसलिए विजयी हो सकि कि वह दासों के स्वामी **राजन्** वंश का मिथ्याभिमान दिखा सका जब कि उसका प्रतिद्वंदी कर्ण अपने पिता का नाम नहीं बता सका। प्राचीन **गण** साम्य संघों की मानवता, दास स्वामियों के धन के मिथ्या गर्व और लोभ के आगे आत्मसमर्पण कर चुकी थी। महाभारत युद्ध उसका परिणाम था।

महाभारत युद्ध प्रारम्भ में हस्तिनापुर राज्य के ही शासक वंश के राजकुमारों के बीच शुरू हुआ था। सगे सम्बंधियों के बीच गृहयुद्ध के रूप में यह प्रारम्भ हुआ। **यज्ञ-गण** सिद्धान्तों के यह सर्वथा विरुद्ध था, क्योंकि उसके अनुसार एक सम्बंधी अपने दूसरे सम्बंधी की हत्या नहीं कर सकता था।

प्रत्येक पक्ष ने अपने जिन सहयोगियों को चुना था, उनमें अनेक ऐसे **गण** थे, जैसे कि सात्वत, जो अन्दर से टूट चुके थे और कौरवों अथवा पांडवों के पक्षों से मिलकर परस्पर लड़ने लगे थे। सामान्य रूप से उस समय सभी **गण-संघ** लोकतंत्रों में फूट फैल रही थी।

अन्य कई राज्यों के रक्त सम्बंधी राजकुमार अलग-अलग होकर एक-दूसरे के विरोध में युद्ध भूमि में उतरे थे—जैसे मगध के राजकुमार। अभिजात वर्ग के प्रत्येक वंश में गृहयुद्ध प्रवेश कर चुका था।

मूल निवासियों के अनेक कबीलों ने, जिनके सरदारों ने इन शासक-कुलों से मित्रता कर ली थी, पराजय अथवा संधि के बाद उस युद्ध में भाग लिया था—जैसे राक्षसों ने। कुछ कबीलों ने—जैसे नागाओं और द्रविड़ों, आदि ने—यह सोचकर इस गृहयुद्ध का स्वागत किया कि इससे उन्हें उन विस्तृत होते राज्यों से छुटकारा पाने का अवसर प्राप्त हो सकेगा, जो उनको पराजित और परतंत्र बना रहा था। इन राज्यों के सर्वनाश के बाद उन्होंने अपने बीते हुए अच्छे दिनों को लौटा लाने की आशा की थी—यद्यपि वह मिथ्या आशा ही प्रमाणित हुई थी।

यादव संघों के मंडल के मुख्य सरदारों ने, यद्यपि कुरुओं के साथ उनका सम्बंध था, इस युद्ध में भाग लेने से इनकार कर दिया और कृष्ण के नेतृत्व में मध्यस्थ बनने की चेष्टा की। लेकिन एक बार जब युद्ध आरम्भ हो गया, तब

कुछ लोगों को छोड़कर यह तटस्थता नाम को हीं रह गयी — जैसे कि कृष्ण की मध्यस्थता। कृष्ण ने व्यक्तिगत रूप से कौरवों के विरोध में युद्ध करते हुए पांडवों का पक्ष लिया, जब कि उनकी सेनाओं ने कौरवों का साथ दिया। इसका अर्थ यह था कि अंधक-वृष्णीषों में भी फूट थी और वे दो विरोधी पक्षों का समर्थन कर रहे थे।

इस प्रकार महाभारत युद्ध के भयंकर नरसंहार में लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत सम्मिलित हो गया था। **गण-संघों** का पूरा प्राचीन संसार — सैनिक लोकतंत्र, अभिजातीय कुल संघ, दास-राज्य तथा अन्य सब लोग — युद्ध के उबलते कड़ाह में एक साथ डाल दिया गया। **गणों** के पुराने संसार का, उनकी प्रतिष्ठाओं, नैतिकता और आचार-व्यवहारों का, आर्थिक और सामाजिक सम्बंधों का अन्त हो गया। एक नया संसार अपने को स्थिर करने की चेष्टा कर रहा था — जो लोभ का संसार था, जिसमें दासों के स्वामियों के धन और उनकी केन्द्रित शक्ति शोषित शूद्रों और वैश्यों को अपने वश में करना चाहती थी।

भगवद्‌गीता की कथा में उस भीषण संकट का आभास मिलता है, जो उस समय के सामाजिक सम्बंधों और उनके प्रतिविम्ब सैद्धान्तिक मूल्यों पर छा गया था। कुछ समय के लिए उन दार्शनिक विचारधाराओं को छोड़कर, जिनके विषय में **गीता** में वाद-विवाद किया गया है, अगर हम उसके आरम्भ को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय **गण** के सामूहिक सम्बंधों और उनके सिद्धान्तों पर मृत्यु-प्रहार करते हुए उन्हें पदच्युत किया गया था और उनके स्थान पर मानव-द्वेषी शैली में व्यक्तिगत सम्पत्ति की नैतिकता और वर्ग सम्बंधों की उच्चता की स्थापना की गयी थी। ये नये सम्बंध यथार्थ में आ चुके थे, **गीता** ने उस यथार्थ को सिद्धान्त की वाणी सौंपी थी और उन आलोचकों को मौन करने की चेष्टा की थी जो पुराने **गण** लोकतंत्र की दृष्टि से इस नये यथार्थ की आलोचना कर सकते थे। ईश्वर के नये अवतार और **कलियुग** के नाम पर **गीता** ने यह घोषणा की कि सगे सम्बंधियों और **गण** के सामूहिक लोकतंत्र का अन्त हो गया है और वर्ग-विरोधों तथा शोषण का युग आ गया है; **गण** की नैतिकता और आचार-व्यवहारों का अन्त हो चुका है और वर्ग समाज की नैतिकता और आचार-व्यवहारों की प्रतिष्ठा सबसे ऊंची है।

इसमें संदेह नहीं कि **गीता** के अठारह अध्यायों की रचना युद्ध भूमि के मध्य भाग में कृष्ण-अर्जुन के सम्वादों के रूप में नहीं हुई — जैसा कि कथा में कहा जाता है। उन महान व्यक्तियों की ओर श्रद्धा रखते हुए भी यह कहा जा सकता है कि कृष्ण इतने यथार्थवादी थे कि वे अपने को इस हास्यास्पद अवस्था में नहीं रख सकते थे। महाभारत युद्ध के सिद्धान्तकार ने **गीता** की रचना किसी शांत कोने में बैठ कर की होगी। लेकिन लेखक की रचना न तो केवल परवर्ती

विचारों द्वारा उत्पन्न हुई, और न युद्ध की भूमिका को केवल इसलिए लिया गया कि लेखक के युग की दार्शनिक विचारधाराओं की मीमांसा की जाय। अगर यही उद्देश्य होता, तो उसे **शांति पर्व** में स्थान मिलता जहां हर प्रकार के प्रश्न और संदेहों को उठाया गया है और उनका उत्तर अथवा समाधान दिया गया है। **गीता** का रचयिता उस मुख्य प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करता है जो उस समय महाभारत युद्ध में भाग लेनेवाले प्रत्येक विचारक के मस्तिष्क में घूम रहा था। वह सवाल **सन्यास** अथवा **कर्मयोग** से सम्बंधित नहीं है। निस्सन्देह **गीता** दर्शन ने मुख्य प्रश्न की, अस्तित्व और चेतना के सम्बंध के प्रश्न की मीमांसा की है। उसने इस बात पर भी अपना मत देना चाहा है कि भोजन तथा विचार-आचार में परस्पर क्या सम्बंध हैं? लेकिन इन सब बातों के होते हुए भी इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी स्पष्ट रूप से यह देख सकता है कि अर्जुन की खिन्नता न तो भोजन सम्बंधी थी, और न उनके सामने यही समस्या थी कि किस दर्शन को चुना जाय। अर्जुन ने एक सीधा सा सवाल सामने रखा था। शायद वह सवाल उस समय उन सब सामान्य लोगों के मस्तिष्क में उठ रहा था जिनमें **गण** सम्बंधों की नैतिकता और आचार-व्यवहार के प्रति श्रद्धा या आदर की भावना शेष थी। राज्य में उन्होंने अपना अधिकार मांगा था, यहां तक कि केवल पांच गांवों के मिल जाने से ही वे शान्त हो सकते थे। परन्तु वह सब जब नहीं हो सका, तब उन्हें अपने **गुरु**, पितामह, भाई, चाचा, संक्षेप में प्रत्येक उस सम्बंधी को मार डालने के लिए युद्ध भूमि में उतरना पड़ा जिसे मारना—चाहे जिस कारण से भी हो—युग की प्राचीन नैतिकता के सर्वथा विरुद्ध और पाप था और जिसका सम्पूर्ण रूप से निषेध किया गया था।* प्राचीन **गण** लोकतंत्रों में ऐसी शिक्षा दी जाती थी कि लोग इस प्रकार की हत्याओं को सबसे अधिक भयंकर पाप समझें। तब फिर यह सब कैसे उचित हो गया और कोई पाप नहीं रह गया? अगर प्राचीन युग की नैतिकता पर दृढ़ रहा जाय, तो यह मानना पड़ता है कि दोनों पक्षों के महान नेता गलत रास्ते पर थे और वे सभी **कुलों** को नाश और नरक की ओर ले जा रहे थे। **गण-संघ** और **कुल-संघ** के विधान के अनुसार एक ही तर्कसंगत मार्ग रह गया था—यह कि **सन्यास** ले लिया जाय, सम्पत्ति और राज्य के दावे को छोड़कर सगे

---

* आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्थता ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
अहो वत महत्पापं कर्तुम् व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ गीता, अध्याय १, पृ. ४५।

सम्बंधियों की हत्या के पाप से अपनी रक्षा की जाय। पर अगर युद्ध लड़ना ही है, तो उसके लिए कौन सी नयी नैतिकता अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा अपने सगे सम्बंधियों की हत्या को पापहीन प्रमाणित कर सकती ? अर्जुन ने इस प्रश्न को उठाया — **गण** के सर्वसामान्य लोगों के मन में भी यही प्रश्न उठ रहा था और वे उसका उत्तर चाहते थे। **गीता** के सिद्धान्तकार ने उसका उत्तर दिया है। उस उत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज एक असाध्य आत्म-विरोध में फंस गया और उसके लिए उस सिद्धान्तकार को इससे अधिक अच्छा उत्तर नहीं मिल सका कि — "यह प्रारब्ध अथवा भाग्य है, यह तुम्हारा वर्ग कर्तव्य है, विश्वास करो और आदेश का पालन करो।" और फिर ऐसा लगता है मानो तर्क के अभाव में नये वर्ग के नूतन नियमों को आधार अथवा आश्रय देने के लिए भय और आतंक का सृजन कृष्ण के **विराट** रूप द्वारा किया गया था। कृष्ण के उस रूप में मानो पूरा प्रारब्ध पहले से ही स्पष्ट हो गया था। अर्जुन को मौन कर दिया गया और अर्जुन ने यह कहा कि वह संतुष्ट हो चुके हैं। सामान्य मानवता को बातों से मौन कर दिया गया। विमूढ़, आतंकित और उन्मत्त होकर मानवता उस अपवित्र हत्याओं के क्षेत्र में उतरी जिसे नये सामाजिक सम्बंधों, दर्शनों और नियमों ने पवित्र बना दिया था। अगर हम पूरी अवस्था पर धार्मिक पूर्वाग्रहों को त्यागकर ऐतिहासिक और न्याय के दृष्टिकोण से विचार करें, तो **गीता** की कथा का यही पूरा सार निकलता है।

गण सम्बंधियों के साम्य संघों के नियम के विरुद्ध किस प्रकार **गीता** में नये प्रादेशिक वर्ग-शासन का नैतिक सिद्धान्त उपस्थित किया गया है ?

सामूहिक श्रम और उपभोग के प्राचीन साम्य संघों में जब उत्पादनों और क्रियाओं की विभिन्नता का विकास हुआ, तब श्रम-विभाजन अथवा **वर्णों** का उदय हुआ। हर **वर्ण** के अपने कर्तव्य निर्धारित हो चुके थे, पर प्रत्येक उत्पादन और उपभोग सामाजिक होता था। साम्य संघ के किसी सदस्य के **वर्ण** कर्तव्य से उस व्यक्ति को कोई विशेष पारितोषिक, फल अथवा सम्पत्ति-अधिकार प्राप्त नहीं होता था। **वर्ण** केवल किसी श्रम में विशेष निपुणता प्राप्त करते और उत्पादन के गुणों में वृद्धि तथा सामाजिक संगठन के रूपों को उन्नत करते थे। किन्तु जब विनिमय, व्यापार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धन की उत्पत्ति हो गयी, तब अपनी **वर्ण** स्थिति के अनुसार प्रत्येक परिवार ने व्यक्तिगत सम्पत्ति और अधिकारों का निर्माण कर लिया। स्वभाव से ही जिन **वर्णों** का सम्बंध युद्ध, विनिमय और उत्पादन के संचालन से था, वे समाज में आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली हो गये। प्रभुत्वशाली ब्राह्मण-क्षत्रिय **वर्ण** में जो गरीब थे, उन्हें श्रमिक **वर्णों** में, अथवा जैसा कहा जाता है कि **विशालत्व** में उतार दिया जाता था। **वर्णों** को वर्गों में बदल दिया गया। **वर्ण** सम्बंध, श्रद्धा और कर्तव्य की परिणति वर्ग सम्बंध, श्रद्धा

और कर्तव्य में हो गयी। ऊपर के दो **वर्ण** शोषक और नीचे के दो शोषित वर्ग बन गये। केवल शूद्र दास को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति अपना **वर्ण** बदल सकता था। इसका अर्थ यह हुआ कि सम्पत्ति और पद के अनुसार वह अपने वर्ग में परिवर्तन कर सकता था। वर्ग अधिकार अथवा **वर्ण** अधिकार गण साम्य संघों के अधिकारों से श्रेष्ठ मान लिये गये और वे साम्य संघ के अधिकारों का दमन करने लगे।

वर्ण के अनुसार क्षत्रियों का यह कर्तव्य था कि वे युद्ध करें और युद्ध में अपने शत्रुओं का नाश करें। लेकिन **गण** साम्य संघों के युग में शत्रु सदैव **बाहरी गण** होता था। साम्य संघ में वर्ग-विरोध न होने के कारण, **गण** सदस्यों के विरुद्ध क्षत्रियों के युद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता था, क्योंकि वे सब परस्पर रक्त सम्बंधी होते थे। जब साम्य संघ में व्यक्तिगत सम्पत्ति और दासता का प्रवेश हुआ, तब क्षत्रिय और ब्राह्मण शोषक बनकर विभाजित साम्य संघ के अन्दर दासों और गरीबों के ऊपर शक्ति का प्रयोग करनेवाले अंग बनने लगे। इस अवस्था में उन लोगों का यह **वर्ण** कर्त्तव्य हो गया कि शोषण के आधार पर खड़े हुए वर्ग-सम्बंधों और उसकी आर्थिकता की सुरक्षा और विकास के लिए वे असम्बंधी और सम्बंधी, **दोनों** के विरुद्ध युद्ध करें। धन, पशु, गांव, भूमि, दास, राज्य तथा उस सबको, जो एक व्यक्ति या परिवार की सम्पत्ति बन सकता था, बचाने, बढ़ाने और प्राप्त करने के लिए युद्ध करना तथा लोगों को मारना ब्राह्मण और क्षत्रिय कुलों का नया कर्तव्य और अधिकार बन गया था—वह शत्रु या विरोधी चाहे जो कोई भी क्यों न हो। वह सगा सम्बंधी, रक्त सम्बंधी, गुरु या पितामह, **गण** का सदस्य अथवा बाहरी भी हो सकता था। क्षत्रिय रूप में अर्जुन को **गीता** ने यही पहला पाठ पढ़ाया था। इस पाठ का आधार **वर्ण** या वर्ग विरोध से उत्पन्न नये सम्बंध थे, न कि प्राचीन **धर्म** अथवा आदिम साम्यवादी लोगों के स्वयं संचालित सशस्त्र संगठन के सम्बंध। यदि तुम लड़ते हो और विजयी होते हो, तो तुम्हें राज्य भूमि और आनन्द की प्राप्ति होगी; और अगर युद्ध में तुम मारे गये, तो भी तुम्हें स्वर्ग मिलेगा—नये धनिक शासक वर्ग के जीवन और आचरण का सर्वोत्तम आदर्श यही था। शासन-सत्ता और व्यक्तिगत सम्पत्ति के यौवन काल में निर्धन वैश्य और शूद्रों का शोषण करने और कबीलों को युद्ध द्वारा दासों में बदलने के लिए, क्षत्रियों को कम से कम अपनी गरदन की बाजी तो लगानी ही पड़ती थी। परवर्ती काल में इस खतरे को भी तनखा पानेवाली स्थायी सेनाओं को सौंप दिया गया।

सामूहिक जीवन के **धर्मों** और कर्तव्यों को लुप्त करने के बाद और एक वर्ग के ऊपर दूसरे वर्ग की हिंसा को स्थापित करने के बाद, **गीता** किसी ऐसे

सामंजस्यपूर्ण वर्ग समाज को स्थापित करने का आश्वासन देने में सफल नहीं हुई, जिसमें (शोषण के ढांचे के अन्दर भी) शोषक और शोषित दोनों को ही ऐसे जीवन और जीविका का भरोसा हो सकता जिसमें बार-बार संकट न छा जाते। प्राचीन साम्य संघ में उत्पादन शक्तियों की निर्धनता के ढांचे में भी हर किसी को सामूहिक उत्पादन में से मिलनेवाले अपने भाग पर भरोसा था; वह उपभोग के लिए उत्पादन करता था और साम्य संघ उस वस्तु को उसे उपभोग के लिए दे देता था। उत्पादक के हाथों से, मुद्रा के रूप में बदल जाने के लिए, उत्पादन कभी अलग नहीं होता था। उसका उत्पादन उपभोग के लिए होता था, मुद्रा में बदले जाने के लिए नहीं। इसलिए, उत्पादन अपना रूप छोड़कर और किसी दूसरी वस्तु में बदलकर आज की भांति व्यापार द्वारा पूरी दुनिया में स्वर्ण अथवा **हिरण्य** के कालीन पर चक्कर लगाता नहीं घूमता था। अब तो उस विचित्र प्रत्यय को, जिसे स्वर्ण-मुद्रा कहते हैं, हर परिमाणों और हर रूपों में, प्रत्येक वर्ग और **वर्ण** में तथा पृथ्वी की हर वस्तु के लिए प्रामाणिक मान लिया गया! कौन सी ऐसी रहस्यमयी और अप्रत्यक्ष शक्ति इस हिरण्य में व्याप्त थी, जिसने उसे इस सीमा तक व्यापक और फिर भी इतना अगोचर बना दिया? वह कौन सा चमत्कारपूर्ण प्रत्यय था, जिसने उसे सभी वस्तुओं को गतिमय करने और साथ ही प्रत्येक वस्तु बन जाने की शक्ति प्रदान की? यह कैसे संभव हुआ कि जो व्यक्ति किसी वस्तु का निर्माण उपभोग अथवा आनन्द के लिए करता, वह स्वयं उस मुद्रा के बिना, उस रहस्यमय **हिरण्य** के बिना, उसका उपभोग नहीं कर सकता और न उसका आनन्द ही ले पाता था? यह कैसे हुआ कि जब वह किसी वस्तु को मुद्रा में बदल लेता, तो वही मुद्रा उस वस्तु को नहीं खरीद पाती जिसे उसने कल खरीदा था? दास परिश्रम करते और स्वामी आनन्द मनाते थे, कुछ लोग व्यापार में लाभ कमाते और कुछ लोगों को घाटा हो जाता था! क्या आदमी के जिन्दा रहते हुए जीवन के पास ऐसा कोई नियम था, जिसके अनुसार ईमानदारी से श्रम करने के बाद ईमानदार जीविका प्राप्त हो जाती? हा, ईश्वर! क्या तू भी हिरण्य के गर्भ से उत्पन्न होकर **हिरण्य-गर्भ**[1] तो नहीं हो गया?

आदिम साम्य संघों में इस प्रकार के कोई भी प्रश्न नहीं उठते थे। उस समय ऐसे किसी दर्शन की आवश्यकता नहीं थी जो विरोधी मानव सम्बंधों के बीच सामंजस्य उत्पन्न करने की चेष्टा करता। प्राचीन साम्य संघ के **वैदिक**

१. "ऋग्वेद" के बाद के अध्यायों में सृष्टि-कर्त्ता को "विश्वकर्मा" और "हिरण्य गर्भ" के नाम से पुकारा गया है और वेदान्त दर्शनों का अद्वैत आदर्शवाद, जिसमें "आत्मा" और "ब्रह्म" का सम्बंध स्थापित किया गया है, अंशतः इन्हीं विचारों से उत्पन्न हुआ। (देखिए: "ऋग्वेद," १०, १२१)

साहित्य में स्तुति की जाती थी, आवाज बुलन्द की जाती थी, नाचा जाता था और गीत गाये जाते थे; लोग इस प्रश्न के हल के लिए माथापच्ची करते थे कि एक गाय ज्यादा दूध कैसे दे सकती है। **वेद** के "दार्शनिक" को यह बात विचित्र लगती थी कि हरे रंग की घास, जो काले रंग की गाय के पेट के अन्दर गयी सफेद रंग के गरम दूध के रूप में बाहर कैसे निकल आयी। उसे इस बात पर आश्चर्य होता और वह आतंकित भी हो उठता कि भूमि में डाला हुआ एक बीज उग आता है और फिर बहुत से बीजों को जन्म दे देता है। वह इन सब बातों के कारणों को जानने की चेष्टा करता। वह यह भी जानना चाहता कि इन वस्तुओं को गतिमान करनेवाली प्रकृति किस प्रकार से अपना काम चलाती है। वह एक पेड़ को काटकर गिरा देता, उसमें से एक कतरन अलग कर लेता, उससे बाण बनाता, सोचता और समझता, कार्य-कारण के सम्बंधों को जोड़ता, एक हिरण का पीछा कर उसे मारता और खा लेता। वह इसीमें प्रसन्न रहता। प्रकृति प्रदत्त वृक्ष की डाल उसका बाण कैसे बन गयी और हिरण उसका भोजन किस प्रकार से बन गया? क्योंकि उसने एक योजना बनायी थी और उसके अनुसार परिश्रम किया था। पर वह वृक्ष और वह हिरण वहां आ कहां से गया? हिरण क्यों एक दिन मिल जाता और दूसरे दिन नहीं मिलता? उस आदमी की विशेष समस्या प्रकृति को समझने की, उस पर अधिकार करने की और उस समय के अनुसार अपने जीवन को समृद्ध और उसे आनन्दमय करने की थी। उसने मनुष्य को मरते हुए देखा और ऐसा उसने स्वप्न में देखा। **यज्ञशाला** अथवा **यज्ञ-अग्नि** के पास ही बैठे-बैठे स्वप्न में उसने अपने को उड़ते हुए, विचित्र प्रदेशों का भ्रमण करते हुए देखा! क्या उसके अन्दर कुछ ऐसा नहीं था जो स्वयं उससे परे हो, जो योजना बनाता या विचार करता हो? उसने प्रेतों और आत्माओं की कल्पना की। उसने स्वयं को देखा—यानी प्रत्येक वस्तु में अपने सदृश जीवन को देखा। वह विशेष से सामान्य की ओर बढ़ रहा था, सीख रहा था और विश्व की प्रक्रिया को समझने के लिए "दर्शनी-करण" कर रहा था। वह तर्क, प्रमाण, चिन्ता, भावना और अस्तित्व के साथ चेतना के सम्बंध, आदि बातों की तह में जाकर परीक्षा करने की चेष्टा में लगा था। इसी अवस्था में **ऋग्वेद** का **नासादीय सूक्त**, जो अकेला दार्शनिक **सूक्त** था, उत्पन्न हुआ। लेकिन **वेद** और उसका **यज्ञ** साम्य संघ उसके आगे कभी नहीं गया। इसी प्रकार से प्रारम्भिक **उपनिषदों** के दर्शन के लिए मार्ग की रचना हो रही थी।

किन्तु उस अवस्था में मनुष्य स्वयं अपनी रचना से, यानी सामाजिक शक्तियों से युद्ध करने में नहीं फंसा था। उस समय ऐसे कोई आत्म-विरोध नहीं थे जिन्हें हल करने की आवश्यकता पड़ती। भोजन से उसका पेट भर जाता

श्रौर उसकी क्षुधा तृप्त हो जाती श्रौर वह प्रसन्न हो जाता। उसके वस्त्र उसे गरमी देते श्रौर वह प्रसन्न तथा सन्तुष्ट रहता।

परन्तु श्रब एक ऐसा समाज श्रा गया जिसमें श्रात्म-विरोध श्रौर शोषरण था। उसका भोजन किसी दूसरे को खिलाने के लिए ले लिया जाता, जो उसके लिए कोई श्रम नहीं करता था। उसके वस्त्रों को स्वामी की वेशभूषा सजाने के लिए ले लिया जाता श्रौर वह शीत से कांपता रहता। श्रगर वह यह पूछता कि यह सब क्यों होता है, तो उस पर प्रहार किया जाता था। यदि वह उत्पादन करने से इनकार करता, तो "समाज" की सम्पूर्ण हिंसा उसके सर पर उतरकर उसे इसके लिए वाध्य करती कि वह उत्पादन करे। उसे यह बताया जाता कि उत्पादन करना उसका कर्तव्य है। श्रगर श्रपने को जीवित रखने के लिए वह यथेष्ट भाग की मांग उठाता, तो उस पर लोभी होने का श्रारोप लगाया जाता श्रौर उसे नम्र रहने की शिक्षा दी जाती। इस प्रकार से **गीता** श्रौर **उपनिषद** के उस गूढ़ दार्शनिक सिद्धांत का जन्म हुश्रा, जो यह उपदेश देता था :

> "तुम्हें केवल वही करना है, श्रौर उसे ही करते जाना है, जिसे तुम्हारे जीवन की मर्यादा के श्रनुसार निश्चित कर दिया गया है। जो कुछ तुम करते हो, उसके फल के ऊपर तुम्हारा कोई बस या श्रधिकार नहीं है। श्रपने कर्मों के फलों को ध्यान में लाकर कभी काम मत करो; श्रौर सदैव काम करते रहो।"*

यह **गीता** की यह विख्यात शिक्षा है, जिसका उपदेश श्रसहमत श्रर्जुन को दिया गया श्रौर महाभारत युद्ध से लेकर सदियों तक यही शिक्षा साधारण मनुष्य को दी गयी है। यह उस वर्ग समाज के दर्शन का सार-तत्व है, जो श्रात्म-विरोधों, श्रराजकता, संकट श्रौर दुर्भाग्य में उलझ गया श्रौर सामाजिक जीवन की एक निश्चित योजना के श्रनुसार फल देने का श्राश्वासन नहीं दे पाया। व्यक्तिगत सम्पत्ति श्रौर उत्पादन की श्रराजकता तथा उत्पादन पर से उत्पादकों के नियंत्रण को दूर रखना—ये बातें श्रादिम साम्य संघ में संभव नहीं थीं श्रौर भविष्य के समाजवादी समाज में भी संभव नहीं रहेंगी। इन सब बातों के कारण, उत्पादकों को दासता श्रौर गुलामी में जकड़े रखने तथा शासक वर्ग के शोषरण श्रौर दमन को उचित प्रमाणित करने के लिए, वर्ग-शासकों के धर्मों के श्राधार पर उपरोक्त उपदेश देना श्रावश्यक हो गया।

---

* कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फल हेतुर्भूर्मा संगोऽस्त्व कर्मणि॥ गीता, २–४७।
नियतं कुरु कर्म त्वम्। गीता, ३–८।

कर्तव्य और लोक-संग्रह (समाज कल्याण) के विशाल तर्क भी चंचल-चित्त अर्जुन को हत्या के लिए तैयार न कर सके। अर्जुन के मन में भावनाएं और अनुभव जागे हुए थे। वह जानते थे कि चाहे वह हों और चाहे कोई दूसरा, एक बार मरने के बाद सब समाप्त हो जायेगा। जब इस तरह का तर्क उठा, तो **गीता** ने तमाम मानव जीवों को सार-रूप में पृथक कर दिया, जिसे **आत्मा** कहा जाता है। यद्यपि यह **आत्मा** शरीर में बंद है, फिर भी वह उससे भिन्न है। यह न तो अनुभव करती, न विचारती, न जिन्दा रहती और न मरती है। चेतना, भावना, आदि शरीर के क्षणिक गुण हैं, और जिस शक्ति से वे उत्पन्न होते हैं, उस पर अधिकार किया जा सकता है। जब उस पर अधिकार प्राप्त हो जाता है तो व्यक्ति उस अवस्था को (**स्थितप्रज्ञ**) प्राप्त हो जाता है जहां अपने कर्मों में वह कभी लिप्त नहीं होता अथवा उसके कर्मों के फल उसके लिए कभी बंधन नहीं बनते। यदि उस अवस्था में वह हत्या भी करता है, तो उसका पाप उसे नहीं लगता और चूंकि मरनेवाले और मारनेवाले की **आत्मा** तटस्थ और अमर है, इसलिए यथार्थ में कुछ भी घटित नहीं होता। इस प्रकार का व्यक्ति कोई दुख या सुख तथा गर्मी या सर्दी का अनुभव नहीं करता। जीवित रहते हुए भी उसने अपने शरीर से मोक्ष प्राप्त कर लिया है और मृत्यु के बाद वह अपने कर्मों के पाप-पुण्य के फलों को भोगने के लिए दोबारा जन्म नहीं धारण करता। इस प्रकार महाभारत युद्ध में लाखों लोगों का जो भीषण और अपार संहार हुआ, उसे माया या भ्रम में विलीन कर दिया गया।

आगे आनेवाली अनेक सदियों तक शासक वर्ग ने इस सिद्धान्त का उपयोग श्रमिक जनता की विद्रोह भावना, क्रोध और कष्टों के विरुद्ध लड़ने की उनकी भावना को उनसे दूर रखने के लिए किया। इस सिद्धान्त के आधार पर ही जनक और उनके समान अनेक व्यक्तियों के विषय में ऐसी विचित्र कथाएं गढ़ ली गयीं कि धनी राजा सबसे अधिक स्वादिष्ट भोजन करते हुए भी रसास्वादन का आनन्द नहीं लेता; सुन्दर से सुन्दर वस्त्र धारण करते हुए भी कभी उसमें लिप्त नहीं होता। इसलिए, श्रमिक दास का भी यह कर्तव्य है कि भूखे रहने पर भी वह आनन्द मनाये, अपनी भावनाओं को नियंत्रण में रखे और निर्धारित कर्तव्य का पालन करने के लिए अपने शरीर को चेतना-शून्य यंत्र जैसा बना ले। जब हर व्यक्ति इस अवस्था को प्राप्त कर लेगा, तो दरिद्रता और कष्ट विलीन हो जायेंगे, क्योंकि मनुष्य के लिए उनका कुछ अर्थ ही नहीं रह जायेगा। जब विचारों की इन सरल कलाबाजियों से प्रत्येक व्यक्ति सुख की प्राप्ति कर लेगा, तो सामाजिक आधार पर शोषण, दासता, उत्पादन का बंटवारा, शासन-सत्ता तथा हिंसा के बारे में भी कोई प्रश्न नहीं उठ सकेगा।

महाभारत युग के परवर्ती काल में वर्ग समाज के सिद्धान्तकार को अपने इस प्रकार के तर्क की सफलता पर पूरा विश्वास नहीं था कि उसके द्वारा मानव की बुद्धि को संतुष्ट किया जा सकेगा और उसके आचार-व्यवहार तथा उन सामाजिक सम्बंधों का नेतृत्व किया जा सकेगा, जो मानवता के सम्पूर्ण जीवन और भावना के प्रतिकूल हैं। इसलिए शासक वर्ग के सब नेतृत्वों की तरह श्रमिक जनता का पूरा बौद्धिक व्यक्तित्व छीनकर उसे शासक वर्ग का अंधभक्त बना देने के लिए उसने यह अंतिम उपदेश दिया : "प्रत्येक धर्म और आदर्श को भाग्य के सहारे छोड़ तू मेरी शरण में आ।"* जहां तक अराजकता अथवा संकट को दूर करने का प्रश्न था, उसके विषय में **गीता** का रचयिता पाठक के सामने कोई आशा का संकेत नहीं करता और हम लोगों को केवल यह सांत्वना देकर छोड़ देता है कि संकट को दूर करने के लिए युग-युग में ईश्वर अवतार धारण करता रहेगा। इस तरह से इस विषय को दुर्बल मानवता के हाथों से छीन लिया गया और यह बताया गया कि योजना-रहित विश्व की योजना, सामाजिक मानव नहीं बना सकता !

गीता और **उपनिषद** की तमाम दार्शनिक विचारधाराओं का विवेचन हम यहां नहीं करने जा रहे हैं। यहां हम केवल यह दिखाना चाहते हैं कि दर्शन की वह आदर्शवादी विचारधारा, जिसे हम **वेदान्त** में पाते हैं, उस युग की उत्पत्ति है जब आर्यों का समाज वर्ग विरोधों, संघर्ष और युद्ध द्वारा विछिन्न हो चुका था। साथ ही साथ हमें इसे भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब हम इन दर्शनिक विचारधाराओं का अध्ययन करें, तो विचारकों अथवा दार्शनिकों की उन ईमानदार चेष्टाओं को, जो उन्होंने तत्व-पदार्थों के विश्लेषण और उनके विषय में अपने विचारों को व्यक्त करने में की है, शासक वर्गों की उस प्रवृत्ति से अलग रखें जिसके अनुसार उन विचारों का उपयोग, जो किसी विशेष युग के सामाजिक सम्बंधों के अनुरूप तथा उनसे सीमित होते थे, वे अपने वर्ग हितों के लिए किया करते थे। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि उस युग में तमाम सामाजिक विचार और उसके नियम धार्मिक सिद्धान्तों में व्यक्त होते थे, इसलिए क्रान्तिकारी वर्गों और शोषितों की स्वतंत्र होने की चेष्टा विभिन्न सम्प्रदायों दार्शनिक विचारधाराओं और धर्मों की स्थापना में ही व्यक्त हुई थी। किसी भी विचारधारा अथवा सम्प्रदाय की भूमिका को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उस युग के वर्ग संघर्ष के संदर्भ में उसका परिचय प्राप्त किया जाय। इस विषय में भी महाभारत युद्ध के सिद्धान्तकार और उस युद्ध के परवर्ती निष्कर्ष विशेष सामाजिक भूमिका की पूर्ति करते हैं। वर्ग समाज के आदर्शवादी

---

* सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। गीता, अ. १८-६६।

दर्शन के सिद्धान्तों के आधार को न छोड़ते हुए भी ये सिद्धान्तकार दासता की कटुता और कठोरता को कोमल बनाने के लिए, शोषकों और शोषितों के सम्बंधों में परिवर्तन लाये बिना ही, एक सामंजस्य लाने की चेष्टा करते हैं। इस विषय में **गीता** की भक्तिवादी विचारधारा, महाभारत युग के दास-स्वामियों के अत्यंत प्रतिक्रियावादी विधि-कर्मों से एक उन्नत चरण थी। यह किन कारणों से सम्भव हुआ था? इसका कारण महाभारत युद्ध के बाद की अवस्था थी। इसलिए, अब हम महाभारत युद्ध के बाद की अवस्था पर विचार करेंगे।

पन्द्रहवां अध्याय

दासता की दुर्बलता — नयी शक्तियां, नयी अवस्था

उस समय सभी विचारशील व्यक्ति महाभारत युद्ध के जिस भीषण परिणाम से भयभीत थे, और साधारण लोगों ने जिसे स्वाभाविक रूप से भांप लिया था, वह सच होकर ही रहा। दोनों पक्षों की आशा के विरुद्ध महाभारत युद्ध के अन्त तक पराजित और विजेताओं दोनों का इतना भारी संहार हुआ कि विजयी पांडव युद्ध के बाद एकदम दिवालिया हो गये और लगभग प्रत्येक प्रमुख व्यक्ति, राजा और राज कुमार, वीर महारथी और सेनानायक उसमें मारे गये। वे तमाम राज्य जिन्होंने इस युद्ध में भाग लिया था, और उनके साथ-साथ युद्ध में योगदान देनेवाले **गण-संघ** भी बहुत दुर्बल हो गये और संहार की भीषणता द्वारा वे बिखर गये। जब दास-स्वामियों की शासन-व्यवस्थाएं दुर्बल हो गयीं और **गण-संघों** के शासक-नेता कमजोर हो गये, तब नागों, निषादों और दूसरे **गणों** को आराम से सांस लेने का अवसर मिला। अपनी पिछली अवस्था को प्राप्त करने के लिए उन्होंने उन आर्य-कुलों और उनकी सेनाओं पर आक्रमण करना शुरू कर दिया, जो एक दिन शक्तिवान थे और जिनसे लोग डरते तथा घृणा करते थे।

उस समय दास-स्वामियों की शासन-व्यवस्थाओं में जो सामान्य संकट छा गया, उसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि नाग कबीलों और उनके साथ साथ अन्य कबीलों के आक्रमण पूर्व, पश्चिम और दक्खिन दिशा से गंगा के मैदानों में स्थित राज्यों पर सामान्य रूप से आरम्भ हो गये। दास-स्वामियों के दिवालियेपन का आभास इससे मिलता है कि विजय की खुशी में **अश्वमेध यज्ञ** करने के लिए युधिष्ठिर के पास धन नहीं रह गया था। जब तक कोई छिपा हुआ खजाना न मिल जाय, तब तक यह **यज्ञ** सम्पन्न नहीं हो सकता था।*

---

* दानमल्पं न शक्नोमि दातु' वित्तम च नास्ति में ॥ १२ ॥
स्वर्गं विनाश्य पृथिवीं यज्ञार्थम् द्विज-सत्तम ॥
करमाहरयिष्यामि सव शोक परायणः ॥ १४ ॥

—महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ३।

उनके तथाकथित पुण्य-कर्मों के उत्सव से पीड़ित साधारण जनता में उत्साह का संचार नहीं हुआ। वह विजेताओं की खिल्ली अपनी शैली में उड़ाती ही रही। पांडवों की उत्सव-भूमि में एक ऐसे चूहे ने प्रवेश किया जिसका आधा शरीर स्वर्ण में बदल गया। चूहे की विशेषता को देख किसी ने यह पूछा कि उसे क्या चाहिए और उसका केवल आधा शरीर ही क्यों स्वर्ण का बन गया है ? चूहे ने इधर-उधर सूंघा और जब उसका बाकी आधा शरीर स्वर्ण का नहीं हुआ, तो उसने यह उत्तर दिया कि उसका आधा शरीर उस भूमि को छूने के कारण सोने का हो गया, जहां बैठ कर एक गरीब ने कुछ टुकड़ों का दान किया था। लेकिन दास-स्वामियों की इस उत्सव-भूमि में, जहां इतना वैभव बह रहा हो और ब्राह्मणों को भोजन दिया जा रहा हो, इतनी शक्ति नहीं है कि उसके बाकी आधे शरीर को सोने का बना सके। विजेता के पुण्यों पर यह साधारण लोगों का भाष्य था ! शासक-वर्गीय **वर्णों** के सब अंश गरीबी में फंस रहे थे और अपनी सेवाओं को किसी के भी हाथ बेच देने के लिए तैयार थे। उन स्थानों से, जहां अनावृष्टि और अकाल की अवस्था थी, शासक वर्ग के अभिमानी ब्राह्मण जंगलों में भागकर घृणित चांडालों की शरण में गये और पराजित तथा दास चांडाल को यह अवसर मिल गया कि वह विजयी आर्यों के पवित्र विश्वामित्र को यह उपदेश दे कि जीवन की रक्षा के लिए मृत कुत्ते का मांस खाना ठीक नहीं है। बड़े राज्यों का आतंक जब दुर्बल हो गया, और शासक वर्गों का वैभव और शक्ति के प्रति जो लोभ था, युद्ध के दौरान में वह सबके सामने प्रत्यक्ष हो गया, तथा जब सब लोग यह जान गये कि नैतिकता और पुण्य की तमाम बातें केवल दूसरों के श्रम से भूमि, दासों और जीवन के आनन्दों को लूटने के लिए परदा मात्र थीं, तब प्रखर भौतिकवाद उनके सामने चुनौती देकर खड़ा हो गया। लेकिन अपने वर्ग-हितों के प्रति सत्यनिष्ठ पांडवों ने भौतिकवादियों की हत्या करना शुरू कर दिया।[1] कहीं ऐसा न हो कि असंतुष्ट जनता का वे नेतृत्व करने लग जायें ! पर ये बातें आगे बढ़ते कबीलों की प्रगति को आसानी से नहीं रोक सकीं और उस समय तक बच रहे **गण-संघों** में आन्तरिक गृहयुद्ध और भी भयंकर रूप में फूट पड़ा।

महाभारत के मौसल पर्व में कृष्ण ने यादवों के अपने ही **गण-संघ** में अपनी जिस शोचनीय अवस्था की शिकायत की है, उससे सामान्य ध्वंस और नाश की मुख्य रूपरेखा का आभास मिल जाता है।

साधारण रूप से यादवों का अंधक-वृष्णीष **गण-संघ** महाभारत युद्ध से अलग ही रहा था। सौराष्ट्र क्षेत्र की द्वारावती नगरी में सुरक्षित ढंग से यह संघ

---

१. देखिए : महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय ३७।

निवास करता था। शिशुपाल तथा उसके अन्य साथियों के आक्रमणों से परेशान होकर उसे वहां जाना पड़ा था। पर इसका अर्थ यह नहीं कि यादव गण के लोकतंत्र ने अपनी रक्षा दूषित अभिजातीयता की पतनशीलता से कर ली थी। उस संघ के अन्दर प्रमुख धनी कुलों में परस्पर इतना भयंकर वैमनस्य चल रहा था कि उसके निर्वाचित गणपति कृष्ण ने अन्य नेताओं के विरुद्ध शिकायत करते हुए यह कहा कि यादवों को अपने पक्ष में रखना बहुत कठिन है। अपने नेतृत्व को बनाये रखने के लिए कृष्ण को जो उपदेश नारद ने दिया, वह बहुत सुन्दर और दिलचस्प है। उन्होंने कृष्ण पर यह आरोप लगाया कि यथेष्ट रूप में वे विनम्र और मृदुभाषी नहीं हैं और सहभोज देने तथा भेंट के वितरण करने में काफी धन नहीं खर्च करते। गण के नेतृत्व की प्राप्ति के लिए इस बात की सहायता लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गण का संगठन वर्ग-विभाजन के भार से छिन्न-भिन्न हो रहा था। मौसल पर्व में यह कथा मिलती है कि यादव लोग एक बार जीवन के सामान्य आनन्दों का उपभोग करने के लिए एकसाथ बाहर गये हुए थे। उन्होंने स्वादिष्ट भोजनों के साथ सुरा का भी खूब पान किया था। फिर वादविवाद करने लगे। महाभारत युद्ध में सम्मिलित होनेवाले कुछ लोगों के कपट-कर्मों के विषय में वादविवाद होने लगा, और उसी में कुछ लोग उठकर परस्पर लड़ने लगे। अभी तक अभिजात कुलों में जो छिपा हुआ वैमनस्य था, वह सार्वजनिक संहार के रूप में फूट पड़ा। जब यह गृहयुद्ध चल रहा था, तभी नाग जाति के लोगों ने पूर्व दिशा से आकर गण-संघ के नगर पर आक्रमण कर दिया। उस आक्रमण में स्वयं कृष्ण मारे गये और अनेक प्रमुख यादवों की हत्याएं हुईं। यह गृहयुद्ध भी इतना भीषण था कि परवर्ती काल में "यादवी" शब्द का अर्थ ही गृहयुद्ध हो गया।

अन्धक-वृष्णीयों की सहायता के लिए पांडव गये, पर नाग तथा अन्य लोगों से वे उनकी रक्षा नहीं कर सके। गंगा की वादियों की राज्य-शक्तियों का, कुरुओं तथा पुरुओं का आतंक समाप्त हो चुका था। अर्जुन ने यह शिकायत की कि नाग तथा अन्य लोगों के विरोध में लड़ने के लिए जब वे अपने विख्यात अस्त्रों के पास गये, तो "उन्होंने आने से इनकार कर दिया।" उनकी शक्ति समाप्त हो चुकी थी। इस नरसंहार में कुछ परिवार बच गये और वे हस्तिनापुर चले आये।

लेकिन हस्तिनापुर अब उठती हुई शक्ति का केन्द्र नहीं रह गया था। महाभारत युद्ध के बाद कुछ दिनों तक तो पांडव जीवित रहे, पर बाद में महाभारत के कथानुसार वे एक कुत्ते के साथ स्वर्ग चले गये। उनके पौत्र राजा परीक्षित नागों द्वारा मार डाले गये। यह जानकर स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है कि उस ब्राह्मण नेता को, जिसका नाम कश्यप था और जो परीक्षित के

ऊपर होनेवाले आक्रमण की योजना से परिचित था, नागों के प्रमुख नायक तक्षक ने स्वर्ण देकर खरीद लिया था। ऐसा लगता है कि परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने नागों पर आक्रमण करके उन्हें समझौता करने पर बाध्य कर दिया, जिससे कुछ काल के लिए उसे सांस लेने का अवसर मिल गया। उसके बाद महाभारत का युग हमारे लिए समाप्त हो जाता है। महाभारत युग के बाद इतिहास में एक सूना और अंधकारमय युग आया, जिसके बाद गंगा के मैदानों में नये आधार पर बड़े राज्य फिर से उदित होने लगे। इन राज्यों का आकर्षण केन्द्र अब हस्तिनापुर न होकर मगध का पाटलीपुत्र था।

परन्तु उस समय तक दासता का ह्रास होने लगा। देहात के अर्ध-दास और शहर के दस्तकार और उनके बाद गतिशील व्यापारी प्रमुख रूप से सामने आने लगे। उन सबके ऊपर एक सर्वशक्तिमान राजा का शासन होता था। दास-स्वामियों के घरों के अर्ध-स्वतंत्र और अर्ध-मुक्त दासों ने जमींदार-व्यापारी युवकों के साथ-साथ उनके दर्शन-लोक में प्रवेश किया। वे बुद्ध धर्म के अग्रणी गुरुओं के भक्त और शिष्य बनने लगे। इस विषय पर हम यहां अधिक कहना नहीं चाहेंगे। हम केवल इस ओर संकेत करना चाहते हैं कि महाभारत युद्ध के फल-स्वरूप दास व्यवस्था इतनी दुर्बल हो गयी कि वह अपने आधार पर पुराने ढंग से और आगे नहीं चल सकी। निस्सन्देह, दासता चलती रही और दास-स्वामियों के राज्यों का फिर से संगठन भी होता गया तथा उनकी वृद्धि भी होती गयी। लेकिन एक ओर तो परस्पर संहार के कारण और दूसरी ओर निषादों और नागों के विद्रोह व विरोध ने उनकी प्रगति को उतना आसान और सुलभ नहीं रहने दिया, जितना कि वह प्राचीन युग में था। और फिर नागों के पास लौट जाने और जीविका के उत्पादन के लिए इतनी विशाल आश्रय-भूमि थी कि दास प्रथा अपने कठोरतम रूप में बहुत दिनों तक नहीं चल सकती थी। खोये और बूढ़े दासों की फिर से पूर्ति करना कठिन हो रहा था, दास-स्वामियों द्वारा जीते गये प्रदेश उनकी शक्ति के बाहर होते जा रहे थे और प्रजा गरीब हो रही थी। वादियों की उर्वरता और उनकी विशालता, भागे हुए दासों और पराजितों को आश्रय और संघर्ष चलाने का अवसर प्रदान कर रही थी। इसके अलावा उत्पादन, विनिमय और व्यापार की वृद्धि के द्वारा एक नये व्यापारी वर्ग की उत्पत्ति हो गयी थी। यह व्यापारी वर्ग आर्थिक व्यवस्था में एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में आया। उन्होंने भागे हुए दासों को अपने दस्तकार के रूप में पाकर नागरिक पूंजी की छाया में लाभ कमाया था। ये व्यापारी और दस्तकार सबल राजाओं के शासन में रहते थे, जिनकी शक्ति इस बात पर निर्भर थी कि किस सीमा तक वे नगर तथा देहात के विरोधी हितों के बीच, व्यापारी तथा भूमि-दास के मालिकों के विरोधी हितों के बीच खेल सकते थे।

जैसा हम कह आये हैं कि कृषि का विकास बहुत बड़े पैमाने पर हो चुका था। भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार का प्रश्न गंभीर रूप लेता जा रहा था। और उपरोक्त नयी अवस्था में दास-प्रथा के आधार पर इस काम को पूरा करना कठिन होता जा रहा था; और यही कठिनता दस्तकारी के उद्योगों के उत्पादन के बारे में भी थी। दास प्रथा को नष्ट करने और अर्ध-दास व्यवस्था को उसके स्थान पर लाने के लिए अवस्था परिपक्व हो रही थी। महाभारत युद्ध ने इस सामाजिक प्रक्रिया के वेग को तेज करने में कम योग नहीं दिया था।

इन्हीं अवस्थाओं ने शोषक वर्ग के शास्त्रकारों और दार्शनिकों के लिए यह आवश्यक बना दिया था कि दास-प्रथा को वे दूसरे दृष्टिकोण से देखें। महाभारत के परवर्ती काल में **गीता** के सिद्धान्तकार ने इसी बात को उस स्थल पर कहा, जहां कृष्ण यह कहते हैं कि : "यद्यपि स्त्री, वैश्य और शूद्र दासों का जन्म दासता करने के लिए ही हुआ है, फिर भी अगर वे मेरे भक्त हों तो उन्हें स्वर्ग में स्वतंत्रता मिल सकती है।" इस प्रकार हम यह देखते हैं कि महाभारत युद्ध के युग में दास-स्वामियों के राज्यों ने आर्य वैश्य को भी दासता की श्रेणी तक पहुंचा दिया था। ये आर्य वैश्य प्राचीन **गण** साम्य संघों के वे मूल स्वाभिमानी विश थे, जो श्रम करते थे। लेकिन दास-स्वामियों के राज्यों में वैश्य और स्त्री जाति को शूद्र दास के समकक्ष बना दिया गया। उन्हें न तो इस पृथ्वी पर मोक्ष प्राप्त होता और न स्वर्ग में ही। पितृसत्तात्मक दासता के आरम्भ काल में दासों के स्वामी ब्राह्मण और क्षत्रिय, दास वर्ग की स्त्री से विवाह कर या उसे घर बैठाल सकते थे और उससे उत्पन्न सन्तान सम्पत्ति में बराबर का अधिकार पाती थी। परन्तु स्वयं दास लोग स्वतंत्र होने की अथवा व्यक्तिगत सम्पत्ति संचय करने की बात सोच भी नहीं सकते थे। इसलिए स्वयं आर्य **गणों** के अन्दर जब सम्पत्ति-भेद बहुत तेज होता गया और सम्पत्तिहीन वैश्य को दासों की श्रेणी में ढकेल दिया गया, तो उसने (वैश्य) गृहयुद्ध और क्रान्ति की धमकी दी। विजयी दास-स्वामियों के एकाधिपति शासन ने दरिद्र वैश्यों और उनके सहायक निषाद-नागों के विरोध को कुचल दिया और पूर्ण आतंक का राज्य स्थापित किया। यह वह युग था जिसमें आर्य वैश्य को शूद्र के समकक्ष बनाया गया था। स्त्री उस श्रेणी में पहले से ही थी। तभी से दास-स्त्री के साथ सम्बंध ने अपनी उस विशेषता को खो दिया जो पितृसत्ता के काल में वर्तमान थी। उच्च वर्ग के पुरुष द्वारा दास-स्त्री से पैदा हुई सन्तान ने अपना पुराना पद खो दिया। प्राचीन पितृसत्ता की व्यवस्था में उन सन्तानों को स्वतंत्र पितृकुल के **वर्णों** में सम्मिलित किया जाता था, लेकिन अब उन सन्तानों को अपनी दास-माता का **वर्ण** प्राप्त होने लगा— यानी आंशिक स्वतंत्रता का मार्ग भी अब उनके लिए बन्द कर दिया गया।

अपराजित और अर्ध-पराजित जनसंख्या इतनी बड़ी थी कि दास-स्वामियों के कुलों को शान्ति से रहना कठिन था। वर्ग भेद की तीक्ष्णता के कारण स्वयं आर्य वैश्य भी स्वतंत्रता से पतित होकर दासता में जा गिरे थे। उत्पादन शक्तियों की वृद्धि तेजी से हो रही थी और इसकी वजह से नये उत्पादन सम्बंधों की मांग उठ रही थी। विनिमय, व्यापार, दस्तकारी, व्यापारी वर्ग और उनकी नयी सामाजिक शक्तियों ने पहले दासता को मिटाने की मांग बुलन्द की। **गीता** के कृष्ण के नाम पर यह घोषणा की गयी। इस काम के लिए कृष्ण का नाम सर्वोत्तम था क्योंकि वे उस सबसे बड़े **गण-संघ** के सबसे प्रिय प्रतिनिधि थे जो महाभारत युद्ध के बाद भी जीवित रहा था। उनको "स्वर्ग लोक में स्वतंत्रता" के नारे का वाहक बनाया जा सकता था और एक ऐसा समझौता किया जा सकता था जिसके अनुसार इस लोक में शोषक वर्ग की शान्ति को भंग किये बिना ही स्त्रियां और दास श्रम करते जाते और अपने श्रमफल अथवा पारिश्रमिक को उस स्वर्ग लोक में पाने की आशा रखते, जहां अपने स्वामियों के समकक्ष स्वतंत्र पद पाने का उन्हें आश्वासन दिया गया था। आज यह बात सुनने में बहुत विचित्र सी लगती है, पर वास्तव में यह उतनी विचित्र नहीं है। यह उन नयी शक्तियों के साथ दास-स्वामियों का समझौता था, जो अर्धदास और सामन्ती व्यवस्था की ओर बढ़ रही थीं।

दासता शोषण का प्रथम रूप था। शोषण का यह विशेष रूप प्राचीन काल में वर्तमान था। इसके बाद मध्य काल में अर्ध-दासता और आधुनिक काल में मजदूरी व्यवस्था इसके रूप हो गये। गुलामी के ये तीन बड़े-बड़े रूप हैं जो सभ्यता के तीन महान युगों की विशेषता के अनुरूप चलते रहे हैं। प्राचीन काल में यह गुलामी खुले रूप में और आधुनिक काल में छिपे रूप में रही है, पर यह युगों से हमेशा साथ-साथ चलती आ रही है।

इस विवेचनात्मक लेख में हम सामाजिक विकास की दूसरी अवस्था की विवेचना नहीं करेंगे। इस पुस्तक का प्रमुख उद्देश्य यह बताना है कि आदिम साम्य संघ की उत्पत्ति, विकास और ध्वंस कैसे हुआ और किस प्रकार दासता का प्रवेश उस राज्य-व्यवस्था के साथ हुआ जिसका आधार दंड था तथा जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति और दासों के विजयी स्वामियों का हिंसात्मक एकाधिकार होता था। वह वन्य मनुष्य जो एक दिन यह भी न जानता था कि आग किस तरह बनायी जाती है, अब विशाल सीमाओं में विकसित हो चुका था, उसने महाद्वीपों को बसाया, राज्यों और नगरों का निर्माण किया, अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रकृति का उपयोग करने के लिए विशाल उत्पादन शक्तियों को विकसित किया और अपने को जांगल से बर्बर युग तक और बर्बर से सभ्य युग तक आगे बढ़ाया। उसने युद्ध और शान्ति के अस्त्रों तथा

कला और साहित्य को विकसित किया। प्रकृति के नियमों और रहस्यों को जानने के लिए उसने उसका अध्ययन और विश्लेषण किया। लाखों भूत-प्रेतों, देवी-देवताओं के विचारों से उसने अद्वैतवाद की समस्याओं को उठाना सीखा। विशेष से सामान्य, वैयक्तिक से सार्वजनिक, तथा बाह्य जगत से अन्तर्जगत की चिन्तना की समस्याओं को उसने उठाना आरम्भ किया।

लेकिन प्रगति की इस गति के साथ-साथ पतन अथवा प्रतिक्रिया भी चलती रही। बर्बर अवस्था के प्राचीन साम्य संघों में वर्ग, वर्ग-संघर्ष, दासता, लोभ, सम्पत्ति तथा सम्बंधियों के बीच परस्पर हिंसा नहीं थी, पर आगे चल कर वे दासता, वर्ग-युद्ध, लोभ तथा भाई के विरोध में भाई की हिंसा के शिकार हो गये।

> "सभ्यता का आधार चूंकि एक वर्ग का दूसरे वर्ग द्वारा शोषण है, इसलिए उसका सम्पूर्ण विकास सदा एक आत्म-विरोधी दायरे के भीतर होता रहा है। उत्पादन में प्रगति का जो भी कदम उठाया जाता है, वह साथ ही साथ पीड़ित वर्ग की, यानी समाज के बहुसंख्यक भाग की, हालत को गिरानेवाला कदम भी होता है। एक के लिए जो वरदान है, वह दूसरे के लिए आवश्यक रूप से अभिशाप बन जाता है। जब भी किसी वर्ग को नयी स्वतंत्रता मिलती है, तो वह किसी दूसरे वर्ग के लिए नये दमन का कारण बन जाती है ... और जैसा हम देख चुके हैं, बर्बर लोगों में अधिकारों और कर्तव्यों के बीच भेद की कोई रेखा खींची नहीं जा सकती थी, लेकिन सभ्यता एक वर्ग को लगभग सारे अधिकार देकर और दूसरे वर्ग पर लगभग सारे कर्तव्यों की जिम्मेदारी लादकर अधिकारों और कर्तव्यों के भेद एवं विरोध को इतना स्पष्ट कर देती है कि मूर्ख से मूर्ख आदमी भी उन्हें समझ सकता है।
>
> "लेकिन ऐसा होना नहीं चाहिए। जो शासक वर्ग के लिए कल्याणकारी है, उसे पूरे समाज के लिए कल्याणकारी होना चाहिए, जिसके साथ शासक वर्ग एकात्म स्थापित करता है। अतएव, सभ्यता जैसे-जैसे प्रगति करती है, वैसे-वैसे उन बुराइयों पर, जिन्हें वह आवश्यक रूप से पैदा करती है, प्रेम का परदा डालना पड़ता है, उन्हें झूठे साज-सिंगार से छिपाना पड़ता है, या फिर उनके अस्तित्व से इनकार कर देना पड़ता है। संक्षेप में, सभ्यता को ढोंग व मिथ्याचार का चलन आरम्भ करना पड़ता है, जो कि समाज के पुराने रूपों में, और यहां तक कि सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भी, मौजूद नहीं था।

और अन्त में वह इस घोषणा के द्वारा पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है : शोषक वर्ग शोषित वर्ग का शोषण केवल और सर्वथा शोषितों के ही कल्याण के लिए करता है; और यदि शोषित वर्ग इस सत्य को नहीं देख पाता और विद्रोही तक बन जाता है, तो इस तरह वह अपने हितैषियों के, शोषकों के प्रति हद दर्जे की कृतघ्नता का ही परिचय देता है।"

(परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति, पृष्ठ २४७-४८)

लेकिन समाज में वर्ग भेद का अस्तित्व अनादि काल से नहीं चला आ रहा है और न शासन-सत्ता का अस्तित्व ही अनादि काल से है।

"ऐसे समाज भी हुए हैं जिन्होंने बिना राजसत्ता के अपना काम चलाया था, और उनमें राजसत्ता और राजशक्ति का विचार तक नहीं पाया जाता था। आर्थिक विकास की एक निश्चित अवस्था में, समाज आवश्यक रूप से वर्गों में बंट गया, और इस बंटवारे के कारण राजसत्ता का होना जरूरी हो गया। अब हम तेजी से उत्पादन के विकास की उस अवस्था की ओर बढ़ रहे हैं, जिसमें इन वर्गों का जिन्दा रहना न केवल आवश्यक नहीं रहेगा, बल्कि उत्पादन के लिए एक बड़ी भारी बाधा भी बन जायेगा। तब इन वर्गों का उतने ही अवश्यम्भावी ढंग से विनाश हो जायेगा जितने अवश्यम्भावी ढंग से एक पहलेवाली अवस्था में उनका जन्म हुआ था। उनके साथ-साथ राजसत्ता भी अनिवार्य रूप से मिट जायेगी। जो समाज के उत्पादकों के स्वतंत्र तथा समान सहयोग की बुनियाद पर उत्पादन का संगठन करेगा, वह समाज राज्य के पूरे यंत्र को उठाकर उस स्थान पर रख देगा जो उस समय उसके लिए सबसे उपयुक्त होगा : यानी वह राजसत्ता को हाथ के चरखे और कांसे की कुल्हाड़ी के साथ-साथ प्राचीन वस्तुओं के अजायबघर में रख देगा।" (**उपरोक्त पुस्तक,** पृष्ठ २४२)

परन्तु मानवता के अतीत काल का यह संग्रहालय अंतिम रूप से तभी बन पायेगा जब संसार के अधिकांश देशों में वर्गहीन समाज और कम्युनिज्म का निर्माण हो जायेगा। अब संसार उस युग में प्रवेश कर चुका है।

❀

परिशिष्ट १

(देखिए पृष्ठ ११८)

महाभारत में वर्णित अठारह माताओं और उनसे बने गणों के नाम :

मातृसत्ता से	**ये गण बने**
१. आदिति	आदित्य
२. दिति	दैत्य
३. दनु	दानव
४. काला	कालकेय
५. विनता	वैनतेय
६. कद्रु	कद्रवेय
७. मुनि	मौनेय
८. प्राधा	प्राधेय
९. कपिला	कापिल
१०. कृत्तिका	कार्तिकेय
११. सिंहिका	सैंहिकेय
१२. पुलोमा	पौलोम
१३. वसु	वासव
१४. विश्वा	विश्व
१५. मरुत्मती	मरुत्मन्त
१६. भानु	भानव
१७. मुहूर्त	मुहुर्त (मौहुर्तेय)
१८. सध्या	साध्य

महाभारत में इन्ही **गणों** से विख्यात पुरुषों की उत्पत्ति बतायी गयी है। इन **गणों** के परस्पर विरोधों की कथाएं भी उसमें वर्णित हैं।

परिशिष्ट २

(देखिए "तीसरे संस्करण की भूमिका")

१. (पृष्ठ ३) : दासों का वर्गीकरण।

नारद ने नीचे लिखे पन्द्रह प्रकार के दासों का उल्लेख किया है:

गृह जातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः।
अनाकाल भृतो लोके आहितः स्वामिना च यः ॥ २४ ॥
मोक्षितो महतश्चार्णात्प्राप्तो युद्धात्पणार्जितः ।
तवाह मित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः ॥ २५ ॥
भक्तदासश्चविज्ञेयस्तथैव वडवाहतः ।
विक्रेता चात्मनः शास्त्रे दासाः पञ्चदशस्मृताः ॥ २६ ॥ नारद—५ ।

मनुस्मृति में सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया गया है।

नारद द्वारा दी गयी दासों की सूची बहुत व्यापक है, इसलिए मनुस्मृति में दी गयी सूची का उल्लेख अनावश्यक है। (**मनुस्मृति**, ८–४१५)

२. (पृष्ठ ४) : दासों को किस विधि से मुक्त किया जाता था, उसके लिए नारद प्रणीत सूत्रों को देखिए।

जल से भरे मिट्टी के एक घड़े को दास के कंधे से उतार कर स्वामी तोड़ डालता था। उसके बाद अन्न एवं फूल मिले हुए जल को दास के सर पर छिड़कता और तीन बार उसके स्वाधीन होने की घोषणा करता था।

३. (पृष्ठ ४) : दासों को किराये पर देना और उन्हें पीड़ित करना।

देखिए **जातक**, भाग १, पृष्ठ ४०२। इसमें एक दासी के भाग्य की कथा का उल्लेख किया गया है जिसे उसके स्वामी ने दूसरे के पास काम करने के लिए भेजा था। जब वह धन लाने में असमर्थ रही, तो बेंतों से उसे मारा गया।

कटहक नाम का एक दास था जिसने परिवार के (स्वामी के) पुत्रों के साथ-साथ पढ़ना और लिखना सीख लिया था। अन्य कर्मों में कुशल होने के अलावा वह भाषण कला में भी निपुण था। उसे भंडार-गृह के रक्षक के रूप में नियुक्त किया गया। लेकिन उसे सदा यह भय लगा रहता कि कभी न कभी

वह किसी अपराध के कारण अपने पद से हटाया जा सकता है, और तब उसे मारा-पीटा, और ताले में बन्द भी किया जा सकता है।

[तालेत्वा बंधित्वा लख्खणेन अंकेत्वा दासपरिभोगेणपि परिभुंजिस्सन्ति]

४. (पृष्ठ ४) : **महाभूमि अथवा राजसत्ता द्वारा अधिकृत भूमि।**

इसका उल्लेख "गोपथ राजमार्ग जलाशयोद्यान्विता" (जिसमें पशुओं के लिए मार्ग, सरोवर, आदि भी होते थे) के नाम से किया गया है।

५. (पृष्ठ १६) : **राजसत्ता के द्वारा नियुक्त कर्मचारियों के विषय में।**

७८८–८९ समय का विभाजन तीन प्रकार से किया गया है—सूर्य की गति के अनुसार, चन्द्रमा की गति के अनुसार और सवन के अनुसार।

७८९–९० वेतन सदैव सूर्य की गति के अनुसार देना चाहिए। चन्द्र की गति के अनुसार ब्याज जोड़ना चाहिए और प्रति दिन का वेतन सवन के अनुसार देना चाहिए।

७९१–९२ समय, काम अथवा दोनों के अनुसार वेतन दिया जा सकता है। इसलिए वेतन तय किये, यानी समझौते के मुताबिक देना चाहिए।

७९३–९४ 'अमुक स्थान तक तुम्हें यह भार ले जाना होगा और मैं तुम्हें इस काम के लिए इतना धन दूंगा'—इस सिद्धान्त के अनुसार जो पारिश्रमिक निर्धारित होता है, वह काम के अनुसार है।

७९५–९६ 'प्रत्येक वर्ष, मास अथवा दिन मैं तुम्हें इतना धन दूंगा'—इस सिद्धान्त के अनुसार वेतन निर्धारित करना समय के अनुसार माना जाता है।

७९७–९८ 'तुमने इतने समय में इतना काम किया है; इसलिए मैं तुम्हें इतना दूंगा'—इस प्रकार से पारिश्रमिक निश्चित करना समय और काम दोनों के अनुसार कहा जाता है।

७९९–८०२ वेतन देना न तो किसी को रोकना चाहिए और न स्थगित ही करना चाहिए। मध्यम वेतन वह है जिसके द्वारा आवश्यक भोजन और वस्त्रों की प्राप्ति हो जाती है। उत्तम वेतन के द्वारा वेतन और वस्त्र यथेष्ट मात्रा में प्राप्त होते हैं। अल्प वेतन वह है जिससे कोई किसी तरह जीवित रह लेता हो।

८०३–४ शासक को स्वयं अपने कल्याण के लिए सावधानी के साथ कर्मचारियों की योग्यता के अनुसार वेतन तय करना चाहिए।

८०५–६ वेतन इस प्रकार से तय करना चाहिए कि कर्मचारी अपने अनिवार्य आश्रितों का भी भरण-पोषण कर सकें।

८०७–८ अल्प वेतन पानेवाले कर्मचारी स्वभाव से ही शत्रु होते हैं। वे दूसरों के साधन, अवसर खोजनेवाले, निधियों एवं लोगों को लूटने वाले होते हैं।

८०९. शूद्रों का वेतन उनके भोजन तथा वस्त्र भर के लिए ही होना चाहिए।

८१३–१४ सेवक तीन प्रकार के होते हैं—आलसी, साधारण एवं क्रियाशील। इसलिए इसी क्रम के अनुसार उनका वेतन भी अल्प, मध्यम और उत्तम होना चाहिए।

८१५–१६ अपने घरेलू काम के लिए रखे गये सेवकों को दिन भर में एक **याम** और रात्रि में तीन **याम** का अवकाश देना चाहिए। उस सेवक को, जो एक दिवस के लिए ही नियुक्त किया गया है, केवल आधे **याम** का अवकाश देना उचित है।

८१७–१८ उत्सव के दिनों को छोड़कर राजा को प्रति दिन उनसे काम लेना चाहिए। यदि काम अपरिहार्य हो, तो उत्सव के दिन भी अवकाश नहीं देना चाहिए, लेकिन **श्राद्ध** के दिन अवकाश अवश्य देना चाहिए।

८१९–२१ यदि सेवक बीमार हो, तो उसे निर्धारित वेतन से एक चौथाई कम देना चाहिए। जो सेवक बहुत समय से रोगी हो, उसे तीन मास का वेतन देना चाहिए। परन्तु इससे अधिक किसी को नहीं देना चाहिए।

८२२–२४ जो सेवक एक सप्ताह बीमार रहा हो, उसके वेतन में कोई कटौती नहीं करना चाहिए। यदि वह एक वर्ष तक रोगी रहा हो, तो उसके वेतन में थोड़ी ही कटौती करना चाहिए और यदि वह एक निपुण सेवक हो, तो उसे आधा वेतन देना चाहिए।

८२५ शासकों को चाहिए कि वे अपने सेवकों को एक वर्ष में पन्द्रह दिनों का अवकाश दें।

८२६–२७ जिस सेवक ने चालीस वर्षों तक सेवा की हो, उसे बिना किसी काम के आधा वेतन देना चाहिए।

८२८–२९ (सेवक को) जीवन भर और यदि उसका पुत्र असमर्थ एवं बाल्यावस्था में हो, तो उसे भी, अथवा उसकी पत्नी और शीलवान कन्याओं को आधा वेतन देना चाहिए।

८३०–३१ शासक को चाहिए कि वह प्रति वर्ष सेवक के वेतन का आठवां भाग उसे परितोषिक के रूप में दे। और यदि सेवक ने काम को असाधारण दक्षता से किया हो, तो उसे उन सेवाओं के मूल्य का आठवां भाग भी दिया जाना चाहिए।

८३२–३३ यदि सेवक की मृत्यु स्वामी की सेवा करते हुए हुई है, तो वही वेतन उसके पुत्र को बाल्यावस्था में देना चाहिए अथवा पुत्र की योग्यता के अनुसार उसे वेतन देना चाहिए।

८३४–३५ सेवक के वेतन का छठा अथवा चौथाई भाग शासक को अपने पास सुरक्षित रूप में रखना चाहिए और दो या तीन वर्षों में उसका आधा अंश या पूरा भाग दे देना चाहिए। (प्रो. सरकार का मत है कि इसमें प्रोवीडेन्ट फंड का विचार ध्वनित होता है।)

८३६–३७ कठोर शब्द, अल्प वेतन, क्रूर दंड तथा अपमान द्वारा स्वामी अपने सेवकों के अन्दर शत्रु के गुणों को जगाता है।

८३८–३९ वे दास जो वेतन द्वारा संतुष्ट, असाधारण योग्यता के कारण आदृत एवं कोमल वाणी के द्वारा शीलवान होते हैं, अपने स्वामियों का त्याग कभी नहीं करते।

८४०–४१ क्षुद्र स्वभाव के सेवक धन की लालसा करते हैं, मध्यम प्रकृति के सेवक धन और यश दोनों की इच्छा रखते हैं, और उत्तम सेवक केवल यश चाहते हैं। श्रेष्ठ व्यक्तियों के लिए यश ही धन है।

(**शुक्रनीति** — पाणिनि कार्यालय, संस्करण १९१४, प्रो. विनय कुमार सरकार द्वारा अनूदित; भाग १३; सेकरेड बुक आफ़ द हिन्दूज़ सिरीज।)

६. (पृष्ठ १७) : वररुचि ।

पाणिनि के बाद संस्कृत भाषा का सबसे महान वैयाकरण कौन था ? प्राचीन भारत के प्रलेखों से यह ज्ञात होता है कि वररुचि प्राकृत भाषाओं के महान वैयाकरणों में से एक थे। उन्होंने महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची एवं शौर्य सेनी, आदि प्रमुख भाषाओं का व्याकरण लिखा है।

संभवतः वररुचि अशोक से पूर्व हुए थे।

७. (पृष्ठ १७) : गुणाढ्य ।

भारतीय इतिहास के अध्यायों में गुणाढ्य की कथा अत्यंत रोमांचकारी है और वह प्राकृत भाषा के लोक साहित्य की विख्यात "बृहत्कथा" में संग्रहीत है।

वररुचि और गुणाढ्य का, जो एक सातवाहन वंशीय शासक था, अध्ययन करना अपनी राष्ट्रीयताओं और प्राकृत भाषाओं तथा साहित्य को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

परिशिष्ट ३

स्थायी सेनाएं और अर्थ-व्यवस्था

(देखिए पृष्ठ ७)

ईसा की छठी शताब्दी से दूसरी शताब्दी पूर्व तक, अर्थात महात्मा बुद्ध के आविर्भाव एवं अशोक के अन्त तक, भारत में अनेक महान साम्राज्यों की रचना की गयी। उनके राजस्व के साधनों तथा उनके उपयोग के विषय में जानना आवश्यक है। इस विषय को स्पष्ट करने की सामग्री हमें **कौटिल्य अर्थ-शास्त्र** तथा अन्य ग्रंथों में मिल सकती है।

इन ग्रंथों से हमें यह ज्ञात होता है कि राज-सत्ताएं अथवा सम्राट कृषि का संचालन दासों, वेतनभोगी सेवकों और स्वतंत्र कृषकों की सहायता से करते थे। वे उन कारखानों तथा उद्योगशालाओं के संरक्षक थे जिनमें केवल सेना के लिए अस्त्र-शस्त्र ही नहीं, वरन व्यापार की वस्तुओं का भी उत्पादन होता था। अवश्य ही इनके अलावा भी राजस्व के अन्य साधन थे।

यहां अध्ययन का पहलू यह है कि इन साम्राज्यों की छत्रछाया में आर्थिक क्रियाशीलताओं ने **बिकाऊ माल** के उत्पादन एवं उसकी सहकारिणी मुद्रा की भूमिका तथा व्यापारिक पूंजी का विकास किस सीमा तक किया था।

इसी क्षेत्र में अध्ययन का दूसरा दिलचस्प पहलू उन स्थायी सेनाओं की, जिनका भरण-पोषण ये साम्राज्य किया करते थे, भूमिका के एवं अर्थ-व्यवस्था तथा जनता पर होनेवाले उनके प्रभाव के बारे में है।

हमें चार साम्राज्यों की सेनाओं का विवरण नीचे लिखे रूप में प्राप्त होता है :

	पैदल	घुड़ सवार	हाथी सवार
मगध	६०,०००	३०,०००	९००
कलिंग	५०,०००	१०,०००	७००
तलुक्त	५०,०००	४,०००	७००
आंध्र	१००,०००	२,०००	१०००

सिकन्दर की सूचना के अनुसार चन्द्रगुप्त से पूर्व नन्दों की सेना नीचे लिखे रूप में थी:

पैदल	घुड़ सवार	हाथी सवार	रथ सवार
२००,०००	२०,०००	४,०००	२,०००

ये संख्याएं तथा विभिन्न शस्त्रों की तुलनात्मक बनावट अध्ययन के लिए विशेष महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं।

उस समय की उत्पादन शक्तियों के स्तर को ध्यान में रखते हुए यह जानना आवश्यक है कि इस प्रकार की सेनाओं के भरण-पोषण के लिए किस मात्रा में उत्पादक शक्तियों को अलग रखना आवश्यक होता था। यदि इस प्रयोजन के लिए गांवों से कुछ भाग राजस्व के रूप में लिया जाता था, तो किस सीमा तक यह भार जनता के ऊपर भूमि-कर एवं कर के रूप में पड़ता था? यदि इसका कुछ भाग बाजार से प्राप्त किया जाता था और कर्मचारी भी उसका एक भाग देते थे (मुद्रा अथवा अन्न के रूप में), तो इस प्रकार के उपयोग में कितनी मुद्राएं आती थीं? उस समय की प्राकृतिक आर्थिक व्यवस्था में इस प्रकार के विकाऊ माल के परिचालन का क्या प्रभाव होता था?

अध्ययन के लिए यह प्रश्न भी आवश्यक है कि विभिन्न शस्त्रों के तुलनात्मक भार एवं धातु-मिश्रण से किस प्रकार की सामाजिक रचना का चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है? मार्क्स का कथन है कि सेना प्रायः अपने सामाजिक विभाजन का प्रतिबिम्ब होती है।

क्या साम्राज्य की इन सेनाओं से हमें तत्कालीन समाज की आन्तरिक रचना में निहित वर्ग-सम्बंधों और शक्तियों के संतुलन को जानने में सहायता मिल सकती है?

इस सम्बंध में मैं पाठकों का ध्यान इस विषय पर लिखे गये कार्ल मार्क्स के एत्र पत्र की ओर खींचना चाहूंगा:

> "अन्य वस्तुओं से अधिक स्पष्ट रूप में **सेना** का इतिहास, उत्पादन शक्तियों और सामाजिक सम्बंधों के परस्पर जुड़े होने की धारणा की सत्यता को सामने ले आता है। साधारण रूप से आर्थिक विकास के लिए सेना महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, सेना में ही सबसे पहले प्राचीन लोगों ने वेतन के सिद्धान्त का विकास किया था। उसी प्रकार से रोमवासियों में **पिकुलियम कास्त्रेन्से** (शिविर सम्पत्ति) वह पहला वैधानिक रूप था जिसमें परिवारों के पिताओं के अतिरिक्त चल सम्पत्ति पर परिवार के अन्य सदस्यों का अधिकार स्वीकृत हुआ था। उसी प्रकार से **फाब्री** (सेना सम्बंधी वस्तुओं के उत्पादन में लगे हुए कारीगरों)

संगठनों में संघ की व्यवस्था स्थापित हुई थी। यहां ही सबसे पहले बड़े पैमाने पर यंत्रों का उपयोग शुरू हुआ। ग्रिम द्वारा प्रतिपादित प्रस्तर युग के बाद धातुओं और उनसे बनी मुद्राओं का विशेष मूल्य भी, मौलिक रूप से उनके सैनिक महत्व पर आधारित मालूम होता है। एक शाखा के **अन्दर** श्रम के विभाजन की प्रणाली भी सबसे पहले सेना में ही आरम्भ हुई थी। पूंजीपति समाज के सभी रूपों का पूर्ण इतिहास बड़ी स्पष्टता से संक्षिप्त रूप से इसमें व्यक्त होता है।...

"मेरे विचार में आपके विवरणों में जो बातें छूट गयीं हैं, वे इस प्रकार हैं: १) व्यापक पैमाने पर तनखा पानेवाली सेना का सर्वप्रथम पूर्ण उदय और शीघ्र ही कार्येजियनों में उसका ... २) पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में इटली में सैन्य व्यवस्था का विकास ... ३) एशिया की सैन्य व्यवस्था का वह रूप, जिसका उदय सबसे पहले फारसवासियों में और बाद में, यद्यपि कई भिन्न रूपों में, परिवर्तित होकर मंगोलों और तुर्कों, आदि में हुआ ...।"

(कार्ल मार्क्स का एंगेल्स के नाम पत्र, २५ सितम्बर १८५७)

❀

लेखक का परिचय

श्रीपाद अमृत डांगे, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना करने वालों में से एक हैं। भारतीय मज़दूर वर्ग के एक अग्रणी और सर्वप्रिय नेता हैं। अपने विद्यार्थी जीवन से ही उन्होंने राजनीति में भाग लेना शुरू कर दिया था। सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन में उन्होंने विद्यार्थी हड़तालों को संगठित कर उनका नेतृत्व किया था।

वे उन व्यक्तियों में से एक हैं जिन्होंने अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना सन् १९२० में की थी।

सन् १९२२-२४ में उन्होंने 'समाजवादी' नामक साप्ताहिक पत्र की स्थापना की और उसका सम्पादन किया। इसी समय उन्होंने 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' आदि कुछ मार्क्सवादी पुस्तकों के भारत में प्रकाशित करने की व्यवस्था की। भारत के साम्राज्यवादी शासकों ने कानपुर के 'कम्युनिस्ट षड्यंत्र' के सिलसिले में अन्य कम्युनिस्टों के साथ उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया। उनको चार वर्षों के लिये कारावास का दण्ड मिला।

सन् १९२८ में जेल से छूटने पर उनको हम बम्बई के सूती मिल मजदूरों की हड़तालों को संगठित करते हुए देखते हैं। सन् १९२८ में उन्होंने शक्तिशाली गिरणी कामगार यूनियन (लाल झण्डा) की स्थापना बम्बई में की।

सन् १९२९ में वे प्रसिद्ध 'मेरठ षड्यंत्र केस' के सिलसिले में ३१ अन्य कम्युनिस्टों के साथ फिर गिरफ्तार कर लिये गये। छूटने पर उन्होंने बम्बई के सूती मिल मज़दूरों में काम करना जारी रखा।

बम्बई की कांग्रेसी सरकार ने भी उनको ज्यादा दिनों तक बाहर रह कर काम नहीं करने दिया। सन् १९३९ में उन्हें ६ महीने के लिए जेल में डाल दिया गया।

सन् १९४० में वह युद्ध-विरोधी प्रचार और बम्बई के मज़दूरों की हड़तालों का संगठन करते रहे। एक बार फिर उनको जेल में डाल दिया गया।

सन् १९४३ में वह जेल से छूटे, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। सन् १९४५ में वह विश्व मज़दूर संघ के अधिवेशन में शामिल हुए और उसके उपाध्यक्ष के पद पर चुने गये। उन्होंने सोवियत संघ और योरप के जनवादी देशों का कई बार भ्रमण किया है।

१९४८ में कांग्रेसी सरकार ने उन्हें फिर जेल में बन्द कर दिया। और जुलाई १९५० में कांग्रेसी सरकार को मजबूर होकर उन्हें रिहा करना पड़ा। इन्हीं दो वर्षों के जेल-जीवन में उन्होंने इस महत्वपूर्ण पुस्तक की रचना की।

डांगे भारतीय इतिहास और मार्क्सवादी साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान माने जाते हैं। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रमुख नेताओं में उनका स्थान है।